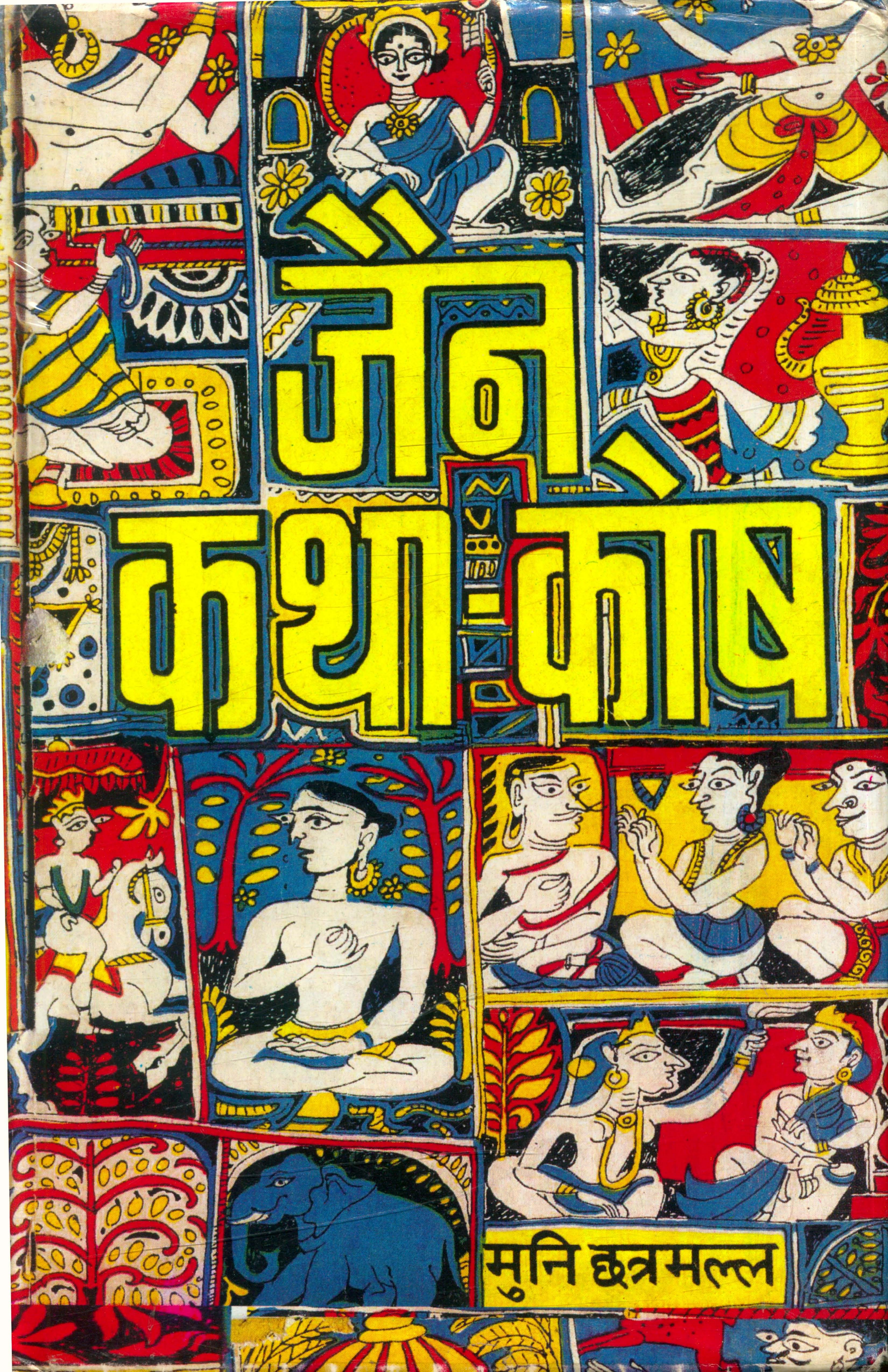
जैन
कथा-कोष
मुनि छत्रमल्ल

जैन कथा कोष

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

जैन कथा कोष

मुनि छत्रमल्ल

© आदर्श साहित्य संघ, नई दिल्ली

जैन कथा कोष

लेखक : मुनि छत्रमल्ल

सम्पादक : मुनि नगराज

प्रबन्धक : कमलेश चतुर्वेदी

प्रकाशक : आदर्श साहित्य संघ
210, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली–110002

संस्करण : सन् 2010

मूल्य : एक सौ साठ रुपये

मुद्रक : आर–टेक आफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली–110032

JAIN KATHA KOSH
by **Muni CHHATRMALL** **Rs. 160.00**

उन वीतराग परम आत्मा को
जिनका पवित्र चरित्र
प्रत्येक आत्मा के कल्याण-पथ का
सम्बल बनता है।

स्वतः

बचपन से ही कथा-साहित्य में मेरी विशेष रुचि है। अब तक अपने स्वयं के उपयोग एंव स्मरणार्थ जो बहुबिध कथा-कहानियां-चुटकुले संकलित किये होंगे, लिखे होंगे, इसका सही लेखा-जोखा तो नहीं, पर अनुमानतः तीन हजार से कुछ अधिक ही हैं।

जैसे नदी का निर्मल जल और सूर्य का प्रखर प्रकाश सार्वजनिक होता है। इसमें देश, काल, पात्र आदि का भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही कथा-कहानी में किसी परम्परा, मत या सम्प्रदाय की कोई भेद-रेखा खींचना सम्भव नहीं है। कथा का कथ्य स्वयं में एक बीता हुआ सत्य होता है, प्रेरणा होती है, जीवन का कुछ अनुभव और कुछ आदर्श होता है, इसलिए उसकी समग्रता जीवनव्यापी हो जाती है।

पाठक पूछेंगे—फिर इस कथा कोष का नाम '**जैन कथा कोष**' क्यों रखा गया है?

प्रश्न ठीक है। उत्तर सिर्फ इतना ही है कि जल जिस प्रकार स्वरूप में एक होते हुए भी अपने उद्गम-स्थान की अपेक्षा से विभिन्न नामें से पुकारा जाता है—गंगोत्री से उद्भूत होने वाली गंगा का जल 'गंगाजल', यमुनोत्री की धारा में प्रवाह-मान यमुना का जल 'यमुनाजल', सरोवर के रूप में स्थिर जल 'सरोवर जल' और भूमिगत निर्झर से प्राप्त होने वाल 'कूप-जल' कहा जाता है, वैसे ही साहित्यिक स्रोत (उद्गम-स्थल) की दृष्टि से ही जैनकथा-साहित्य, बौद्धकथा-साहित्य, वैदिक-कथा-साहित्य आदि नामों से पहचाना जाता है। उद्गम स्रोत, किंचित् दृष्टिकोण व उद्देश्य की गहनता के कारण ही पूर्व के विशेषण हैं, बाकी जीवनधर्मिता की दृष्टि से ये कथाएं आज भी सार्वजनीन, सार्वदेशीय है।

जैनाचार्यों ने कथा-साहित्य पर बहुत ही गहन व विस्तारपूर्वक विवेचना की है, और सर्जना भी की है। अकथा, विकथा और कथा—ये तीन भेद

बताकर कथा को उपादेय तथा शेष को हेय बताया है। उपादेश्य कथा के भी विषय, शैली, पात्र, भाषा आदि के आधार पर अनेकानेक भेद-उपभेद किये गये हैं। विषय की दृष्टि से अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रकथा—चार प्रकार की कथा है।

धर्मकथा के आक्षेपिणी कथा, विक्षेपिणी कथा, संवेदना कथा और निर्वेदनी कथा—ये चार भेद हैं।

शैली की दृष्टि से पांच प्रकार हैं—सकलकथा, खण्डकथा, उल्लावकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा। पात्रों की दृष्टि से भी दिव्यकथा, स्त्रीकथा, मानुषकथा, मित्रकथा आदि भेद बताये हैं।

जैनाचार्यों ने कथा सिर्फ समय गुजारने या मात्र मनोरंजन के लिए नहीं लिखी, उनके सामने कथा में धर्म, तत्त्वज्ञान, व्रत, उपवास, संयम, ज्ञान, कर्म-फल-भोग आदि का मर्मोद्घाटन कर जीवनदर्शन स्पष्ट करने का उद्देश्य रहा है। इन कथाओं में नीति, सदाचार, परोपकार, सेवा, तप, क्षमा, दया, त्याग आदि की विविध भंगिमाएं छिपी हैं, साथ ही सामाजिक एवं राजनीतिक आदर्श, व्यवहार और परम्परा, रूढ़ि आदि का भी स्वस्थ-स्पष्ट चित्रण है। इसलिए मैं कह सकता हूं कि जैन मनीषियों ने जिस विपुल कथा-साहित्य की सर्जना की है, उसका उद्गम उदात्त जैन चिन्तन है, और प्रवाह आर्दशोन्मुखी है। जैन कथाओं में घटना-बहुलता भी है, साथ ही पात्रों के आन्तरिक जगत्—भावलोक का निर्मल दर्शन भी है। आज का कहानीकार जहां पात्रों के मनोविश्लेषण एवं अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में ही अपनी सफलता मानता है, वहां प्राचीन जैन कथाकार पात्र को सिर्फ निमित्त मानकर उसका जीवन-दर्शन स्पष्ट करता है। उनकी अवतारणा अध्यात्म, नीति व रदाचार के नियमों की परिपुष्टि व सामाजिक-राजनीतिक विशुद्धि को लक्ष्य में रखकर की गई है। जैन कथा की यही अपनी विशेषता व मौलिकता है, जो उसे अन्य कथा-साहित्य से कुछ विशिष्ट बनाती है।

रचना की दृष्टि से भी जैन कथा-साहित्य अत्यन्त समृद्ध व विशाल है। छोटे-बड़े हजारों कथा-ग्रन्थों का पुष्पहार जैन साहित्य-श्री को अलंकृत कर रहा है। कथा-कोश की परम्परा भी जैन-साहित्य में काफी प्राचीन है। कुछ प्रसिद्ध कोशों के नाम यहां सूचित करना चाहूंगा—

बृहत्कथा कोश (आचार्य हरिषेण)—रचना वि. सं. 955

कथा कोश (प्रभाचन्द्र)–रचना वि. सं. 1100 लगभग

कथा कोश प्रकरण (जिनेश्वर सूरि)–रचना वि. सं. 1108

कथा कोश (जिनेश्वर सूरि)–रचना वि. सं. 1108

आख्यानक मणिकोश (देवेन्द्र गणि/नेमिचन्द्र सूरि)–रचना वि. सं. 1129

कथा कोश (भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति-शुभशीलगणि)–रचना वि. सं. 1509

इसी श्रृंखला में धर्मदासगणिकृत-उपदेशमाला, जयसिंह सूरिकृत-धर्मोपदेश माला, आचार्य हरिभद्र कृत-उपदेशपद (स्वोपज्ञवृत्ति आदि), श्री लक्ष्मीविजय कृत उपदेश प्रासाद (पांच भाग) गिने जा सकते हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र कृत 'त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र' स्वयं एक महान् चरित्र-कोश है, जिसमें सैकड़ों जैन चरित्रों का सांगोपांग वर्णन है।

इसके अतिरिक्त मूल आगमों में–ज्ञाता सूत्र, अन्तगड सूत्र, निरयावलिया आदि तथा इनकी व उत्तराध्ययन आदि आगमों की टीका, चूर्णि एवं भाष्यों में भी हजारों-हजार लघु-वृहत्कथाएं अंकित हैं।

आवश्यक निर्युक्ति, चूर्णि और आवश्यक कथा को तो जैन कथाओं का आगार ही कहा जा सकता है। अस्तु।

जैन कथा-साहित्य का अधिकतर भाग प्राकृत-संस्कृत-अपभ्रंश में है। इसके बाद गुजराती व राजस्थानी भाषा में भी विपुल जैन कथा-संग्रह एवं स्फुट चरित्र, रास, चौपी, आदि मिलते हैं। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के चतुर्थाचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने तो इस दिशा में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया–'उपदेश कथारत्न कोष' के रूप में। यह महान् कृति अभी तक अप्रकाशित है, पर इसमें हजारों छोटी-बड़ी कथाओं का सुन्दर संकलन है। राजस्थानी जैन-साहित्य की यह एक अमूल्य निधि कही जा सकती है।

उपर्युक्त साहित्य के आलोक में देखें तो राष्ट्रभाषा हिन्दी में अब तक बहुत कम प्रयत्न हुआ है। जो कुछ कथा-साहित्य निकला है, वह अच्छा है, फिर भी पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। मैं भी इस दिशा में प्रयत्नशील था। जब श्रद्धेय महाप्रज्ञ जी महाराज एवं अन्य साथी संतों के सामने यह

कथा-कोष रखा तो सभी ने इसकी उपयोगिता बताते हुए इसके क्रम और श्रम को सराहा।

प्रस्तुत जैन कथा कोष—जैन कथा सागर की एक बूंद या घट मात्र ही कहा जा सकता है। सम्पूर्ण जैन कथा सागर का आलोड़न व संदोहन तो वर्षों की लम्बी साधना व हजारों-हज़ार पृष्ठों की अपेक्षा रखता है। किन्तु इस दिशा में प्रयत्नशील व रुचिशील जिज्ञासुओं के लिए यह कथा-कोष एक वीथि का कार्य अवश्य करेगा। इसमें जहां तक प्राप्त हुए हैं, प्रत्येक कथानक का सन्दर्भ/प्रमाण देने का प्रयत्न किया गया है, ताकि जिज्ञासु उसके उद्गम-स्रोत से भी परिचय कर सकें। मुझे आशा और विश्वास है कि कथा-साहित्य के क्षेत्र में मेरा यह प्रयत्न मित्र दृष्टि से देखा जायेगा।

इसके सम्पादन/सन्दर्भ लेखन आदि में मेरे भ्रातृव्य सेवाभावी मुनि नगराजजी ने जो श्रम किया है, वह उनकी कर्मठता व कथा-रुचि का ही सुफल है। आशा है, पाठकों के लिए यह उपयोगी सिद्ध होगा।

मैं परम आराध्य आचार्यप्रवर के आशीर्वाद तथा मुनि नगराजजी और मोहनलालजी 'सुजान' की निर्नाम सेव और शान्त सहवास से अस्वस्थता में भी स्वस्थता को अनुभव करता हुआ कुछ क्षणों का उपयोग कथा-कोष के निर्माण में कर सका, इसका मुझे बहुत-बहुत आत्मतोष है।

—मुनि छत्रमल्ल

जैन भवन,
हांसी (हरियाणा)

सम्पादकीय

अपने विद्यार्थीकाल में भी जब-जब मैं कोई कथा पढ़ता, प्रवचन आदि में कोई कहानी सुनता या किसी पत्र-पुस्तक में कहानी देख लेता तो उसे तुरन्त अपनी नोटबुक में या पन्नों में लिख लेता। इसी रुचि से मेरे पास कथा-साहित्य का अच्छा संग्रह तैयार हो गया।

मेरे परम उपकारी श्रद्धेय मुनि श्री सोहनलालजी स्वामी का स्मरण आज बरबस हो आता है। जब मैं उनके सान्निध्य में बैठकर पुरानी चौपी, रास, काव्य-आगम आदि पढ़ता था, वे उसका विवेचन करते समय कथा में कथा की कलियां खोलते जाते और मैं मन्त्रमुग्ध सुनता जाता और फिर तुरन्त ही लिख लेता। इसी प्रकार मुनिश्री छत्रमल्लजी भी जब बाहर से राज में (आचार्यश्री के पास) पधारते, तो मैं सबसे पहले पूछता–'मेरे लिए क्या लाये हैं?' और वे मुझे नयी लिखी हुई कथाएं देकर कहते–'यह लो, तुम्हारे लिए ये कहानियां, यह व्याख्यान का मसाला लाया हूं।'

इस कथा-रुचि के फलस्वरूप ही मुनिश्री छत्रमल्लजी द्वारा संकलित कथा-संग्रह को 'कथा कल्पतरु' के तीन भाग को आकर मिला, और अब भी दो-तीन भाग की साम्रगी अवशिष्ट है। इसी के साथ मुनिश्री की प्रेरणा व मार्गदर्शन से 'जैन-कथा कोष' के सम्पादन का सौभाग्य मिला, इसकी मुझे परम प्रसन्नता है।

यह सम्पादन है तो वैसे ईख को मिश्री से मीठा करने जैसा ही, पर मैं कहां तक सफल हो पाया हूं, यह तो पाठकों के हाथ में है। इसमें कथाएं न होकर जीवन-चरित्र हैं, जो प्रायः प्रचलित हैं, पर उनके सन्दर्भ/उद्गमस्थल खोजने का कार्य बहुत कठिन। किन्तु कथा के साथ सन्दर्भ होने से उसके ऐतिहासिक स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है तथा उस सूत्र के सहारे अन्य स्रोत भी खोजे जा सकते हैं। संदर्भ देने में मुझे श्रीचन्द सुराना का भी आत्मीय सहयोग मिला है, जो वर्षों से जैन कथा साहित्य का अध्ययन-अनुशीलन

कर रहे हैं तथा साथ ही जो कुशल सम्पादन-कला-प्रवीण, कलम और मेधा के धनी हैं।

इसकी प्रतिलिपि तैयार करने में सत्यवीर गोयल (हांसी) तथा सुरेन्द्र कुमार मित्तल (हिसार) का श्रम भी मेरे श्रम को बंटाने वाला रहा।

मुझे विश्वास है, पाठक इस संग्रह से लाभान्वित होंगे।

—मुनि नगराज

जैन श्वेताम्बर तेरापंथ भवन
हांसी (हरियाणा)

अनुक्रम

१. अकम्पित गणधर १
२. अग्निभूति गणधर १
३. अगड़दत्त मुनि १
४. अचल बलदेव ४
५. अचलभ्राता गणधर ४
६. अजितनाथ भगवान् ५
७. अजित सेन ६
८. अंजना सती ७
६. अट्टणमल्ल १०
१०. अतिमुक्तक कुमार (मुनि) १२
११. अतिमुक्तक मुनि (उग्रसेन पुत्र) १३
१२. अंतूकारी भट्टा १४
१३. अदीनशत्रु १६
१४. अनन्तनाथ भगवान १७
१५. अनाथी मुनि १८
१६. अंबड संन्यासी १६
१७. अभग्गसेन चोर २०
१८. अभयकुमार २१
१६. अभिनन्दन भगवान २३
२०. अभीचिकुमार २४
२१. अयवंती सुकुमाल २५
२२. अरणिक मुनि २६
२३. अरनाथ भगवान २७
२४. अरिष्टनेमि भगवान २८
२५. अर्जुनमाली ३१
२६. अर्हन्नक ३२
२७. अषाढ़भूति आचार्य ३३
२८. अषाढ़भूति मुनि ३५
२६. आनन्द (बलदेव) ४०
३०. आनन्द श्रावक ४०
३१. आर्द्रककुमार ४१
३२. आर्यरक्षित ४४
३३. आराम शोभा ४६
३४. इन्द्रभूति (गौतम गणधर) ५१
३५. इलाचीकुमार ५३
३६. इक्षुकार-कमलावती ५६
३७. उग्रसेन ५७
३८. उज्झितकुमार ५८
३६. उदयन (वासवदत्ता) ६०
४०. उदायन राजर्षि ६१
४१. ऋषभदेव भगवान ६२
४२. कनकमंजरी (चित्रकार कन्या) ६५
४३. कपिल मुनि ६६
४४. करकंडु (प्रत्येकबुद्ध) ६६
४५. कलावती ७३
४६. कयवन्ना शाह (कृतपुण्य) ७४
४७. कछुआ की कथा ८१
४८. कामदेव (श्रमणोपासक) ८२
४६. कार्तिक सेठ ८३
५०. कुंडकौलिक श्रमणोपासक ८५

५१. कुन्ती (रानी) ८६
५२. कुन्थुनाथ भगवान ८८
५३. कुबेरदत्त (अठारह नाते) ८६
५४. कुलपुत्र महाबल ६२
५५. कूणिक राजा ६५
५६. कूरगडुक मुनि ६८
५७. कूलबालुक मुनि १००
५८. कृष्ण वासुदेव १०३
५६. केशरी (सामायिक) १०५
६०. केशी स्वामी १०८
६१. केसरिया मोदक १०६
६२. कैकेयी १११
६३. कौशल्या ११३
६४. कंस ११४
६५. खंधक कुमार (स्कंदक) ११५
६६. खंधक (स्कंदक) परिव्राजक ११८
६७. खंधक मुनि ११६
६८. गर्गाचार्य १२१
६६. गजसुकुमार १२२
७०. गर्दभाली मुनि १२५
७१. गोशालक १२६
७२. चण्डकौशिक १२६
७३. चण्डप्रद्योत १२६
७४. चण्डरुद्राचार्य १३२
७५. चन्दनबाला १३४
७६. चन्दन-मलयागिरि १३७
७७. चन्द्रप्रभु भगवान १४१
७८. चिलातीपुत्र १४२
७६. चित्त-ब्रह्मदत्त १४५
८०. चुलनीपिता १५०
८१. चुल्लशतक १५२
८२. चेटक १५३
८३. चेलना १५४
८४. जमाली १५६
८५. ज़म्बूस्वामी १५८
८६. जयघोष १६०
८७. जय चक्रवर्ती १६१
८८. जयन्ती श्रविका १६१
८६. जशोभद्र १६२
६०. जितशत्रु राजा और सुबुद्धि मंत्री १६३
६१. जिनरक्षित-जिनपाल १६४
६२. जीर्ण सेठ १६७
६३. जुट्ठल श्रावक १६८
६४. ढंढण मुनि १६६
६५. तामली तापस १७०
६६. तेतली-पुत्र १७२
६७. त्रिपृष्ठ वासुदेव १७४
६८. त्रिशलादेवी १७५
६६. थावर्चा पुत्र १७५
१००. दत्त वासुदेव १७७
१०१. दमयन्ती १७८
१०२. दशरथ राजा १७६
१०३. दशार्णभद्र १८१
१०४. दामनक १८२
१०५. द्विपृष्ठ वासुदेव १८६
१०६. द्विमुख (प्रत्येकबुद्ध) १८७
१०७. दृढ़प्रहारी १८८
१०८. देवानन्दा १६०
१०६. द्रौपदी १६१
११०. धन्ना अनगार १६४
१११. धन्यकुमार (धनजी) १६५
११२. धर्मनाथ भगवान् १६८

११३. धर्मरुचि तपस्वी १६६
११४. नगगति २०१
११५. नमिनाथ भगवान् २०२
११६. नमिराज २०३
११७. नमि-विनमि २०७
११८. नल राजा २०८
११६. नारद मुनि २११
१२०. निम्बक २११
१२१. निषधकुमार २१२
१२२. नन्दन बलभद्र २१४
१२३. नन्दन मणिकार २१४
१२४. नंदिनीपिता (श्रमणोपासक) २१६
१२५. नन्दीवर्धन २१७
१२६. नंदीषेणकुमार २१८
१२७. नंदीषेण मुनि २१६
१२८. पद्मप्रभु भगवान् २२२
१२६. पार्श्वनाथ भगवान् २२३
१३०. पुण्डरीक-कंडरीक २२५
१३१. पुरुषपुंडरीक वासुदेव २२७
१३२. पुरुषसिंह वासुदेव २२८
१३३. पुरुषोत्तम वासुदेव २३०
१३४. पुष्पचूला (सती) २३१
१३५. प्रद्युम्नकुमार २३२
१३६. प्रदेशी राजा २३५
१३७. प्रभव स्वामी २४२
१३८. प्रभावती २४३
१३६. प्रभास गणधर २४४
१४०. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि २४४
१४१. बहुपत्रिका देवी २४५
१४२. बृहस्पतिदत्त २४७
१४३. बंकचूल २४८
१४४. ब्राह्मी-सुन्दरी २५१
१४५. भरत-बाहुबली २५२
१४६. भाविनी-कर्मरेख २५४
१४७. भोजकवृष्णि.अन्धकवृष्णि २५६
१४८. मघवा चक्रवर्ती २५६
१४६. मधुबिन्द २५७
१५०. मरीचिकुमार २५८
१५१. मरुदेवी माता २६०
१५२. मल्लिकुमारी के छह मित्र २६१
१५३. मल्लिनाथ २६४
१५४. महापद्म (चक्रवर्ती) २६८
१५५. भगवान् महावीर २७०
१५६. महाशतक २७४
१५७. मुनिसुव्रत स्वामी २७६
१५८. मृगापुत्र २७७
१५६. मृगालोढा २७६
१६०. मृगावती २८१
१६१. मेघकुमार २८४
१६२. मेतार्य गणधर २८६
१६३. मेतार्य मुनि २८७
१६४. मौर्यपुत्र गणधर २६०
१६५. आर्य मंगूसूरि २६१
१६६. मंडितपुत्र गणधर २६२
१६७. यवराजर्षि २६३
१६८. रहनेमि-राजीमती २६७
१६६. राम-लक्ष्मण २६६
१७०. रावण ३००
१७१. रुक्मिणी ३०१
१७२. रेवती ३०३
१७३. रोहिणी ३०३
१७४. रोहिणेय चोर ३०५
१७५. वरुण ३०७
१७६. वायुभूति गणधर ३०७

१७७. वासुपूज्य भगवान् ३०८
१७८. विजय-विजया ३०६
१७६. विमलनाथ भगवान् ३१०
१८०. व्यक्त गणधर ३११
१८१. शकट कुमार ३१२
१८२. शान्तिनाथ भगवान् ३१३
१८३. शालिभद्र ३१४
१८४. शिवराज ऋषि ३१७
१८५. शिवा ३१८
१८६. शीतलनाथ भगवान् ३१८
१८७. शंख-पोखली ३१६
१८८. श्रीदेवी ३२१
१८६. श्रीपाल-मैनासुन्दरी ३२१
१६०. श्रेणिक राजा ३२३
१६१. श्रेयांसकुमार ३२५
१६२. श्रेयांसनाथ भगवान् ३२६
१६३. सकडालपुत्र ३२७
१६४. सगर चक्रवर्ती ३३०
१६५. सनतकुमार चक्रवर्ती ३३१
१६६. समुद्रपाल मुनि ३३३
१६७. सात निन्हव ३३४
१६८. सालिहीपिता ३४१
१६६. साहसगति ३४२
२००. सीता ३४३
२०१. सुकोशल मुनि ३४५
२०२. सुदर्शन सेठ ३४६
२०३. सुधर्मा स्वामी (गणधर) ३४६
२०४. सुपार्श्वनाथ भगवान् ३५०
२०५. सुबाहुकुमार ३५१
२०६. सुभद्रा ३५२
२०७. सुभूम चक्रवर्ती ३५५
२०८. सुमतिनाथ भगवान् ३६०
२०६. सुरादेव ३६१
२१०. सुलस ३६३
२११. सुलसा ३६४
२१२. सुविधिनाथ भगवान् ३६७
२१३. संगमदेव ३६८
२१४. संभवनाथ भगवान् ३७०
२१५. स्थूलभद्र ३७१
२१६. स्वयंभू वासुदेव ३७३
२१७. हरिकेशी मुनि ३७४
२१८. हरिराजा ३७६
२१६. हरिसेन चक्रवर्ती ३७७
२२०. हस्तिपाल राजा ३७७

परिशिष्ट : १

बीस विहरमान तीर्थंकर ३८१

परिशिष्ट : २

तीर्थंकरों तथा अन्य चरित्रों से सम्बन्धित प्रमुख बातें ३८६

सन्दर्भ—ग्रन्थ-सूची ३६५

१. अकम्पित गणधर

'अकम्पित' मुनि भगवान् महावीर के आठवें गणधर थे। ये 'विमलापुर' के रहने वाले ब्राह्मण जाति के थे। इनके पिता का नाम 'देव' तथा माता का नाम 'जयन्ती' था। ये अनेक विद्याओं में निष्णात थे। एक बार ये इन्द्रभूमि के साथ 'अपापा नगरी' में 'सोमिल' ब्राह्मण के यहाँ यज्ञ करने गये। 'नरक है या नहीं' इनके मन में यह सुगुप्त शंका थी। इस शंका का निवारण भगवान् ने किया; क्योंकि उनका समवसरण भी अपापा के बाह्य भाग में था। शंका मिट जाने के उपरान्त ये भगवान् महावीर के पास अपने ३०० शिष्यों सहित दीक्षित हुए। ये ४६ वर्ष की प्रौढ़ावस्था में संयमी बने। ५८वें वर्ष में इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई तथा ७८वें वर्ष में इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

—आवश्यकचूर्णि

२. अग्निभूति गणधर

'अग्निभूति' भगवान् महावीर के दूसरे गणधर थे। ये 'गोबर' गाँव के निवासी 'वसुभूति' विप्र के आत्मज और माता पृथ्वी के अंगजात थे। वैसे ये इन्द्रभूति के छोटे भाई थे। उन्हीं के साथ सोमिल ब्राह्मण के यहाँ यज्ञ करने अपापा नगरी गये। 'कर्म है या नहीं' इस शंका का समाधान भगवान् महावीर से पाकर अपने ५०० छात्रों सहित संयमी बने। उस समय इनकी आयु ४७ वर्ष की थी। ५६ वर्ष की आयु में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और ७४ वर्ष की आयु में एकमासिक अनशनपूर्वक वैभारगिरि पर इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

—आवश्यकचूर्णि

३. अगड़दत्त मुनि

अवन्ती जनपद में 'उज्जयिनी' नाम की समृद्ध नगरी थी। वहाँ राजा 'जितशत्रु' राज्य करता था। उसके सारथी का नाम 'अमोघरथ' था। अमोघरथ की पत्नी का नाम 'यशोमती' और उसके पुत्र का नाम 'अगड़दत्त' था।

अगड़दत्त के पिता का देहान्त बचपन में ही हो गया था। इसीलिए वह 'कौशाम्बी' में अपने पिता के मित्र और सहपाठी 'दृढ़प्रहारी' के पास सारथी विद्या सीखने गया। वहाँ से शिक्षा प्राप्त करके जब अगड़दत्त उज्जयिनी लौटा और राजा जितशत्रु से मिला तथा अपना परिचय दिया तो राजा ने कहा—'तुम्हारी शिक्षा हिंसाप्रधान है, इसमें कोई विशेषता नहीं है। सच्ची शिक्षा तो महाव्रतों का पालन ही है।'

इतने में जनपद के निवासियों ने आकर प्रार्थना की—'महाराज ! हम लोग एक चोर से बहुत दु:खी हैं। हमें चोर के आतंक से मुक्त कराइये।'

इस पर अगड़दत्त ने चोर को पकड़ने का प्रण कर लिया। उसने चोर को ठिकाने लगा दिया। उसके गुप्त स्थान का पता लगाया, जहाँ उसने चोरी का धन रखा था और प्रजा का कष्ट मिटाया।

कौशाम्बी-निवासी 'यक्षदत्त' गृहपति की पुत्री 'श्यामदत्ता' के साथ उसका विवाह हुआ। कौशाम्बी से वह 'उज्जयिनी' अपनी पत्नी के साथ रथ में बैठकर जा रहा था। मार्ग में उसे एक सार्थ मिला। वे दोनों सार्थ के संग हो लिये। इसी सार्थ में एक परिव्राजक भी आ मिला। अगड़दत्त परिव्राजक की चेष्टाओं से समझ गया कि यह कोई धूर्त, ठग और चोर है। मार्ग में उस परिव्राजक ने सार्थ वालों को विष-मिश्रित खीर खिलाई। परिणामस्वरूप सभी काल के गाल में समा गये। लेकिन अपनी सावधानी के कारण अगड़दत्त और श्यामदत्ता बच गये। अगड़दत्त के साथ संघर्ष में परिव्राजक मरण-शरण हो गया।

इसी प्रकार मार्ग में बाघ, सर्प, अर्जुन चोर पर विजय प्राप्त करके अगड़दत्त श्यामदत्ता से साथ उज्जयिनी पहुँच गया और राजा की सेवा करते हुए सुख से रहने लगा।

एक बार राजाज्ञा से उद्यान में उत्सव मनाया गया। उस उत्सव में अगड़दत्त भी अपनी पत्नी श्यामदत्ता के साथ सम्मिलित हुआ। लेकिन श्यामदत्ता को नाग ने डस लिया। वह अचेत हो गई। अगड़दत्त को अपनी पत्नी श्यामदत्ता से बहुत प्यार था। इसलिए वह अपनी पत्नी के शव के पास बैठा आधी रात तक आँसू बहाता रहा। उसी समय आकाश-मार्ग से दो विद्याधर निकले। उन्हें अगड़दत्त पर दया आ गई। वे भूमि पर उतरे और विद्याबल से श्यामदत्ता को निर्विष कर दिया। अगड़दत्त ने उनका बहुत उपकार माना।

उस समय रात आधी से अधिक हो चुकी थी। इसलिए अगड़दत्त ने शेष रात्रि वहीं उद्यान में बने देवकुल के पास ही व्यतीत करने का निर्णय किया। लेकिन रात्रि की कालिमा को कम करने तथा शीत से बचने के लिए अग्नि की आवश्यकता होती है। इसलिए वह पत्नी श्यामदत्ता को वहीं बिठाकर श्मशान से अंगारे लेने चल दिया, जिससे रात्रि प्रकाश के सहारे व्यतीत की जा सके।

जब अगड़दत्त श्मशान से अंगारे लेकर लौटा तो उसे देवकुल में प्रकाश दिखाई दिया। तब उसने पत्नी से पूछा—'देवकुल में प्रकाश कैसा है?' पत्नी ने कह दिया कि 'आपके हाथ की अग्नि की परछाईं है।' अगड़दत्त ने उस पर विश्वास कर लिया। रात उन दोनों ने वहीं व्यतीत की और सुबह अपने घर लौट आये।

एक दिन अगड़दत्त के घर दो मुनि गोचरी हेतु आये। उसने उन्हें आहार से प्रतिलाभित किया। इसके कुछ देर बाद दूसरे दो मुनि आये। उसने उन्हें भी आहारदान दिया। तत्पश्चात् तीसरे दिन दो मुनि आये, उन्हें भी उसने प्रासुक आहार बहराया। इसके बाद वह उद्यान पहुँचा, उनकी देशना सुनी और फिर पूछा—'आप छहों मुनि समान रूप वाले हैं, आयु भी आपकी कम है, फिर आपने इतनी छोटी उम्र में वैराग्य क्यों ले लिया?'

उन मुनियों ने बताया—विंध्याचल के सन्निकट 'अमृतसुन्दरा' नाम की चोर पल्ली है। वहाँ 'अर्जुन' नाम का चोर सेनापति था। हम छहों अर्जुन के छोटे भाई हैं। एक बार एक युवक अपनी पत्नी के साथ रथ में बैठकर उधर से निकला। उसने अर्जुन चोर यानि हमारे भाई को मार गिराया। हम छहों उसका पता लगाते हुए उज्जयिनी आ गये। उस दिन उद्यान में उत्सव था। वह युवक भी अपनी पत्नी के साथ उत्सव में आया। लेकिन उसकी पत्नी को सर्प ने काट लिया। वह मूर्च्छित हो गई। वह युवक अपनी पत्नी के मूर्च्छित शरीर के पास बैठा आधी रात तक रोता रहा। इतने में दो विद्याधर आकाश-मार्ग से उधर आ निकले। उन्होंने उसकी पत्नी को निर्विष कर दिया। वह रात्रि व्यतीत करने के लिए पत्नी को वहीं छोड़कर श्मशान से अंगारे लेने चला गया।

हमें उसी युवक की तलाश थी। हम छहों भाई भी उद्यान में पहुँच चुके थे। हम पाँचों तो देवकुल में तथा इधर-उधर छिप गये थे और अपने छोटे भाई पर उसे मारने का उत्तरदायित्व डाल दिया था। उसने उस युवक की पत्नी को

धमकी दी कि 'मैं तुझे तथा तेरे पति दोनों को मार डालूँगा।'

उस स्त्री ने घबराकर कहा—'मैं ही अपने पति को मार दूँगी, पर तुम मुझे मत मारना।'

यह सुनकर हमारा छोटा भाई आश्वस्त हो गया और देवकुल के अन्दर चला आया। वह हाथ के दीपक को ढक भी नहीं पाया था कि वह युवक आ गया। उसने अपनी पत्नी से पूछा भी कि 'देवकुल में प्रकाश कैसा है?' तो उसने बहाना बना दिया कि आपके हाथ की अग्नि की परछाईं है।

फिर वह युवक अपनी तलवार अपनी पत्नी के हाथ में देकर आग सुलगाने लगा। पत्नी ने उसे मारने के लिए तलवार उठाई। इतने में ही हमारे छोटे भाई का हृदय द्रवित हो गया कि 'स्त्री का हृदय कितना क्रूर होता है कि जो पति उसके शव पर बैठा आधी रात तक रोता रहा, उसी को वह किस निर्दयता से मारने को तैयार है। यह सोचकर उसने उस स्त्री के तलवार वाले हाथ पर प्रहार किया। तलवार उसके हाथ से छूटकर गिर गई। उस युवक ने अपनी पत्नी से फिर पूछा—'क्या हुआ?' उसने फिर बहाना बना दिया—'घबराहट में तलवार हाथ से छूट गई।'

—वसुदेव हिंडी पीठिका
—धम्मिल हिंडी

४. अचल बलदेव

'अचल' पोदनपुर के महाराज 'प्रजापति' के पुत्र तथा माता 'भद्रा' के आत्मज थे। ये ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथ के समय में पहले बलदेव बने। भगवान् महावीर का जीव पूर्वजन्म में त्रिपृष्ठ नाम के वासुदेव के रूप में इनका छोटा भाई था। इनकी संपूर्ण आयु ८५ लाख वर्ष की थी। जीवन के अन्तिम समय *में त्रिपृष्ठ की मृत्यु के बाद इन्होंने संयम लिया और कैवल्य प्राप्त कर मुक्त हुए।*

—त्रिशष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ४, सर्ग १

५. अचलभ्राता गणधर

'अचलभ्राता' भगवान् महावीर के नौवें गणधर थे। ये 'कौशांबी' नगरी के निवासी 'वसु' ब्राह्मण के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'नन्दा' था। ये भी

'सोमिल' के यज्ञ में गये थे। 'पुण्य और पाप' के सम्बन्ध में अपनी गुप्त शंका का समाधान भगवान् महावीर से पाकर अपने ३०० शिष्यों के साथ इन्होंने संयम स्वीकार किया। इन्होंने ४७ वर्ष की आयु में दीक्षा ली तथा ५६ वर्ष की आयु में केवलज्ञान प्राप्त कर ७२ वर्ष की आयु में मोक्ष प्राप्त किया।

६. अजितनाथ भगवान्

सारिणी

जन्म-नगर	अयोध्या		
पिता	जितशत्रु	केवलज्ञान-तिथि	पौष शुक्ला ११
माता	विजया	चारित्र पर्याय	१ पूर्वांग कम १ लाख पूर्व
जन्मतिथि	माघ शुक्ला ८		
कुमार अवस्था	१८ लाख पूर्व	कुल आयु	७२ लाख पूर्व
राज्य-काल	५३ लाख पूर्व, १ पूर्वांग	निर्वाण-तिथि	चैत्र शुक्ला ५
दीक्षा-तिथि	माघ शुक्ला ९	चिन्ह	हाथी[1]

अजितनाथ भगवान् वर्तमान चौबीसी के दूसरे तीर्थंकर हैं। ये विनीता नगरी के महाराज 'जितशत्रु' के पुत्र थे। आप महारानी 'विजया देवी' के गर्भ में विजय नामक दूसरे अनुत्तर विमान से च्यवकर वैशाख सुदी १३ को आये। माता ने चौदह स्वप्न देखे। माघ सुदी ८ को प्रभु का जन्म हुआ। जब प्रभु गर्भ में थे, तब सारि-पासा के खेल में महाराज से महारानी पराजित नहीं हो सकीं। महराज हैरान रहे। महाराज ने महारानी के अजित रहने का कारण गर्भस्थ शिशु का प्रभाव माना, अतः पुत्र का नाम भी 'अजित' रख दिया। अजितनाथ १८ लाख पूर्व[2] तक कुमार पद पर रहे, ५३ लाख पूर्व और एक पूर्वांग[3] के समय तक राज्य किया। इसके उपरान्त अपने चाचा सुमित्रविजय के पुत्र 'सगर' को राज्य देकर मुनित्व स्वीकार किया। सगर दूसरा चक्रवर्ती बना।

---

१. तीर्थंकरों के चिह्न के बारे में आचार्यों के भिन्न मत हैं। कई तीर्थंकरों के चरण-कमलों में चिह्न मानते हैं और कई वक्षस्थल में।

२. चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणन करने पर जो संख्या आती है, उसे पूर्व कहते हैं, अर्थात् ७०५६०००००००००० वर्ष को पूर्व कहते हैं।

३. चौरासी लाख वर्ष को एक पूर्वांग कहते हैं।

अजितनाथ प्रभु ने १२ वर्ष छद्मस्थ रहकर तपश्चरण किया और फिर केवलज्ञान प्राप्त किया।

आपकी दीक्षा पर्याय १ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व की रही। इस प्रकार आपकी संपूर्ण आयु ७२ लाख पूर्व की थी। आयु का अन्तिम समय जानकर १ हजार साधुओं के साथ एक महीने के अनशन में चैत्र सुदी ५ को मोक्ष पधारे। स्मरण रहे आपके शासनकाल में सभी बातें उत्कृष्ट थीं।

धर्म-परिवार

गणधर	६५	मनःपर्यवज्ञानी	१२,५००
केवली साधु	२२,०००	अवधिज्ञानी	६,४००
केवली साध्वी	४४,०००	पूर्वधर	३,२७०
वादलब्धिधारी	१२,४००	साध्वी	३,३०,०००
वैक्रियलब्धिधारी	२०,४००	श्रावक	२,६८,०००
साधु	१,००,०००	श्राविका	५,४५,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व २

७. अजित सेन

'भद्दिलपुर' के 'नाग' गाथापति की पत्नी का नाम 'सुलसा' था। सुलसा को भी अन्य स्त्रियों की भाँति पुत्र-प्राप्ति की सहज अभिलाषा थी। एक नैमित्तिक ने उसे बताया कि तेरे मृत सन्तान होगी। इसलिए उसने हरिणगमेषी देव की आराधना की। आराधना से प्रसन्न होकर हरिणगमेषी देव उसका संकट मिटाने को तत्पर हो गया। उसने अवधिज्ञान से विचार करके जान लिया कि यद्यपि कंस ने देवकी के सभी पुत्रों को मारने का संकल्प कर लिया है, लेकिन उसके छहों पुत्र पूर्ण आयुष्य वाले हैं। अतः हरिणगमेषी देव ने देवकी के छः पुत्रो का हरण कर 'सुलसा' के यहाँ रखा तथा सुलसा के मृत पुत्रों को देवकी के यहाँ रख दिया। देवकी के छः पुत्र चरम शरीरी होने से कंस के हाथ मरने से बच गये। वे सुलसा के यहाँ पलने लगे। बड़े होने पर उनकी शादी कर दी गई। सारे वैभव को ठुकराकर वे छहों नेमिनाथ प्रभु के पास दीक्षित हुए। उग्रतम तपःसाधना द्वारा सभी कर्मों का नाश किया। उन छहों के नाम हैं— *१. अजितसेन, २. अनिकसेन, ३. अनन्तसेन आदि। छः भाइयों में अजितसेन*

सबसे बड़े थे। बीस वर्ष तक संयम पालन कर एक महीने का अनशन करके शत्रुंजय पर्वत से मोक्ष पधारे।

—अन्तकृद्दशा ८

८. अंजना सती

'अंजना' महेन्द्रपुर के महाराज 'महेन्द्र' की पुत्री थी। इसकी माता का नाम हृदयसुन्दरी था। महाराज 'महेन्द्र' के 'प्रश्नकीर्ति' आदि सौ पुत्र तथा एक पुत्री राजकुमारी 'अंजना' थी। जब रूपवती अंजना के विवाह का प्रसंग आया, तब मन्त्री ने राजा से कहा—'राजन् ! राजकुमारी के लिए बहुत खोज करने पर दो राजकुमार ही समुचित जँचे हैं। एक हैं हिरण्याभ राजा के पुत्र 'विद्युत्प्रभ' तथा दूसरे हैं विद्याधर महाराज प्रह्लाद के पुत्र 'पवनंजय'। दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ विद्युत्प्रभ की आयु केवल अठारह वर्ष की ही शेष है, वह चरमशरीरी भी हैं; वहाँ पवनंजय दीर्घजीवी हैं।

राजा ने दीर्घजीवी और सुयोग्य समझकर 'पवनंजय' के साथ राजकुमारी का सम्बन्ध कर दिया। यथासमय पवनंजय की बारात लेकर महाराज प्रह्लाद वहाँ आ पहुँचे। विवाह में केवल तीन दिन की देरी थी कि एक दिन पवनंजय के मन में अपनी भावी पत्नी को देखने की उत्सुकता जागी। बस, फिर क्या था, अपने मित्र 'प्रहसित' को लेकर 'अंजना' के राजमहलों के पास पहुँचकर दीवार की ओट में छिपकर अंजना को देखने लगे।

उस समय अंजना अपनी सखियों से घिरी बैठी थी। सखियाँ भी अंजना के सामने उसके भावी पति की ही चर्चा कर रही थीं। चर्चा में जब एक सखी पवनंजय की सराहना कर रही थी तो दूसरी विद्युत्प्रभ की प्रशंसा कर रही थी। उस समय अंजना के मुँह से सहसा निकला—'विद्युत्प्रभ को धन्य है जो भोगों को त्यागकर मोक्ष प्राप्त करेगा।' अंजना के ये शब्द पवनंजय के कानों में काँटे-से चुभे। सोचा—हो न हो, यह विद्युत्प्रभ के प्रति आकर्षित है, अन्यथा मेरी अवगणना करके उसकी सराहना क्यों करती? एक बार तो मन में आया कि इसका अभी परित्याग कर दूँ, पर दूसरे ही क्षण सोचा—अभी इसे छोड़कर चला जाऊँगा तो इससे मेरे पिता का वचन भंग होगा, मेरे कुल का अपयश होगा। अच्छा यह रहेगा कि शादी करके मैं इसका परित्याग कर दूँ। यही सोचकर अपने निर्णय को मन-ही-मन समेटे अंजना से विवाह करके अपने नगर में आ गया, पर अंजना के महलों में पवनंजय ने पैर भी नहीं रखा। पति की

पराङ्मुखता से अंजना का व्यथित होना स्वाभाविक ही था, पर वह पवनंजय के रूठने का कारण समझ नहीं पा रही थी। वह सोचती—मेरी ओर से कोई त्रुटि हो गई हो, ऐसा मुझे लगता तो नहीं है। वह बहुत सोचती, किन्तु पति की नाराजगी का कोई कारण उसकी समझ में न आता।

एक बार अंजना के पिता के यहाँ से जेवर, मिष्ठान्न और राजसी पोशाक पवनंजय के लिए आये। अंजना ने वह सामग्री पवनंजय के पास दासी के हाथ भेजी। पवनंजय देखकर आग-बबूला हो उठा। कुछ वस्तुएं नष्ट कर दीं और कुछ वस्तुएं चाण्डालों को देकर अंजना के प्रति आक्रोश प्रदर्शित किया। दासी ने जब आकर सारी बात अंजना से कही, तब उसके दु:ख का पार नहीं रहा। अपने भाग्य को दोष देती हुई और पति के प्रति शुभकामना व्यक्त करती हुई वह समय बिताने लगी। यों बारह वर्ष पूरे हो गये।

एक बार लंकेश्वर 'रावण' ने राजा 'प्रह्लाद' से कहलाया कि इन दिनों 'वरुण' काफी उद्दण्ड हो गया है, उस पर काबू पाना है, अत: आप सेना लेकर वहाँ जाइये। 'प्रह्लाद' जब जाने लगे तब अपने पिता को रोककर 'पवनंजय' स्वयं युद्ध में जाने के लिए तैयार हुए। माता-पिता को प्रणाम कर जाने लगे, परन्तु विदा लेने अंजना के महलों में फिर भी नहीं आये। व्यथित-हृदय अंजना पति को समरांगण में जाते समय शकुन देने के लिए हाथ में दही से भरा स्वर्ण कटोरा लिये द्वार के पास एक ओर खड़ी हो गई। पवनंजय ने जब उसे देखा तब उससे न रहा गया। सभी तरह से अपमानित करता हुआ बुदबुदाया—'अभी कुलटा ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा है। ऐसे समय में भी अपशकुन करने चली आयी।' अंजना आँखों में आँसू बहाती हुई महलों में चली गई, फिर भी पति के प्रति उसने कोई अनिष्ट कामना नहीं की, केवल अपने भाग्य को ही दोष देती रही।

पवनंजय वहाँ से आगे चले। मार्ग में एक वृक्ष के नीचे रात्रि-विश्राम किया। अधिक तनाव होने से रात का पहला प्रहर बीतने पर भी नींद नहीं आ रही थी। लेटे-लेटे करवटें बदलते रहे। उस समय एक चकवा-चकवी का जोड़ा अलग-अलग टहनियों पर आ बैठा था। चकवी अपने साथी के वियोग में बुरी तरह करुण क्रन्दन कर रही थी। उसक दिल बहलाने वाला आक्रन्दन सुनकर पवनंजय के दिल में उथल-पुथल मच गयी। चिन्तन ने मोड़ लिया। सोचा—एक रात के प्रिय-वियोग में ही इस चकवी की यह दशा है तो उस

बेचारी अंजना पर क्या बीतती होगी, जिस निरपराध का बाहर वर्षों से मैंने बिल्कुल बहिष्कार कर रखा है? मेरा मुँह भी उसने पूर्णतः नहीं देखा है। अतः मुझे उससे मिलना चाहिए। पवनंजय ने अपने मित्र प्रहसित से सारी मनोव्यथा कही। मित्र ने भी उसकी पवित्रता में कोई सन्देह नहीं करने को कहा तथा यह भी कहा—'इतना निरादर सहकर भी आपके प्रति कल्याण-कामना लिये शकुन देने आयी, इससे अधिक और उसके सतीत्व का क्या प्रमाण होगा?' मित्र को साथ लेकर पवनंजय छावनी से विद्या-बल द्वारा आकाशमार्ग से चल पड़े और अंजना के महलों में एक प्रहर में ही पहुँच गये। अंजना उन्हें देखते ही हर्षित हो गई। वह खुशी के आँसू बहाने लगी। पवनंजय ने अतीत को भूल जाने के लिए कहा। शेष रात्रि महलो में रहकर पवनंजय प्रातःकाल छावनी में जाते समय अपने हाथ की अंगूठी निशानी के रूप में देकर चले गये।

सात महीने युद्ध में लग गये, पवनंजय वापस नहीं आये। पीछे से अंजना को गर्भवती देखकर उसकी सास केतुमती आग-बबूला हो उठी। उसे व्यभिचारिणी करार दे दिया गया। अंजना ने बहुत विनम्रता से सारी बात कही, पर माने कौन? प्रह्लाद ने देश-निष्कासन का आदेश दे डाला। पवनंजय जब तक नहीं आ जाये, तब तक अंजना ने वहीं रखने को कहा, परन्तु उसकी इस प्रार्थना को भी स्वीकार नहीं किया गया। काले कपड़े पहनाकर काले रथ में बिठलाकर केतुमती ने अंजना को उसके पीहर महेन्द्रपुर की ओर वन में छोड़ आने के लिए सारथी को आदेश दे दिया। सारथी भी उसे जंगल में छोड़ आया।

अंजना महेन्द्रपुर की ओर चली। रास्ते में शुभ-संयोग से एक महामुनि के दर्शन हुए। मुनि ने धैर्य रखने की प्रेरणा दी। अंजना अपनी सखी-तुल्य दासी 'वसंततिलका' को लेकर पीहर की ओर बढ़ी। कष्ट के समय पीहर में आश्रय पाने में अंजना संकोच कर रही थी, पर वसंततिलका के आग्रह से वहाँ पहुँची। काले वस्त्रों में अंजना को देखकर माता-पिता, भाई-भौजाइयाँ, यहाँ तक कि नगर-निवासी भी उसे रखना तो दूर, पानी पिलाने को भी तैयार नहीं हुए। दिन कहकर थोड़े ही बदलते हैं। सभी ने इस निर्णय पर अपने आप को अटल रखा कि ऐसी व्यभिचारिणी से हमारा क्या सम्बन्ध है। इसका तो मुँह भी नहीं देखना चाहिए। उसे वहाँ भी आश्रय नहीं मिला।

अंजना अपने कृतकर्मों को दोष देती हुई अपनी सखी के साथ जंगल में जा पहुँची। वहाँ एक गुफा का आश्रय लेकर धर्मध्यान में अपने दिन बिताने

लगी। गुफा में ही अंजना ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का जन्म होते ही सारी स्थितियों ने मोड़ लिया। हनुपुर का स्वामी राजा प्रतिसूर्य, जो अंजना का मामा था, संयोगवश वहाँ आ पहुँचा। अंजना को विमान में बिठाकर अपने नगर में ले आया। अंजना के पुत्र का नाम रखा—'हनुमान'।

बारह महीनों तक पवनंजय और वरुण का युद्ध चलता रहा। वरुण को परास्त कर विजय-दुन्दुभि बजाते हुए पवनंजय अपने नगर में आये। माता-पिता से मिले, परन्तु अंजना को नहीं देखकर बात का भेद जानना चाहा। बात का भेद जानने पर पवनंजय को भारी अनुताप हुआ। उन्होंने अंजना के न मिलने तक कुछ भी नहीं खाने-पीने की प्रतिज्ञा की। चारों ओर अंजना का पता लगाने के लिए लोग दौड़े। अन्त में हनुपुर नगर से धूमधाम के साथ अंजना को आदित्यपुर नगर में ले आये। सास-ससुर आदि सबने अपने किये हुए कार्य पर अनुताप किया। हनुमान को देखकर सभी पुलकित हो उठे। प्रह्लाद की मृत्यु के बाद पवनंजय महाराज ने अतुल राज्य वैभव का उपभोग किया तथा अन्त में दोनों ने दीक्षा ली और स्वर्गगामी बने।

त्रिषष्टि शलाकापुरूष चरित्र, पर्व ७

६. अट्टणमल्ल

उज्जयिनी नगरी का राजा 'जितशत्रु' मल्लविद्या का बहुत ही प्रेमी था। उसने एक राजकीय मल्लशाला खोल रखी थी। उसमें अनेक मल्ल रहते थे। उनका सरदार अट्टणमल्ल था।

राजा जितशत्रु के समान ही 'सोपारक' नगर का शासक 'सिंहगिरि' भी मल्लयुद्ध का बहुत प्रेमी था। वह भी अनेक मल्लों को पालता था और प्रतिवर्ष मल्ल-महोत्सव कराता था, जिसमें दूर-दूर के मल्लों को आमंत्रित किया जाता था। उसमें सम्मिलित होने वाले मल्ल अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते। विजयी मल्ल को राजा सिंहगिरि ढेर सारा सोना-चाँदी आदि देकर पुरस्कृत करता और उसे एक विजय-पताका भी देता, जो उसके विजेता होने का गौरव-प्रतीक होती। इस मल्ल-महोत्सव में उज्जयिनी का अट्टणमल्ल ही बाजी मार ले जाता।

राजा सिंहगिरि ने सोचा—क्या मेरे राज्य में ऐसा कोई मल्ल नहीं हो सकता जो अट्टण को पराजित करके विजय-पताका प्राप्त कर सके? किसी दूसरे देश

का मल्ल प्रतिवर्ष बाजी मार ले जाये, इसमें तो मेरे देश का गौरव कम हो जाता है। अब वह ऐसे व्यक्ति की तलाश में रहने लगा जिसे मल्ल बनाया जा सके।

एक बार वह नदी-तट पर टहल रहा था। वहाँ उसे एक हृष्ट-पुष्ट मछुआ दिखाई दिया। उसे वह जँच गया। उसने उसे अपनी मल्लशाला में रख लिया। दूध-दही आदि पौष्टिक पदार्थों के सेवन तथा व्यायाम से वह अच्छा मल्ल बन गया। उसका नाम रखा गया—मच्छियमल्ल।

अगले वर्ष के मल्ल-महोत्सव में मच्छियमल्ल ने अट्टणमल्ल को पराजित कर दिया।

अपनी हार से अट्टणमल्ल बड़ा दुःखी हुआ। उसने सोचा—अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ। कोई युवा मल्ल बनाना चाहिए जो मेरे गौरव की रक्षा कर सके। इसी उधेड़बुन में वह उज्जयिनी वापस जा रहा था, तभी मार्ग में सौराष्ट्र देश का 'दुरुल्लकुतिया' नाम का गाँव पड़ा। उसने देखा कि एक हृष्ट-पुष्ट नवयुवक किसान अपने एक हाथ में हल और दूसरे में फलिह लिये चला जा रहा है। उसे वह जँच गया। उसने उससे बातचीत की। युवक किसान मल्ल बनने को राजी हो गया। अट्टणमल्ल ने उस किसान की पत्नी को धन आदि देकर उसके घर की व्यवस्था की और युवा किसान को अपने साथ ले आया। उज्जयिनी आकर उसने इसे नये मल्ल को तैयार किया और नाम रखा—फलिहमल्ल। फलिहमल्ल साल-भर में मल्ल-विद्या के सभी दाव-पेंच सीखकर कुशल मल्ल बन गया।

अगले वर्ष पुनः सोपारक नगर में मल्ल-महोत्सव हुआ। अट्टणमल्ल अपने नये शिष्य फलिहमल्ल के साथ पहुँचा। मच्छियमल्ल भी राजकीय सम्मान के साथ आया। मच्छियमल्ल और फलिहमल्ल की कुश्ती शुरू हुई, दोनों ने अनेक प्रकार के दाव-पेंच दिखाये। सुबह से शाम तक दोनों में से कोई नहीं हारा। दूसरे दिन फिर कुश्ती होने का निर्णय हुआ।

रात के समय अट्टण ने फलिह से पूछा—'बेटा ! तेरे शरीर में कहीं दर्द हो तो बता दे।' फलिह ने भी कुछ न छिपाकर अपने गुरु को सरल भाव से साफ-साफ बता दिया। अट्टण ने सहस्रपाक आदि तेलों की मालिश करके उसे पुनः तरोताजा बना दिया।

उधर मच्छियमल्ल से भी राजा ने पूछा—'तेरा शरीर कहीं दुखता हो तो बता दे?' लेकिन मच्छियमल्ल ने अभिमान में भरकर कह दिया कि 'मेरा शरीर

बिल्कुल भी नहीं दुखता। मुझे मालिश की कोई जरूरत नहीं है।'

दूसरे दिन फिर फलिहमल्ल और मच्छियमल्ल की कुश्ती हुई। फलिहमल्ल तो तरोताजा बन चुका था, लेकिन मच्छियमल्ल का शरीर जगह-जगह से दुख रहा था। उसका सारा शरीर दर्द के कारण सुस्त हो रहा था। फलिहमल्ल ने शीघ्र ही उसे परास्त कर दिया।

परिणामस्वरूप फलिहमल्ल को राजा सिंहगिरि ने भी खूब इनाम दिया और विजय-पताका भी दी। जब वह विजयी होकर उज्जयिनी पहुँचा तो वहाँ भी राजा-प्रजा ने उसका खूब सम्मान किया।

इसी प्रकार सरल चित्त से जो अपने दोषों को न छिपाकर गुरु को साफ-साफ बता देते हैं, वे लौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में सफल होते हैं, जैसे फलिहमल्ल हुआ।

—धर्मोपदेश माला, विवरण, कथा १४६
—उत्तराध्ययन टीका

१०. अतिमुक्तक कुमार (मुनि)

'अतिमुक्तक' पोलासपुर के महाराज 'विजय' के पुत्र तथा माता 'श्रीदेवी' के आत्मज थे। अभी उनकी बाल्यावस्था ही थी। एक दिन कुमार चौक में खेल रहे थे, उस समय उन्होंने भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी को भिक्षार्थ उधर से जाते देखा। जैन मुनि को देखकर कुमार ने साश्चर्य पूछा—आप कौन हैं? कहाँ जा रहे हैं? गौतम स्वामी ने कहा—हम जैन मुनि हैं, भिक्षा लेने जा रहे हैं। कुमार ने अपने घर चलने की प्रार्थना की, प्रार्थना ही नहीं अपितु गौतम स्वामी की अंगुली पकड़कर अपने घर ले आया। राजमहल से भिक्षा लेकर गौतम स्वामी जब उद्यान में भगवान् महावीर के पास जाने लगे तब अतिमुक्तक भी साथ आया। प्रभु के दर्शन किये, उपदेश सुना और संयम लेने के लिए तैयार हो गया। माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर साधु बन गया।

एक बार अतिमुक्तक बाल-मुनि शौचार्थ गये और वहाँ बहते हुए पानी को देखकर अपने श्रमणत्व को भूल गये। दोनों ओर मिट्टी से पानी पर पाल बाँधकर अपनी पात्री उसमें छोड़ दी। पात्री को जल में तैरती देखकर कुतूहल से बाँसों उछलने लगे और जोर-जोर से पुकारने लगे—मैं तैरता हूँ, मेरी पात्री (नाव) तैरती है। आवाज सुनकर इधर-उधर से स्थविर मुनि आये और उनको

उलाहना दिया। उन्हें प्रभु के पास लाकर नाव की सारी कहानी सुनाई और पूछा—'आपके इस बाल-मुनि के कितने भव शेष हैं? प्रभु ने उनसे कहा—'यह बाल-मुनि इसी भव में मोक्ष जाने वाला है, इसकी निन्दा मत करो, बल्कि इसकी भक्ति करो।'

अतिमुक्तक मुनि ने अपना स्वरूप सँभाला और किये हुए दोष की आलोचना की। संयम-पथ पर बढ़ते-बढ़ते ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। अन्त में गुणरत्न संवत्सर नामक तप करके विपुलगिरि पर्वत पर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पधारे।

—अन्तकृद्दशा सूत्र
—भगवती ४।८

११. अतिमुक्तक मुनि (उग्रसेन पुत्र)

वसुदेवजी कंस के शिक्षा-गुरु थे और उस पर पुत्रवत् स्नेह रखते थे। उन्होंने ही उसे अस्त्र-शस्त्र विद्या सिखाई थी तथा अन्य कलाओं का भी ज्ञान कराया था। जब सिंहरथ को वसुदेव ने वश में किया और उसकी विजय का यश कंस को दे दिया; तब कंस का राजा जरासंध की पुत्री से विवाह हो गया और उसे मथुरा का राज्य भी मिल गया। इस घटना से तो कंस वसुदेवजी के उपकार से दब ही गया। कंस ने मुत्तिकावती के राजा देवक, जो उसका काका लगता था, की पुत्री देवकी से वसुदेवजी का विवाह करा दिया।

इस विवाह की खुशी में मथुरा दुल्हन की तरह सज गई। चारों ओर आमोद-प्रमोद मनाये जाने लगे। नगरी में रास-रंग का वातावरण था। कंस-पत्नी जीवयशा ने छककर शराब पी और नशे में झूमने लगी।

उसी समय अतिमुक्तक मुनि गोचरी-हेतु आये। अतिमुक्तक संसारी नाते से राजा उग्रसेन के पुत्र और कंस के छोटे भाई थे। जब कंस ने उग्रसेन को बन्दी बना कर मथुरा का सिंहासन छीना तब इस घटना से दुःखी होकर वे प्रव्रजित हो गये और घोर तपस्या के कारण उन्हें अनेक लब्धियाँ भी प्राप्त हो गई थीं। मुनि अतिमुक्तक (देवर) को देखकर जीवयशा भान भूल गई। उसे नशे में देखकर मुनिश्री वापस मुड़ने लगे तो वह दरवाजे में अड़ गई और उनसे शराब पीकर नाचने-गाने का आग्रह करने लगी। मुनि तो क्षमा के सागर थे। उन्होंने बहुत प्रयास किया कि वे बचकर निकल जाएं, लेकिन मदान्ध जीवयशा ने उन्हें

निकलने नहीं दिया, आमोद-प्रमोद मनाने का आग्रह करती रही। तब मुनिश्री ने गंभीर वाणी से कह दिया—'जिसके निमित्त यह उत्सव हो रहा है, उसी का सातवाँ पुत्र तुम्हारे पति का काल होगा।'

यह सुनते ही जीवयशा का नशा हिरन हो गया और मुनि अतिमुक्तक बाहर निकल गये।

उस समय तो परिस्थितिवश मुनि अतिमुक्तक के मुख से ऐसे शब्द निकल गये, लेकिन बाद में उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने इस वचन-दोष की सम्यक् आलोचना की और तपस्या करके उसी भव में मुक्त हुए।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८

१२. अंतूकारी भट्टा

अवन्ती नगरी में धन नाम का श्रेष्ठी निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम कमलश्री था। कमलश्री ने आठ पुत्रों के बाद एक पुत्री को जन्म दिया। आठ पुत्रों के बाद पुत्री होने से माता-पिता को बहुत खुशी हुई। आठों भाई फूले न समाये। श्रेष्ठी ने उसका नाम भट्टा रखा। भट्टा पिता को इतनी प्यारी थी कि उसने सबसे कह दिया—'इसे कोई 'तू' कहकर नहीं पुकारेगा। इसलिए उसका नाम अतूंकारी भट्टा पड़ गया।

माता-पिता और भाईयों के लाड़-प्यार में अतूंकारी भट्टा बढ़ने लगी। उसने स्त्रियोचित ६४ कलाएँ पढ़ीं। उसका रूप रति-रंभा जैसा था। लेकिन अतिशय लाड़-प्यार से उसके अन्दर अहंकार का दुर्गुण प्रवेश कर गया था। वह अपनी ओर से किसी को 'तू' कहती नहीं थी और किसी से 'तू' सुनना भी नहीं चाहती थी। साथ ही वह चाहती थी कि सभी उसकी आज्ञा का पालन करें। यद्यपि वह किसी को अनुचित आज्ञा नहीं देती थी, लेकिन अपनी आज्ञा की अवहेलना भी नहीं सह सकती थी। यह दुर्गुण उसमें आयु के साथ-साथ बढ़ता गया।

अतूंकारी भट्टा युवती हो गई। माता-पिता उसके विवाह की चिन्ता में लगे और योग्य वर की खोज करने लगे। इस बात से भट्टा भी अनजान नहीं थी। उसने माता से स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'मैं विवाह उसी वर के साथ करूंगी, जो मेरी आज्ञा का पालन करेगा।' ये बात लोक-रीति के विरुद्ध थी। माता ने उसे बहुत समझाया लेकिन वह अपनी हठ पर अड़ी रही। आखिर माता-पिता

चुप हो गये। उसकी यह हठ सम्पूर्ण नगरी में विख्यात हो गई, इसलिए कोई उसके साथ विवाह करने को राजी नहीं हुआ। परिणामस्वरूप काफी समय तक वह कुंवारी ही रही, लेकिन फिर भी उसने अपनी हठ नहीं छोड़ी।

उसकी इस हठ की चर्चा नगर-नरेश जितशत्रु के कानों तक पहुँच गई। उन्होंने यह बात अपने सुबुद्धि नाम के मन्त्री से कही। विचित्रता उत्सुकता की जननी होती ही है। मन्त्री सुबुद्धि अतूंकारी के साथ विवाह करने को उत्सुक हो गया। शुभ मुहूर्त में दोनों का विवाह हो गया।

एक दिन अतूंकारी ने अपने पति से कहा—'आप राज्यसभा विसर्जित होते ही सीधे घर आ जाया करें। आपका देर से आना मुझे सहन नहीं होता।'

मन्त्री अब जल्दी ही घर आने लगा। एक दिन राजा से विचार-विमर्श में काफी देर हो गई, यहाँ तक कि आधी रात हो गई। आधी रात के बाद ही मन्त्री अपने घर पहुँचा। आज्ञा की अवहेलना से अतूंकारी तो भरी बैठी ही थी। उसने पति के लिए दरवाजा खोला और स्वयं बाहर निकल गई। पति ने उसे मनाने का बहुत प्रयास किया, लेकिन उसने उसकी एक न सुनी।

वह क्रोध से भरी हुई जंगल में चली जा रही थी कि उसे चोरों का गिरोह मिल गया। चोरों ने उसे पकड़कर पल्लीपति के सुपुर्द कर दिया। पल्लीपति ने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा, लेकिन वह पतिव्रता थी। उसने स्पष्ट शब्दों में इन्कार कर दिया। पल्लीपति ने पहले उसे प्यार से समझाया और फिर भयंकर त्रास दिये, पर अतूंकारी टस से मस न हुई। निराश होकर पल्लीपति ने उसे एक रक्त व्यापारी के हाथ बेच दिया। रक्त व्यापारी उसका रक्त निकालकर बेचने लगा। इससे भट्टा पंजर मात्र रह गयी।

इस भयंकर वेदना से अतूंकारी का हृदय परिवर्तन हो गया। वह समझ गई कि क्रोध ही मनुष्य का सबसे प्रबल शत्रु है। उसने क्रोध का त्याग करके क्षमा धारण कर ली। अब वह क्षमा की मूर्ति बन गई।

एक बार उसका भाई उस नगरी में पहुँच गया, जहाँ वह रक्त व्यापारी अतूंकारी का रक्त निकालकर बेचा करता था। भाई ने बहिन को पहचान लिया और बहन ने भाई को। भाई उसे अपने साथ ले आया। अब अतूंकारी अपने पति की अनुगामिनी बनकर रहती और बिल्कुल भी क्रोध नहीं करती थी।

उसकी क्षमाशीलता की प्रशंसा देवराज इन्द्र ने अपनी सभा में की तो एक देव मुनि का वेश रखकर उसकी परीक्षा लेने आया। उसने लक्षपाक तेल माँगा।

अतूंकारी की आज्ञा से उसकी दासी लक्षपाक तेल का घड़ा लेकर आयी। लेकिन देव ने अपनी माया से वह घड़ा फोड़ दिया। तदुपरान्त एक के बाद एक इस प्रकार तीन घड़े देव ने अपनी माया से फोड़े। इतनी कीमती वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी अतूंकारी को तनिक भी क्रोध न आया। तब देव ने अपना रूप प्रकट किया, कंचन की वर्षा की और उसकी क्षमाशीलता की प्रशंसा करता हुआ चला गया।

—उपदेशमाला : धर्मदासगणि

१३. अदीनशत्रु

अदीनशत्रु कुरुदेश के हस्तिनापुर नगर का राजा था। पूर्व भव में यह राजा महाबल का मित्र था। इसका नाम उस भव में वैश्रमण था। इसने भी राजा महाबल के साथ दीक्षा ली थी और उग्र तप किया था। संयम के प्रवाह से यह अनुत्तरोपपातिक विमान में उत्पन्न हुआ था और वहाँ से च्यवकर हस्तिनापुर का राजा अदीनशत्रु बना था।

राजा महाबल का जीव मिथिला के राजा कुंभ के यहाँ मल्लिकुमारी (उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ) के रूप में उत्पन्न हुआ था।

कुंभ राजा का मल्लदिन्न नाम का एक पुत्र था। उसने अपने महल के बगीचे में अनेक स्तम्भों से सुशोभित एक सभामंडप बनवाने का विचार किया। सभामंडप के स्तम्भों को चित्रों से सुसज्जित करने के लिए अनेक चित्रकार लगा दिये गये। उनमें से एक चित्रकार विशेष प्रतिभाशाली था। वह किसी व्यक्ति के शरीर के एक ही अंग को देखकर ऐसा सजीव चित्र बना सकता था कि देखने वाला चकित रह जाये, और यह भेद न कर सके कि वह चित्र देख रहा है अथवा वह व्यक्ति स्वयं ही खड़ा है।

चित्रकार तो सौन्दर्य-प्रेमी होते ही हैं। सुन्दरता को चित्रित करना उनका स्वभाव होता है। उस चित्रकार को भी एक बार मल्लिकुमारी के पैर का अगूंठा दिखाई दे गया। इस पर से उसने मल्लिकुमारी का चित्र ही स्तंभ पर बना दिया।

मल्लदिन्न जब सभामंडप की साज-सज्जा देखने आया तो मल्लिकुमारी के चित्र को देखकर चकित रह गया। उसने इसे चित्रकार की गुस्ताखी समझा और उसे प्राणदण्ड का आदेश दे दिया। यह दण्ड सुनकर अन्य चित्रकारों और

प्रजाजनों ने मल्लदिन से प्रार्थना की—यह चित्रकार बिल्कुल निर्दोष है। इसने राजकुमारी को नहीं देखा। यह तो इतना प्रतिभाशाली है कि पैर का अगूंठा देखकर ही व्यक्ति का चित्र बना सकता है। इस पर मल्लदिन ने उस चित्रकार का अंगूठा काटकर उसे देश-निकाले की सजा दे दी।

चित्रकार वहाँ से चलकर हस्तिनापुर पहुँचा। वहाँ उसने मल्लिकुमारी का चित्र बनाकर राजा अदीनशत्रु को दिखाया। अदीनशत्रु मल्लिकुमारी के प्रति आकर्षित हो गया। उसने इस सन्देश के साथ अपना दूत मिथिला भेजा कि राजकुमारी मल्लि का विवाह मेरे साथ कर दिया जाये; लेकिन कुंभ राजा ने उसके दूत को तिरस्कृत कर लौटा दिया।

इसके बाद राजा अदीनशत्रु ने अन्य राजाओं के साथ मिलकर मिथिला को घेर लिया।

लेकिन मल्लिकुमारी से प्रतिबोध पाकर इसने दीक्षा ग्रहण कर ली और तप करके मोक्ष गया।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१४. अनन्तनाथ भगवान

सारिणी

१.	जन्म-नगर	अयोध्या
२.	माता	सुयशा
३.	पिता	सिंहसेन
४.	जन्म-तिथि	वैशाख कृष्णा १३
५.	कुमार अवस्था	७,५०,००० वर्ष
६.	राज्यकाल	१५,००,००० वर्ष
७.	दीक्षा तिथि	वैशाख बदी १४
८.	केवलज्ञान	वैशाख बदी १४
६.	चारित्र पर्याय	७,५०,००० वर्ष
१०.	निर्वाण तिथि	चैत सुदी ५
११.	कुल आयु	३०,००,००० वर्ष

भगवान् 'अनन्तनाथ' अयोध्या नगरी के महाराज सिंहसेन के पुत्र थे। महारानी 'सुयशा' के उदर में श्रावण बदी ७ के दिन प्राणत (दसवाँ) देवलोक

से आये। वैशाख बदी १३ को प्रभु का जन्म हुआ। जिस समय पुत्र का जन्म हुआ, उस समय अयोध्या नगरी शत्रुओं से घिरी हुई थी। उस अमित बल वाली शत्रु-सेना को 'सिंहसेन' ने सहज में हरा दिया। महराज ने इस अप्रत्याशित विजय की श्रेय का हेतु अपने नवजात शिशु को माना। इसलिए पुत्र का नाम रखा 'अनन्तजित'। पिता को सन्तुष्ट करने के लिए युवावस्था में कुमार अनन्तजित ने विवाह भी किया और राजसिंहासन पर बैठकर प्रजा का पालन भी किया।

वर्षीदान कर एक हजार राजाओं के साथ वैशाख बदी १४ को संयम स्वीकार किया। तीन वर्ष तक छद्मस्थ रहकर वैशाख बदी १४ को कैवल्य प्राप्त किया। अन्त में सम्मेद शिखर पर एक मास के अनशन में सात हजार साधुओं के साथ चैत्र सुदी ५ को मोक्ष पधारे।

अनन्तनाथ जैन परम्परा के चौदहवें तीर्थंकर थे।

धर्म-परिवार

गणधर	५०	वादलब्धिधारी	३,२००
केवली साधु	५०००	वैक्रियलब्धिधारी	८,०००
केवली साध्वी	१०,०००	साधु	६६,०००
मन:पर्यवज्ञानी	५०००	साध्वी	१,००,८००
अवधिज्ञानी	४३००	श्रावक	२,०६,०००
पूर्वधर	१०००	श्राविका	४,१४,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१५. अनाथी मुनि

अनाथी कौशाम्बी नगरी के 'धन-संचय' नामक सेठ के पुत्र थे। इनका नाम 'गुणसुन्दर' था। माता-पिता के लाड़-प्यार में पोषित कुमार का युवावस्था में अनेक सुन्दर नवयुवतियों के साथ विवाह किया गया। सम्पन्न परिवार था, घर में धन के अम्बार थे। सभी प्रकार के सुख का संचार था, फिर भी पूर्वजन्म के दुष्कर्मों के कारण कुमार की आँखों में वेदना शुरू हो गई। वेदना इतनी भयंकर थी कि उसने सारे शरीर पर अपना अधिकार जमा लिया। क्षण-भर का चैन भी कुमार को नहीं मिल रहा था। अभिभावकों ने पैसे को पानी की तरह बहाया, वैद्यों से चिकित्सा करवाई परन्तु 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता ही

गया' वाली उक्ति सिद्ध हुई। सारे उपचार बेकार सिद्ध हुए। कुमार अपने-आपको अनाथ-असह्य मानने लगा। उसी मर्मान्तक वेदना में चिन्तन करते-करते अनाथी ने संकल्प किया—'यदि मेरी वेदना मिट जाये तो मैं प्रातःकाल साधु बन जाऊँगा।' संकल्प में शक्ति होती ही है। उसी बल पर वेदना रात्रि को ही शान्त हो गई। अनाथी को रोग-मुक्त देखकर सभी पुलकित हो उठे। माता-पिता, पत्नी आदि को सारा वृत्तान्त बताकर और उनकी आज्ञा लेकर आपने मुनिव्रत स्वीकार किया।

अनाथी मुनि विहार करते-करते राजगृही के मण्डीकुक्षी उद्यान में ध्यानस्थ बैठे थे। वहाँ महाराज श्रेणिक भ्रमण हेतु आए, लेकिन मुनिश्री का रूप-लावण्य देखकर आश्चर्यचकित हो उठे और मुनि का परिचय जानना चाहा। श्रेणिक उस समय तक बौद्ध थे। उन्होंने मुनिश्री से उनके दीक्षा लेने का कारण पूछा। मुनिश्री ने बताया—'मैं अनाथ हूँ।' इस उत्तर से राजा श्रेणिक ने अनुमान लगाया कि मुनिश्री का संरक्षण करने वाला कोई नहीं है और अपने आपको अनाथ समझकर साधु बने हैं। तब वह स्वयं उनका नाथ बनने को तैयार हुआ और अपने राज्य में चलने के लिए कहा। अनाथी मुनि ने कहा—'तू स्वयं ही जब अनाथ है, तब मेरा नाथ कैसे बनेगा?' यह सुनकर राजा चौंका। मुनिश्री ने आगे कहा—'धन-सम्पत्ति के बल पर तुम यदि नाथ बनना चाहते हो तो वैभव की कमी तो मेरे घर में भी नहीं थी।' रहस्य का उद्घाटन करते हुए मुनिश्री ने अपनी सारी आपबीती कह सुनाई, साथ ही यह भी बताया कि संयम लेने मात्र से कोई नाथ नहीं हो जाता है—वह भी वैसा ही अनाथ है जो व्रतों के साथ अठखेलियाँ करता है।

श्रेणिक प्रबुद्ध हुआ और जैन-धर्म को स्वीकार कर अपने महल को लौट आया।

अनाथी महानिर्ग्रन्थ कर्मक्षय कर मोक्ष में गये। मुनिश्री 'अनाथी' के नाम से ही जैन-जगत् में अति विश्रुत हुए।

—उत्तराध्ययन, २०

१६. अबड संन्यासी

अंबड नाम का एक संन्यासी था। वह बेले (२ दिन) का व्रत करता था। संन्यासी होते हुए भी श्रावक के बारह व्रतों का पालन करता। तप के बल से

उसे वैक्रियलब्धि, अवधिज्ञान-लब्धि तथा सौ घरों का भोजन पचा सके, ऐसी लब्धि भी प्राप्त हो गई थी। वह अपनी वैक्रियलब्धि से एक ही समय में १०० घरों का भोजन प्राप्त कर सकता था और अलग-अलग सौ स्थानों पर एक ही समय में दिखाई दे सकता था। उसके तपोजन्य ऋद्धि प्रभाव से आकर्षित होकर उसके सात सौ शिष्य बन गये।

एक बार अंबड अपने सात सौ शिष्यों के साथ गंगा नदी पार करके कंपिलपुर नगर से पुरिमताल नगर जाने के लिए चल पड़ा। गर्मी अधिक थी। सभी रास्ता भूलकर भयंकर जंगल में जा पहुँचे। पास में जो पानी था, वह समाप्त हो गया। सभी प्यास से व्याकुल हो उठे। यद्यपि गंगा नदी पास में बह रही थी, वे सचित जल भी पी सकते थे, पर कोई वस्तु वे तब ही लेते थे जब कोई उन्हें आज्ञा देने वाला हो अर्थात् वे अदत्त वस्तु नहीं ले सकते थे। आज जंगल में पानी लेने की आज्ञा देने वाला कोई नजर नहीं आ रहा था। कुछ देर तो इधर-उधर देखते रहे, जब कोई आता नजर नहीं आया तो ये सारे प्यास से व्याकुल हो बैठे। प्राण-पखेरू शीघ्र ही उड़ जायेंगे, ऐसा लग रहा था। तब सभी ने उस नदी के रेत में बिछौना बिछाकर भगवान् महावीर की वन्दना की और अनशन स्वीकार कर लिया। मन-ही-मन अपने पूर्वकृत्यों की आलोचना की और संथारा ग्रहण कर लिया। थोड़े ही समय में सब-के-सब कालधर्म को प्राप्त होकर पंचम स्वर्ग में पैदा हुए। अंबड भी पाँचवें स्वर्ग में पैदा हुआ। वहाँ से महाविदेहक्षेत्र में उत्पन्न होकर मुक्त होगा।

—औपपातिक सूत्र

१७. अभग्गसेन चोर

पुरिमताल नगर में 'महाबल' नाम का राजा था। उस नगर से थोड़ी दूर पर एक चोर पल्ली थी। गुफाओं और पर्वतों के बीच में आ जाने से वह स्थान अत्यधिक भयावह हो गया था। उस चोर पल्ली का मुखिया विजय चोर ५०० चोरों का स्वामी था।

वह महा अधर्मी था। लोगों को लूटना और नृशंसता से गाँवों को जलाना आदि उसका प्रतिदिन का कार्य था। उसके पुत्र का नाम था अभग्गसेन, जो क्रूरता में अपने पिता से भी बहुत बढ़-चढ़कर था। 'अभग्गसेन' पुरिमताल की प्रजा को बहुत पीड़ित कर रहा था। पुरिमतालवासियों ने अपने महाराज

'महाबल' के सामने सारा दुखड़ा रोया। राजा न भी 'अभग्गसेन' को पकड़ने के बहुत प्रयत्न किये, पर उसके सभी प्रयत्न निष्फल रहे। अन्त में राजा ने एक युक्ति निकाली। दस दिन का महोत्सव मनाने की घोषणा की और उसमें अभग्गसेन को भी अपने साथियों सहित आमंत्रित किया। राजा ने अवसर पाकर उन सबको मद्य और माँस खिलाकर बेभान बना दिया। यों बेहोशी में उन्हें पकड़ लिया और शहर में घुमाकर शूली पर चढ़ाने का दण्ड दे दिया।

उधर से भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी भिक्षार्थ जा रहे थे। उसे यों वध-स्थल की ओर जाते हुए देखकर मन में खिन्न हुए। भगवान् महावीर के पास आकर उन्होंने पूछा—'भंते ! इस अभग्गसेन चोर ने क्या पाप किए थे, जिसके कारण यह शूली पर लटकाया जा रहा है?' प्रभु ने कहा—'गौतम ! पूर्वभव में यह इसी नगर में निन्हव नामक वणिक था। अण्डों का बहुत बड़ा व्यापारी था। अण्डों को सेंककर व तलकर खुद भी खाता और दूसरों को भी खिलाता था। एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर उस क्रूर कर्म के कारण तीसरी नरक में गया। वहाँ से निकलकर यह अभग्गसेन चोर हुआ है। यहाँ भी इसके घृणित कार्यों से राजा ने इसकी यह दशा की है। अधिक क्या? आज तीसरे प्रहर में अपनी २७ वर्ष की आयु में मरकर यह प्रथम नरक में जायेगा। वहाँ से निकलकर अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ अन्त में वाराणसी नगरी में एक सेठ के यहाँ जन्म लेगा और वहाँ संयम का पालन कर मोक्ष में जाएगा।'

—**विपाकसूत्र ३**

१८. अभयकुमार

'अभयकुमार' राजगृही के महाराज 'श्रेणिक' की रानी 'नन्दा' का पुत्र था। महाराज श्रेणिक ने अपने पाँच सौ प्रधानों में अभयकुमार को मुखिया बनाया। अभयकुमार अपनी बुद्धिमत्ता, निपुणता व कर्त्तृत्व के बल पर सारी जनता का प्रिय बन गया। अनेक अपराधियों को अपने बुद्धि-कौशल से खोज-खोजकर उसने उन्हें उचित दण्ड दिलवाया और जनता को निश्चिंत बना दिया। धारिणी, चेलणा आदि विमाताओं के दोहद भी अपने तप और युक्ति से पूरे करके उन्हें सन्तुष्ट किया।

वैशाली नगरी के महाराज 'चेटक' की यह प्रतिज्ञा थी कि वे अपनी किसी भी पुत्री की शादी किसी विधर्मी राजा के साथ नहीं करेंगे। महाराज 'श्रेणिक' की इच्छा हुई कि मैं महाराज 'चेटक' की पुत्री 'सुज्येष्ठा' से शादी करूँ। सुज्येष्ठा भी महाराज श्रेणिक के प्रति आकर्षित थी। इस चिन्ता को भी 'अभयकुमार' ने अपनी कुशलता से मिटाने का प्रयत्न किया और 'सुज्येष्ठा' का हरण हो—ऐसा साज-बाज बनाया। लेकिन ऐन वक्त पर सुज्येष्ठा पीछे रह गई और उसके बदले उसकी छोटी बहन चेलणा का हरण हुआ और उसके साथ ही राजा का पाणि-ग्रहण हुआ।

भगवान् महावीर का उपदेश सुनकर अभयकुमार संयम लेने को उत्सुक हुआ और पिता से आज्ञा चाही। महाराज श्रेणिक ने अभयकुमार को राज्य सौंपना चाहा, पर अभयकुमार का आग्रह संयम के लिए ही रहा। तब राजा ने कहा—'जब मैं तुझे 'जा' कह दूँ, तब दीक्षा ले लेना।'

एक बार ऐसा प्रसंग बना कि चेलणा ने उद्यान में एक मुनि को ध्यान में खड़े देखा। रात के समय राजा और रानी सोये हुए थे। सर्दी बहुत अधिक थी। रानी का हाथ कम्बल से बाहर रह गया और ठंड से ठिठुर गया। नींद में ही रानी के मुँह से निकला—'उसका क्या हाल होगा?' राजा चौंका और शंका का शिकार हो गया। राजा सोचने लगा—हो न हो रानी किसी अन्य पुरुष पर मुग्ध है। उसकी चिन्ता के लिए ऐसा कह रही है कि उसका हाल क्या होगा? राजा का मन फट गया और 'अभयकुमार' को प्रातः आदेश दिया कि चेलणा के महलों को जला दो। यों आदेश देकर श्रेणिक भगवान् का उपदेश सुनने चला गया। भगवान ने राजा के संशय को मिटाने के लिए प्रसंगवश कहा—'महाराज चेटक की सातों पुत्रियाँ सती हैं।' यह सुनकर श्रेणिक चौंका और अपने किये पर अनुताप करने लगा।

उधर अभयकुमार ने बहुत ही चातुर्य से काम लिया और महारानी के महलों के पास फूस की झोपड़ियाँ जलाकर प्रभु के दर्शनार्थ चल पड़ा। वह भी इसलिए कि मुनित्व के आदेश प्राप्ति के लिए यही समय सर्वथा उपयुक्त है। उधर समवसरण से लौटते हुए श्रेणिक ने दूर से महलों से उठता धुआँ देखा तो विह्वल हो उठा और सामने से अभयकुमार आता हुआ मिला, तब श्रेणिक ने गुस्से से कहा—'जा रे जा।' अभयकुमार को और क्या चाहिए था? प्रभु के पास पहुँचकर सारी स्थिति कही और संयम धारण कर लिया। पाँच वर्ष

तक संयम का पालन कर विविध तपस्याओं के द्वारा कर्मों के भार को हल्का किया। फिर आयुष्य पूर्ण कर विजय नामक अनुत्तर विमान में पैदा हुआ। वहाँ से महाविदेह में मनुष्य बनकर संयम का पालन करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

महाराज श्रेणिक को अभयकुमार की दीक्षा से एक अमिट आघात लगा; क्योंकि वैसा बुद्धिमान मन्त्री उसको मिलना कठिन था।

जैन परम्परा में आज भी, दीपमालिका के दिन पूजन करते समय बहियों में लिखते हुए याचना की जाती है—'अभयकुमार जैसी बुद्धि।'

—धर्मरत्न प्रकरण

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१६. अभिनन्दन भगवान

सारिणी

जन्म-नगर	अयोध्या	दीक्षा दिन	माघ सुदी १२
पिता	संवर राजा	केवलज्ञान	पौष सुदी १४
माता	सिद्धार्था	चारित्र पर्याय	८ पूर्वांग कम १ लाख पूर्व
जन्म-तिथि	माघ सुदी २	कुल आयु	५० लाख पूर्व
कुमार अवस्था	१२,५०,००० पूर्व	निर्वाण	वैशाख सुदी ८ सम्मेद शिखर
राज्यकाल	३६,५०,००० पूर्व, ८ पूर्वांग	चिन्ह	वानर

अभिनन्दन प्रभु इस चौबीसी के चौथे तीर्थंकर हैं। ये जयंत नामक तीसरे अनुत्तर विमान से आये थे। प्रभु के गर्भ में आते ही सबका अभिनन्दन हुआ, सबको आनन्द हुआ, इसीलिए प्रभु का नाम भी अभिनन्दन रखा गया। युवावस्था में अनेक रानियों के साथ प्रभु का पाणिग्रहण संस्कार हुआ। बहुत लम्बे समय तक राज्य का परिपालन कर प्रभु ने दीक्षा स्वीकार की। १८ वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे। पौष सुदी १४ को केवलज्ञान प्राप्त किया। आयु के अन्त में एक मासिक अनशन पूर्ण कर एक हजार साधुओं के साथ सम्मेद-शिखर पर्वत पर प्रभु का परिनिर्वाण हुआ।

धर्म-परिवार

गणधर	११६	वादलब्धिधारी	११,०००
केवली साधु	१४,०००	वैक्रियलब्धिधारी	१,६००
केवली साध्वी	२८,०००	साधु	३,००,०००

मन:पर्यवज्ञानी	११,६५०	साध्वी	६,३०,०००
अवधिज्ञानी	६,८००	श्रावक	२,८८,०००
पूर्वधर	१,५००	श्राविका	५,२७,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

२०. अभीचिकुमार

अभीचिकुमार वीतभय नगरी के राजा उदायन का पुत्र था। वीतभय नगरी सिन्धु-सौवीर देश की राजधानी थी। राजा उदायन भगवान् महावीर के उपदेश से प्रतिबुद्ध हो गया। उसने दीक्षा ग्रहण करने से पहले सोचा कि राज्य करना तो पाप का कारण है, *साथ ही शासक में दृढ़ता तथा* उचित मात्रा में कठोरता भी होनी चाहिए। अभीचिकुमार सरल और कोमल हृदय वाला है। वह शासन को सही ढंग से नहीं सँभाल सकता, इसलिए उसने अपने भान्जे केशी को सिंहासन दिया, *अभीचिकुमार को नहीं दिया।*

अभीचिकुमार ने अपने पिता की इस भावना को नहीं समझा। अपना अधिकार यानी राज्यसिंहासन न मिलने से वह बड़ा निराश हुआ। उसे पिता पर क्रोध भी आया, किन्तु वह अपने क्रोध को प्रकट न कर सका। केशी के अधीन रहना उसे अपना अपमान लगा। इसलिए उसने वीतभय नगरी छोड़ दी। वहाँ से वह राजगृही आ गया।

राजगृही में उस समय श्रेणिक का पुत्र कूणिक राज्य कर रहा था। कूणिक उसकी मौसी का पुत्र यानी उसका भाई था, क्योंकि कूणिक की माता चेलना और उसकी माता पद्मावती दोनों बहनें थीं।

अभीचिकुमार राजगृही में रहने लगा। वहाँ उसका सम्पर्क जैन-मुनियों से हुआ। मुनियों के प्रभाव से उसने श्रावकव्रत ग्रहण कर लिये और श्रावकधर्म का पालन करने लगा।

आयु के अन्त समय में उसने पन्द्रह दिन का अनशन किया। लेकिन अपने हृदय से पिता के प्रति रोष को न निकाल सका, इस दोष की उसने आलोचना भी नहीं की; और मन में पिता के प्रति क्रोध लिये हुए ही उसने कालधर्म प्राप्त कर लिया। श्रावकव्रतों को पालने के कारण उसे देवगति प्राप्त हुई।

देवगति से च्यवकर वह महाविदेह में उत्पन्न होगा और वहाँ अपने इस पूर्वकृत्य अर्थात् पिता के प्रति रोष की आलोचना करेगा तथा संयम की आराधना करके मुक्त होगा।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १०

२१. अयवंती सुकुमाल

इतिहास-प्रसिद्ध उज्जयिनी नगरी में 'धन' सेठ के यहाँ 'भद्रा' के उदर से एक पुत्र का जन्म हुआ। वह पहले स्वर्ग के नलिनीगुल्म विमान से आया। वह सौभागी तथा सुकोमल था। अतः इसका नाम रखा गया 'अयवंती सुकुमाल'।

युवावस्था प्राप्त कर बत्तीस सुन्दरियों के साथ आमोद-प्रमोद में जीवन व्यतीत कर रहा था। ठीक उसी समय 'आर्य सुहस्ति' नाम के धर्माचार्य उस नगरी में पधारे और अयवंती सुकुमाल के महलों के ठीक नीचे उसकी वाहनशाला में विराजे।

एक दिन आचार्यदेव पश्चिम रात्रि में स्वाध्याय में लीन होकर सस्वर नलिनीगुल्म विमान के अधिकार का स्वाध्याय कर रहे थे। ऊपर सातवीं मंजिल में लेटे कुमार को आचार्यदेव का वह मृदु स्वर बहुत प्रिय लगा। कुछ देर बाद वह नीचे आया और पाठ सुनने लगा। उस वर्णन को सुनते-सुनते उसे जातिस्मरणज्ञान हो गया। अपने पूर्वजन्म को देखा तो पता लगा कि मैं उसी नलिनीगुल्म विमान से यहाँ आया हूँ, जिसका वर्णन आचार्यदेव कर रहे हैं।' उसने विनयपूर्वक पूछा—'प्रभो ! क्या आप भी नलिनीगुल्म विमान से आये हैं?'

बात का भेद खोलते हुए गुरुदेव ने कहा—'मैं वहाँ से नहीं आया हूँ अपितु उस प्रसंग का स्वाध्याय कर रहा हूँ।'

कुमार ने वहाँ पहुँचने का मर्म जानना चाहा। आर्य सुहस्ति ने धर्मोपदेश दिया। उपदेश इतना प्रभावशाली था कि उसे लग गया। माता-पिता, पत्नियों की आज्ञा लेकर मुनिव्रत स्वीकार कर लिया।

मुनिव्रत स्वीकार कर नलिनीगुल्म विमान में कैसे पहुँच सकूँ, बस इसी तड़प को लिये आचार्यश्री से प्रार्थना की—'गुरुदेव ! मैं इस शरीर की कोमलता के कारण अधिक श्रमणाचार के कष्ट सह सकूँ, ऐसा नहीं लगता। अतः मुझे अनशनपूर्वक साधना करने की आज्ञा दीजिए।'

यों साग्रह अनशन स्वीकार करके निर्जन स्थान की ओर चल दिया। मुनि कंथारिका वन (कंटीली झाड़ियों) की ओर बढ़ गया। मार्ग कंटीला था। जिस सुकमाल ने भूमि पर कभी पैर भी नहीं रखा था, वही तीखे काँटों से भरी भूमि पर चलकर श्मशान भूमि में पहुँचा। कायिक कष्टों की अवगणना कर वहाँ ध्यानस्थ हो गया। उस समय एक श्रृगालिनी अपने बच्चों के साथ वहाँ पहुँची

और मुनिश्री के पैर चाटने लगी। पैरों से रक्त निकलने लगा। रक्त के साथ-साथ श्रृगालिनी और उसके बच्चों को माँस का स्वाद भी आने लगा। फिर वह मुनिश्री के पैरों से माँस के टुकड़े तोड़-तोड़कर खाने लगी। पैरों के खाते ही मुनिश्री नीचे गिर गये। यह भी संयोग ही था कि वह श्रृगालिनी मुनि अयवंती सुकुमाल के किसी पूर्वजन्म की पत्नी थी। श्रृगालिनी ने सारा शरीर ही भक्षण कर लिया।

मुनि समता से मृत्यु को प्राप्त कर नलिनीगुल्म विमान में पैदा हो गये। यद्यपि गुरुदेव ने निष्काम तपस्या करने का आदेश दिया था, पर मुनिजी ने नलिनीगुल्म विमान पाने का संकल्प कर लिया था।

दूसरे दिन आचार्य के मुँह से 'भद्रा' ने जब मुनिश्री की रोमांचक साधना का वर्णन सुना, तब वह संसार से उद्विग्न हो उठी। भद्रा स्वयं और इकतीस पत्नियाँ दीक्षित हो गईं। केवल एक पत्नी साध्वी नहीं बनी, क्योंकि वह गर्भवती थी। उसके पुत्र पैदा हुआ। उस पुत्र ने अपने पितृ मुनि के प्रति भक्ति दिखाकर उसी स्थान पर एक प्रतिमा स्थापित की जो आगे चलकर महाकाल प्रासाद के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

—दर्शनशुद्धि प्रकरण

२२. अरणिक मुनि

अरणिक 'तगरा' नगर के सेठ 'दत्त' के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'भद्रा' था। एक बार मित्राचार्य नाम के धर्माचार्य से उपदेश सुनकर पिता, पुत्र और माता—तीनों ही दीक्षित हो गये। 'दत्त' मुनि और 'अरणिक' मुनि दोनों ही पिता-पुत्र साथ-साथ रहते थे। पिता का पुत्र के प्रति वात्सल्य सहज ही होता है। भिक्षा के लिए भी पिता अरणिक मुनि को नहीं भेजते और अन्यान्य कार्य भी उनसे न करवाकर स्वयं कर लेते। यों अरणिक मुनि का पालन पर्याप्त प्यार में हो रहा था। इस दुलार-भरे प्यार नें अरणिक मुनि को अधिक आराम-तलबी बना दिया। कार्यजा शक्ति से आने वाली कष्ट-सहिष्णुता अरणिक मुनि में नहीं आ सकी।

कुछ समय के बाद 'दत्त' मुनि दिवंगत हो गये। अब अरणिक मुनि की भिक्षा लाने की बारी आयी। गर्मी की अधिकता, शरीर की सुकुमारता नया-नया प्रसंग पाकर अधिक खिन्नता पैदा करने वाली बन गई। शरीर पसीने से तरबतर हो रहा है। ऊपर से सिर और नीचे से पैर बहुत बुरी तरह झुलस रहे हैं। यों

घर-घर में पर्यटन करते मुनि एक विशाल अट्टालिका के नीचे कुछ पलों के लिए विश्राम हेतु बैठे। उस विशाल अट्टालिका में रहने वाली गृहस्वामिनी अपने पति-वियोग से व्यथित थी। मुनि को देखते ही उन पर मुग्ध हो गई। दासी द्वारा मुनिश्री को ऊपर बुलवाया और अपने प्रेम-पाश में फँसाने लगी। अपने हाव-भाव दिखाकर भ्रू-विलास के साथ बोली—'मुनिवर ! इस सुकोमल शरीर को यों बर्बरतापूर्वक तिलतिल जलाना कहाँ की समझदारी है? यह बचकानापन सिखाने वाला कौन शिक्षा गुरु मिला? आइये, यह चरण-चेटिका आपके श्रीचरणों मे उपस्थित है। यह वैभव, यह राजसी ठाट-बाट आपके इंगित पर न्यौछावर हैं।' मुनिश्री देखते ही रह गये।

सच है—उद्वेलित और अन्तर्व्यथित मन तनिक-सा प्रलोभन पाकर बहुत जल्दी फिसलता है। मुनिजी गृहवासी बन गये। कंटकाकीर्ण संयम-पथ से आये हुए मुनि ने इस रूपसी की शीतल छाया में सुख की साँस ली।

उधर अरणिक की माता 'भद्रा' साध्वी ने जब अरणिक मुनि को नहीं देखा तब पागल-सी बनी 'अरणिक-अरणिक' की पुकार करती हुई तीन दिनों तक गली-गली में फिरती रही। तीसरे दिन क्रन्दन करती हुई जब उस महल के नीचे से जाने लगी, जिस महल में अरणिक था, उसने माता का क्रन्दन सुनकर बाहर झाँका। अपनी माँ की यह अवस्था देखकर सहसा नीचे उतर आया और माँ के पैरों में गिरकर बोला—'माँ, धैर्य धरो, अरणिक यह रहा।'

अरणिक को देखकर माँ का मानस-पंकज खिलना ही था। माँ के शिक्षा-सूत्रों से अरणिक पुनः प्रबुद्ध हुआ। उस ऐयाशी से उदासी आ गई। पुनः संयम ले लिया। मन में आया-मेरी यह सुकुमारता ही मेरी साधना में बाधक बनी है। अतः अच्छा होगा इस सुकुमारता को ही छोड़ूँ। यही सोचकर चिलचिलाती धूप में अपने आपको आतापना में झोंक दिया। यों कुछ समय तक आतप और तप से अपनी आत्म-शक्ति को प्रदीप्त करके कर्ममल का समूल नाश किया। अन्ततः केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में जा विराजे।

—आवश्यक कथा

२३. अरनाथ भगवान

सारिणी—

जन्म स्थान	गजपुर	दीक्षा-तिथि	मगसिर सुदी ११
माता	देवी	केवलज्ञान	कार्तिक सुदी १२

पिता	सुदर्शन	चारित्र पर्याय	२१,००० वर्ष
जन्म-तिथि	मगसिर सुदी १०	निर्वाण तिथि	मगसिर सुदी १०
कुमार अवस्था	२१,००० वर्ष	कुल आयु	८४,००० वर्ष
राज्यकाल	४२,००० वर्ष	चिन्ह	नन्द्यावर्त्त

अरनाथ प्रभु की माता ने चौदह स्वप्नों के अतिरिक्त चक्र के आरे भी देखे थे। अतः अपने पुत्र का नाम रखा—अरनाथ। युवावस्था में अरनाथ ने अनेक राजकुमारियों के साथ विवाह किया। जब आयुधशाला में चक्र-रत्न पैदा हुआ, तब छः खण्डों के शास्ता बनकर चक्रवर्ती बने। इक्कीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती पद पर रहे। बाद में वर्षी-दान देकर दीक्षा ग्रहण की और केवलज्ञान का उपार्जन करके तीर्थ की स्थापना की—तीर्थंकर बने। एक महीने के अनशन के पश्चात् एक हजार साधुओं के साथ सम्मेद शिखर पर मोक्ष पधारे। यों एक ही जन्म में कर्म-चक्रवर्ती (सातवें) और धर्म-चक्रवर्ती (अठारहवें) के गौरवशाली पद का उपभोग किया।

धर्म-परिवार

गणधर	३३	बादलब्धिधारी	१६००
केवली साधु	२८००	वैक्रियब्धिधारी	७३००
केवली साध्वी	५६००	श्रमण	५०,०००
मनःपर्यवज्ञानी	२५५१	श्रमणी	६०,०००
अवधिज्ञानी	२६००	श्रावक	१,८४,०००
पूर्वधर	६१०	श्राविका	३,७२,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

२४. अरिष्टनेमि भगवान

सारिणी

जन्म स्थान	सोरियपुर		
माता	शिलादेवी	केवलज्ञान	असोज बदी १५
पिता	समुद्रविजय	निर्वाण तिथि	आषाढ़ सुदी ८
जन्म-तिथि	श्रावण सुदी ५	चारित्र पर्याय	७०० वर्ष
कुमार अवस्था	३०० वर्ष	कुल आयु	१,००० वर्ष
दीक्षा-तिथि	श्रावण सुदी ६	चिन्ह	शंख

सोरियपुर के महाराज समुद्रविजय के वंशभास्कर 'अरिष्टनेमि' जैन-जगत् के बाईसवें तीर्थंकर हैं। इनका दूसरा नाम नेमिनाथ भी है, किन्तु ये 'अरिष्टनेमि' के नाम से ही अधिक विश्रुत हैं। ये अपराजित नामक चौथे अनुत्तर विमान से च्यवन करके यहाँ आये। समुद्रविजय के सभी पुत्रों में ये छोटे थे। नवम वासुदेव श्रीकृष्ण इनके चचेरे भाई थे।

'नेमिनाथ' तीर्थंकर होने के कारण अमित बली हैं। बल में श्रीकृष्ण इनसे बहुत पीछे हैं। इस रहस्य का उद्घाटन उस समय हुआ जब प्रभु ने आयुधशाला में जाकर उस दिव्य शंख को सहसा ही फूंक दिया, जिसे श्रीकृष्ण के सिवाय कोई उठा भी नहीं सकता था। पांचजन्य नाम का वह दिव्य शंख प्रभु के घोष का सुयोग पाकर बहुत ही तीव्र घोष में फूटा। सुनने वालों को प्रलय की ध्वनि लगी। 'श्रीकृष्ण' और 'बलभद्र' आदि सभी यादव व द्वारिकावासी इस ध्वनि से विक्षुब्ध हो उठे। जब सारा रहस्य खुला, तब श्रीकृष्ण ने नेमिनाथ के इस अमित बल को दूसरी ओर मोड़ना चाहा। बल के बिखर जाने से भविष्य में श्रीकृष्ण की सत्ता हथियाने को नेमिनाथ की ओर से कोई अनिष्ट कदम न उठ सके—यही सोचकर श्रीकृष्ण ने अपने अन्तःपुर में रानियों को आदेश दिया कि वे किसी प्रकार नेमिनाथ को विवाह करने के लिए तैयार करें। फाग के माध्यम से अन्तःपुर की महारानियों ने नेमिनाथ से विवाह करना स्वीकार करवा लिया। यद्यपि ये लगे तो केवल थूक के चेपे ही थे; पर भावीवश या कौतूहलवश नेमिनाथजी यह सारा नाटक देखते रहे।

सत्यभामा के सुझाव के अनुसार उसकी छोटी बहन 'राजीमती' नेमिनाथजी के लिए जब विधि समुचित कन्या जँची तब श्रीकृष्ण ने स्वयं जाकर अपने श्वसुर श्री उग्रसेन के भाई के लिए कन्या की याचना की और उग्रसेन के कथनानुसार बारात लेकर श्रीकृष्ण वहाँ गये।

अरिष्टनेमि की वह विशाल बारात ज्योंही उग्रसेन के यहाँ विवाह-मण्डप के पास पहुँची, त्योंही वहाँ बाड़ों और पिंजड़ों में बन्द हुए पशु-पक्षियों का करुण क्रन्दन प्रभु को सुनाई दिया। वह करुणामय चीत्कार सुनकर प्रभु चौंके। सारथी से पूछने पर पता लगा कि इन सबको बारातियों के भोजनार्थ यहाँ इकट्ठा किया गया है। ज्यों-ज्यों बारात निकट आ रही है, त्यों-त्यों इन्हें अपनी मृत्यु नजदीक आती-सी लग रही है। बस, इसीलिए ये बेचारे छटपटा रहे हैं।

नेमिनाथजी सारथी की यह बात सुनकर सिहर उठे। सहसा उनका चिन्तन बदला। सारथी से रथ मोड़ने को कहते हुए बोले—'मुझ एक के लिए इतने

अगणित जीवों के प्राण जा रहे हैं। यह कार्य मेरे लिए कदापि उचित नहीं है—भर पाया ऐसे विवाह से। यों कहकर विवाह से विरक्त होकर अपना रथ पुन: द्वारिका की ओर लौटाने का सारथी को आदेश दे दिया।

विवाह किये बिना यों मुड़ते देखकर श्रीकृष्ण, समुद्रविजय, उग्रसेन आदि सभी ने विवाह कर लेने का पुरजोर आग्रह किया। परन्तु प्रभु को तो विवाह करना ही कब था? वे तो यादवों में बढ़ी हुई विलासिता पर तीव्र प्रहार करने के लिए समुचित अवसर की तलाश में थे। जब सभी यादवों ने उन्हें घेर लिया, तब अपना स्पष्ट मन्तव्य बताकर द्वारिका लौट आये। वर्षी-दान देकर हजार राजाओं के साथ मुनिव्रत स्वीकार किया।

तोरण पर पहुँचकर भी करुणा से प्रेरित होकर नौ भव से सम्बन्धित राजुल का परित्याग करके अनूठा आदर्श उपस्थित किया। राजुल को विरह से व्याकुल होना ही था। अन्त में राजुल ने भी वही कर दिखाया जो आर्य कन्याएं बहुधा किया करती हैं।

प्रभु ने दीक्षा ली, उसी दिन उन्हें मन:पर्यवज्ञान तथा चौवन दिन बाद केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। प्रभु के धर्म परिवार में 'वरदत्त' आदि ग्यारह प्रमुख गणधर तथा १८ हजार साधु थे और यक्षा प्रमुख ४० हजार साध्वियाँ थीं। दश दशार्ह आदि प्रमुख श्रावक १,६६,००० तथा शिवादेवी आदि ३,३६,००० प्रमुख श्राविकाएँ थीं। अन्त में ७०० वर्ष तक केवलज्ञान की पर्याय का पालन कर ५२६ साधुओं के साथ गिरिनार पर्वत के ऊपर अनशनपूर्वक मोक्ष पधारे। तीन सौ वर्ष गृहस्थवास तथा सात सौ वर्ष साधु जीवन में बिताकर एक हजार वर्ष आयु पालन किया। जैन सूत्रों में श्रीकृष्ण और नेमिनाथ के अनेक प्रेरक और उद्बोधक जीवन-प्रसंग संकलित हैं।

धर्म-परिवार

गणधर	११	बादलब्धिधारी	८००
केवली साधु	१५००	वैकियलब्धिधारी	१५००
केवली साध्वी	३०००	श्रमण	१८,०००
मन:पर्यवज्ञानी	१०००	श्रमणी	४०,०००
अवधिज्ञानी	१५००	श्रावक	१,६६,०००
पूर्वधर	४००	श्राविका	३,३६,०००

—उत्तराध्ययत २२

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८

२५. अर्जुनमाली

'अर्जुनमाली' ने मगध देश की राजधानी राजगृही में रहने वाला एक माली था। इसकी पत्नी का नाम था बन्धुमती। दोनों पति-पत्नी नगर के बाहर एक बगीचे में रहते थे। उसी बगीचे में 'मुद्गरपाणि' नामक यक्ष का मन्दिर था। अर्जुन अपनी पत्नी के साथ बगीचे से फूल बीनता, बीने हुए फूलों से यक्ष की भक्ति-भाव से पूजा करता और फूलों को ले जाकर नगर में बेच आता। यों वह अपनी आजीविका चलाता था।

एक दिन दोनों ही पति-पत्नी बगीचे में थे। अर्जुन यक्ष की पूजा में लीन था तथा उसकी पत्नी बन्धुमती दूसरी ओर फूल बीन रही थी। इतने में उसी नगर में रहने वाले छः मित्र वहाँ बगीचे में आये। ये छहों वैसे ही दुरात्मा थे। बन्धुमती को देखकर इन पर कामुकता का नशा बुरी तरह छा गया। अपना विवेक वे पूर्ण रूप से खो बैठे। आव देखा न ताव, अर्जुन को उस यक्ष की प्रतिमा से ही बाँधकर बन्धुमती से बलात्कार करने लगे। अपनी स्त्री का यों पतन अपनी आँखों के सामने भला कौन देख सकता है? अर्जुन में आक्रोश बुरी तरह उमड़ पड़ा और लगा यक्ष की प्रतिमा को आड़े हाथों कोसने। रोषारुण होकर कहने लगा—'रे यक्ष ! बचपन से तेरी सेवा करता आया हूँ। तूने मेरी सेवा ही ली, पर बदले में दिया यह पतन, जो एक पशु भी नहीं देख सकता। या तो मेरी सहायता कर अन्यथा...।'

अर्जुन का यों उलाहना सुनकर यक्ष ने अर्जुन के शरीर में प्रवेश किया। तब पौरुष तो बढ़ना ही था। उसने अपने बंधन कच्चे धागे के समान तोड़ दिये और उसी यक्ष की प्रतिमा के हाथ में लगे मुद्गर को लेकर अर्जुन उन छहों की ओर लपका। उन छहों मित्रों को तथा बन्धुमती को समाप्त कर दिया; पर फिर भी अर्जुन का क्रोध शान्त न हुआ। उन्हें मारकर नगर की ओर दौड़ गया। जो भी मिला, उसे मारने लगा। नगर में हाहाकार मच गया। राजा को पता लगते ही नगर के द्वार बन्द करवा दिये गये। अर्जुन हाथ में यक्ष का मुद्गर लिये नगर की चारदीवारी के बाहर घूमता रहता और वहाँ जो भी मिलता, उसे यमलोक पहुँचा देता। यों पाँच महीने तेरह दिन तक यक्षावेष्टित अर्जुन वहाँ घूमता रहा और ११४१ मनुष्यों को समाप्त कर दिया। मरने के भय से नगर से बाहर निकलने की कोई हिम्मत नहीं करता था।

उसी समय भगवान् महावीर वहाँ पधारे। यों राजगृही की सम्पूर्ण जनता तथा राजा श्रेणिक भी भगवान् के दर्शन-वन्दन के इच्छुक थे; परन्तु अर्जुनमाली के आतंक के कारण उनका साहस नगर के द्वार खोलने का नहीं हो रहा था। भगवान् का परम भक्त 'सुदर्शन' सेठ भगवान् के दर्शनार्थ लालायित हो उठा। *'सुदर्शन' सेठ के अन्तर्द्वन्द्व ने बाहर वाले भय की अवगणना* करने पर उसे उतारू कर दिया। अत्याग्रह करके राजा की आज्ञा लेकर नगर से बाहर निकला। अर्जुन ने ज्यों ही देखा, मुद्गर लिये उसकी ओर दौड़ा। सुदर्शन मारणान्तक कष्ट समझकर सागारी अनशन ले ध्यानस्थ खड़ा हो गया। 'अर्जुन' ने ज्यों ही 'सुदर्शन' पर मुद्गर उठाया, त्यों ही 'सुदर्शन' के अमित आत्म-बल के सामने 'अर्जुन' के शरीर में प्रविष्ट यक्ष उसके शरीर से निकलकर अपने स्थान को चला गया। लगभग छः महीनों से भूखा-प्यासा 'अर्जुन' यक्ष के चले जाने पर मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गया। सुदर्शन ने साश्चर्य उसे देखा, प्रतिबोध दिया और भगवान् महावीर के पास ले आया। प्रभु उपदेश से प्रभावित होकर अर्जुन ने अपने आपको सम्भाला। अपने किए पर अनुताप करने लगा और मुनिव्रत स्वीकार कर लिया। मुनित्व स्वीकार करके बेले-बेले (दो दिन) का तप उसने प्रारम्भ कर दिया। भिक्षा के लिए जब नगर में घुसा, तब उसे मुनि-रूप में देखकर लोगों का क्रोध उमड़ना सहज था। अपने पारिवारिक सदस्यों का हत्यारा समझकर मुनि पर कोई पत्थर बरसाने लगा, कोई तर्जना, ताड़ना तथा वचनों से आक्रोश देने लगा। अर्जुनमाली ने इस उपसर्ग को बहुत ही समता से सहा। वह क्षमा की साकार प्रतिमा ही बन गया तथा उत्कृष्ट तितिक्षा से सभी कर्मों का क्षय कर दिया। यों छः महीनों की श्रमण-पर्याय में पन्द्रह दिन की संलेखना करके मोक्ष प्राप्त कर लिया।

—अन्तकृद्दशा ६/३

२६. अर्हन्नक

जिस समय उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ मल्लिकुमारी के रूप में अपने पिता मिथिलापति कुम्भ राजा के यहाँ राजमहल में रहते थे, उसी समय चम्पानगरी का रहने वाला ऋद्धिसम्पन्न एक धनी श्रेष्ठी का पुत्र था अर्हन्नक। अर्हन्नक स्वयं भी अच्छा तत्त्वज्ञ था। वह जीवाजीव का ज्ञाता और दृढ़ सम्यक्त्वी था। केवली-प्ररूपित आर्हत धर्म पर उसकी अचल श्रद्धा थी।

एक बार व्यापार के निमित्त उसने लवण समुद्र की यात्रा की। लवण समुद्र में जाते-जाते अकस्मात् एक बहुत भयंकर तुफान आया। तूफान आने का कारण था एक मिथ्यात्वी देव का कुपित होना। जहाज वालों का भयभीत होना सहज था पर 'अर्हन्नक' अविचल रहा। देवकृत उपसर्ग समझ जहाज में एक ओर बैठकर सागारी अनशन लेकर वह धर्मध्यान में लीन हो गया।

उस देव ने विकराल पिशाच का रूप बनाया। अट्टहास करता हुआ अपने रौद्र रूप में 'अर्हन्नक' को सम्बोधित करके बोला—'रे अधम ! तू अपने यम-नियमों को तिलांजलि दे दे, अन्यथा तुझे मारकर समाप्त करता हूँ और तेरे साथ ही तेरी सारी सम्पत्ति को भी नष्ट कर दूँगा।' यों दो-तीन बार देव के धमकी देने पर भी अर्हन्नक यही सोचकर अचल रहा कि नश्वर तन, धन, परिजनों के लिए मैं अपना अविनश्वर धर्म नहीं छोड़ सकता।

उसे मौन देखकर पिशाच कुपित हुआ। उस विशाल जहाज को अधर आकाश में उठाकर ले गया और बोला—'अब मैं तेरे इस जहाज को समुद्र में फेंकता हूँ। बोल, अब क्या कहता है?' पर अर्हन्नक के एक रोम में भी भय या कमजोरी नहीं थी। देव ने अपने ज्ञान से उसके धैर्य को देखा और हैरान रहा। अपनी पराजय मानकर जहाज को सुरक्षित स्थान पर ला दिया। अर्हन्नक की सराहना करते हुए अपने अपराध की क्षमा-याचना की। देव-दर्शन अमोघ होते हैं—यही सोचकर अपनी ओर से दो दिव्य-कुण्डल युगल अर्हन्नक को भेंट किये और अपने स्थान को चला गया।

अर्हन्नक ने इस कुण्डल-युगलों में एक कुण्डल-युगल मल्लिकुमारी को भेंट किया तथा श्रावकधर्म का पालन कर स्वर्ग में गया।

—ज्ञाता सूत्र ८

२७. अषाढ़भूति आचार्य

'अषाढ़भूति' एक समर्थ आचार्य थे। इनकी शिष्य-सम्पदा पूरे सौ शिष्यों की थी जो शालीन और साधना-रत थी। संयोग की बात सभी शिष्य एक-एक करके आचार्य की आंखों के सामने दिवंगत हो गये। जब लघु शिष्य भी उनकी आंखों के सामने ही दिवंगत होने लगा, तब उनका दिल दहल उठा। कुछ अनास्था के भाव उभर आये। असहायावस्था में ऐसा होना सहज भी है। अतः दिवंगत होते शिष्य से कहा—'वत्स! तू यदि स्वर्ग में जाये तो वहां से

आकर मुझे वहां की स्थिति बताना। शिष्य कालधर्म प्राप्त कर गया। देव भी बना, पर वहां के ऐश्वर्य में इतना लुब्ध हो गया कि वहां से आकर गुरु को कहने की बात ही भूल बैठा। इधर उसके न आने पर गुरुजी को पक्का विश्वास हो गया कि न स्वर्ग है, न नरक और न ही पुण्य-पाप, न मोक्ष आदि का कोई अस्तित्व है। ये सब तो यों ही अपना गुरुडम जमाने की धर्माचार्यों की धांधली है।

व्यक्ति की श्रद्धा जब तक बलवती और दृढ़ रहती है, तब तक व्यक्ति अपने आपको उस पर पूर्ण रूप से न्योछावर कर देता है, पर जब वह हिल जाती है, तब उसे कहीं का भी नहीं छोड़ती। आचार्यजी भी अनास्था के दलदल में बुरी तरह धंस चुके थे। अतः इस निर्णय पर आ गये कि साधु-वेश का परित्याग करके घर-ग्रहस्थी में जाकर जीवन की मौज-बहारें लूटनी चाहिए। आखिर व्यर्थ का कायक्लेश सहा भी क्यों जाये? स्वर्ग नरक तो हैं ही नहीं, यदि होते तो मेरा प्रिय शिष्य लौटकर क्यों नहीं आता? वह वचनबद्ध जो हो चुका था। यही विचार कर गुरुजी घर की ओर बढ़े।

उधर उस शिष्य देव को भी गुरुजी को दिये हुए अपने वचन का स्मरण हो आया। उसने जो अवधिज्ञान से पता लगाया तो गुरुजी की इस बदली हुई मनोदशा पर दंग रह गया। अपनी की हुई असावधानी पर अनुताप करता हुआ वहां आया। उसने सोचा—गुरुजी जा तो रहे हैं, पर उनके संभलने के दो ही पहलू हैं। यदि अब भी दिल में दया और आंखों में लज्जा होगी तो मेरे द्वारा स्वर्ग का परिचय देने पर विश्वास जम सकता है, अन्यथा नहीं। यों विचार कर उनकी दया को परखने के लिए उसने अपनी देवशक्ति विकुर्वित की।

गुरुजी को निर्जन जंगल में छः अबोध बच्चे मिले जो गहनों से लदे हुए थे। गुरुजी ने जब उनका परिचय जानना चाहा, तब वे बोले—'हम अपने अभिभावकों के साथ आपश्री के दर्शन करने चले थे, पर हम सब पथ भूल गये। सभी तितर-बितर हो गये।' नाम पूछने पर छहों ने अपना-अपना नाम बताया—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वासुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक।

षट्कायिक जीवों के नाम पर इनके नाम सुनकर गुरुजी ने इन्हें धर्म-निष्ठ श्रावकों के पुत्र जाना और सोचा—इन जीवों की रक्षा करते तो सारा जीवन बिता दिया, लेकिन अब तक कोई सुफल नहीं मिला। पगचंपी करने वाला एक

शिष्य भी पास नहीं रहा, सभी धोखा दे गये। अब तो इन्हें मारकर इनके सारे जेवर हथिया लेने चाहिए, क्योंकि धन के बिना गृहस्थवास का स्वाद ही क्या? अब मैं धन कमाकर पर्याप्त धन एकत्रित कर सकूं, ऐसी व्यापारिक क्षमता तथा शारीरिक क्षमता भी मुझमें अवशेष नहीं है।

बस, फिर क्या था। उनके कंठ मोस, एक-एक करके सभी को मौत के घाट उतार दिया और उनके सारे आभूषण शीघ्र ही झोली में डाल लिये।

अब लज्जा की परख करने के लिए देव ने श्रावकों का समूह गुरुजी के सामने ला खड़ा किया। चारों ओर वंदना की ध्वनि है, आहार-पानी की पुरजोर प्रार्थना है। गुरुजी मना कर रहे हैं। भोजन लें तो किसमें ? भाजनों में तो जेवर भरे पड़े हैं। फिर भी श्रावकों ने अत्याग्रह करके झोली को बलात् खोला तो पा" में उन नामांकित जेवरों को देखकर हत्या का आरोप लगाने लगे।

अपने पापों का भंडाफोड़ हो जाने पर गुरुजी को शर्मिन्दा होना ही था। आंखें मूंदें प्रस्तर की मूर्ति-से बने खड़े हैं। मन में अन्यधिक ग्लानि है। जाएं भी तो कहां जाएं ! कहें भी तो क्या और किसे ? धरती में समाना चाहते हैं, पर पृथ्वी भी भला स्थान देने को कब तैयार हो ? उलझन-भरी गुरुजी की सारी मनःस्थिति देखकर देव सामने प्रकट हुआ। अपना आत्मनिवेदन करते हुए, पुनः क्षमा-याचना की।

अषाढ़भूति ने साश्चर्य कहा—वत्स ! तू कहां ? शिष्य देव ने कहा—गुरुजी ! आप कहां से कहां पहुंच गये !

अषाढ़भूति ने अपने अनास्था के कुहरे को बहुत ही शीघ्रता से हटाया। निःशल्य आत्मालोचन से विशुद्ध बने। संयम की उत्कृष्ट कोटि की साधना में पहुंचकर सकल कर्म क्षय किये और मोक्ष प्राप्त कर लिया।

—उत्तराध्ययन वृत्ति

२८. अषाढ़भूति मुनि

आचार्य धर्मरुचि के अनेक शिष्यों में अषाढ़भूति लब्धिकारी थे। उन्हें तप के बल पर अनेक लब्धियाँ प्राप्त हो गईं थीं। वे तपस्वी तो उच्च कोटि के थे, लेकिन चमत्कार-प्रदर्शन की भावना को नहीं जीत पाये थे, साथ ही वे अपनी रसना इन्द्रिय को भी पूरी तरह वश में नहीं कर सके थे।

एक बार आचार्य धर्मरुचि अपने शिष्य-परिवार सहित राजगृही नगरी में पधारे। उस समय नगरी पर सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। गोचरी की बेला में आचार्यश्री की आज्ञा लेकर मुनि अषाढ़भूति अकेले ही आहार की गवेषणा में निकल पड़े। गवेषणा करते-करते वे महर्द्धिक नाम के नट के आवास पर पहुँचे। महर्द्धिक नट की दो कन्याएँ थीं—भुवनसुन्दरी और जयसुन्दरी। दोनों ने मुनि अषाढ़भूति को एक मोदक बहराया। मोदक से सुगन्धि उठ रही थी।

मोदक लेकर मुनि अषाढ़भूति जैसे ही बाहर निकले, उनके मन में विचार आया—'यह एक मोदक तो गुरु महाराज के लिए है।' ऐसा विचार आते ही उन्होंने लब्धिबल द्वारा नवयुवक का रूप बनाया और दूसरा मोदक ले आये। फिर विचार आया—'यह तो धर्माचार्य के लिए है।' तत्काल काणी आँख वाले साधु का रूप रखा और तीसरा मोदक ले आये। 'यह तो उपाध्याय महाराज के लिए है', ऐसा सोचकर कुबड़े का रूप रखा और चौथा मोदक ले आये। 'यह तो संघ के साधुओं को देना पड़ेगा', ऐसा विचार आते ही पाँचवां मोदक ले आये। 'यह बड़े साधुओं के निमित्त हो गया, यह सोचकर छठा मोदक ले आये। मन में सोच लिया—'यह छठा मोदक मेरे लिए हो गया।' इस प्रकार अपना मनोरथ सिद्ध करके मुनि अषाढ़भूति चले आये और अपने गुरु के पास जा पहुँचे।

मुनि अषाढ़भूति तो चले गये, लेकिन उनका यह सब चरित्र—रूप परिवर्तन करना—झरोखे में बैठा महर्द्धिक नट देख रहा था। उसने तुरन्त अपनी स्त्री और दोनों पुत्रियों से कहा—यह साधु स्वाद का लोभी मालूम पड़ता है, इसलिए जब भी आये इसे स्वादिष्ट आहार दिया करो। स्वाद के लोभ में यह सरलता से हमारे जाल में फँस जायेगा और यदि यह हमारे जाल में फँस गया तो सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी सिद्ध होगा, क्योंकि इसे अनेक रूप परिवर्तन करने की लब्धि प्राप्त है।

दोनों युवा पुत्रियों ने पिता की बात को हृदयंगम कर लिया। जब भी मुनि अषाढ़भूति आते, वे दोनों उन्हें स्वादिष्ट भोजन बहराती और हाव-भाव से भी आकर्षित करतीं। अब तो मुनि अषाढ़भूति उन्हीं के घर गोचरी के लिए आने लगे। नट-कन्याएँ आहार देने के साथ-साथ उनसे हाव-भाव-विलासपूर्वक हास्य भी करतीं।

जब उन्होंने समझ लिया कि मुनि भी हमारे प्रति आकर्षित हैं तो उन्होंने कहा—'हे स्वामी ! हम दोनों आप पर आसक्त हैं। अब हमारे प्राण आपके हाथ में हैं। आप हमें स्वीकार करके यहीं रहिए और सभी प्रकार के सुख भोगिए।'

आकर्षित तो मुनि अषाढ़भूति भी थे, उनके हृदय में भी प्रेम-राग उत्पन्न हो चुका था, अत: बोले—'मैं अपने गुरुदेव और धर्माचार्य की आज्ञा लेकर ही इस बात का जवाब दूँगा।'

नट-कन्याओं ने अधीरता दिखाते हुए कहा—'आपके विरह की अग्नि हमें तिल-तिल जला रही है। एक पल को भी हमें चैन नहीं पड़ता है। न जाने आपके गुरुदेव कब आज्ञा दें, दें अथवा नहीं? लेकिन हमारे तो आपके वियोग में प्राण ही निकल जायेंगे।'

'ऐसा नहीं होगा। मैं गुरुदेव की आज्ञा लेकर शीघ्र ही आऊँगा।' यह आश्वासन देकर मुनि सीधे गुरुदेव के पास पहुँचे और रजोहरण तथा मुखस्त्रिका पात्र आदि रखकर बोले—'गुरुदेव ! आप यह मुनि वेश संभालिए। मैं तो गृहस्थ आश्रम स्वीकार कर रहा हूँ। दो नट-कन्याएँ मेरे बिना प्राण छोड़ने को तत्पर हैं। मैं तो उनके पास जा रहा हूँ।'

मुनि अषाढ़भूति की यह बदली हुई प्रवृत्ति देखकर पहले तो गुरुदेव अवाक् रह गये। फिर उन्होंने बहुत समझाया, संयम के लाभ बताये और संयम-भ्रष्ट होने की हानियाँ विस्तार से बताईं, लेकिन अषाढ़भूति पर कोई प्रभाव न हुआ। वे नट-कन्याओं के पास जाने को अड़े रहे। अन्त में जब गुरुदेव ने समझ लिया कि अषाढ़भूति को समझाना व्यर्थ है तो कहा—'शिष्य! यदि तुम जाना ही चाहते हो तो मेरे कहने से रुकोगे भी कब? लेकिन इतना नियम तो ले लो कि माँस-मदिरा का सेवन तुम कभी भी न करोगे और इनके सेवन करने वालों का साथ भी नहीं करोगे।'

मुनि अषाढ़भूति ने यह नियम ले लिया और गुरुदेव को वन्दन करके नट-कन्याओं के पास चले आये। गुरुदेव ने मन-ही-मन सोचा—इस छोटे-से त्याग से भी महान् लाभ होगा, पुन: इसका उद्धार हो जायेगा।

मुनि अषाढ़भूति ने नट के घर आकर अपने नियम की बात बताई और स्पष्ट शब्दों में कहा—'तुम सब लोग यदि जीवन-भर के लिए मद्य-माँस का त्याग करो तो मैं तुम्हारे पास रहूँगा, अन्यथा नहीं रहूँगा।' नट और उसके

परिवार ने यह बात स्वीकार कर ली। फिर भी मुनि अषाढ़भूति ने स्पष्ट दृढ़ स्वर में चेतावनी दी—'जिस दिन भी मैंने इस घर के किसी भी सदस्य को माँस-मदिरा का सेवन करते देख लिया, उसी दिन छोड़कर चल दूँगा।'

नट के सभी सदस्यों ने माँस-मदिरा का सेवन न करने का विश्वास दिलाया। मुनि अषाढ़भूति आश्वस्त हो गये। वहीं रहने लगे। नट महर्द्धिक ने अपनी दोनों कन्याओं—भुवनसुन्दरी और जयसुन्दरी का विवाह उनके साथ कर दिया। अब मुनि अषाढ़भूति गृहस्थ अषाढ़भूति थे। गृहस्थ बनकर वे इन्द्रिय-सुखों को भोगने लगे।

अब अषाढ़भूति गृहस्थ थे। गृहस्थ के योग्य धन का उपार्जन भी वे करते। जब राजा के पास कोई दूसरी नट-मण्डली आती और प्रदर्शन करती तो वे अपनी लब्धियों द्वारा उससे उत्तम कला का प्रदर्शन करते और विजयी बनकर प्रभूत पुरस्कार पाते। सचमुच वे महर्द्धिक नट के लिए सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी बन गये थे। उन्होंने उसका घर धन से भर दिया था। अब वे अषाढ़ नट के नाम से दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गये थे। इस तरह बारह वर्ष गुजर गये।

कलाकार तो एक से एक बढ़कर हैं। एक दूसरा नट भी अपनी नट कला में बहुत निपुण था। उसने चौरासी नटों पर विजय प्राप्त की थी। इसके प्रतीकस्वरूप वह ८४ पुतलियों के स्वर्ण-घुँघरू पैरों में पहनता था। दूसरे देश के नट ने अषाढ़ नट को चुनौती दी और अषाढ़ नट ने वह चुनौती स्वीकार कर ली। राजा के सामने दोनों का मुकाबला होना था। अषाढ़ नट उस परदेशी नट को जीतने के लिए परदेश चला गया। पीछे से दोनों नट-कन्याओं—भुवनसुन्दरी और जयसुन्दरी ने सोचा—माँस-मदिरा का सेवन किये बिना बारह वर्ष निकल गये। अब तो वह (अषाढ़भूति) है नहीं, छः माह तक भी आने की कोई संभावना नहीं, क्योंकि इतना समय तो उसे जीतने में लग ही जायेगा, इसलिए इस समय में माँस-मदिरा का खूब सेवन कर लें। उसे क्या मालूम पड़ेगा? इस प्रकार विचार करके वे स्वच्छन्दतापूर्वक माँस-मदिरा का सेवन करने लगीं।

एक दिन अचानक ही अर्धरात्रि के समय अषाढ़ नट लौट आया। वह उस परदेशी नट को पराजित करके आया था, इसलिए खूब धन भी मिला और वह उमंग में भरा भी था। लेकिन घर आकर जो देखा कि दोनों स्त्रियाँ मदिरा के नशे में धुत्त पड़ी हैं, इधर-उधर माँस के टुकड़े पड़े हैं तो उसका हर्ष दुःख में बदल

गया। वह समझ गया कि इन्होंने मेरी गैर-मौजूदगी में अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी है। 'प्रतिज्ञा' शब्द मस्तिष्क में आते ही उसे अपनी प्रतिज्ञा याद हो आयी जो उसने गुरुदेव के समक्ष ली थी—'माँस-मदिरा सेवन करने वालों का साथ भी नहीं करना।' इस प्रतिज्ञा के याद आते ही उसने उन दोनों को जगाकर तथा सबके सामने पुनः चारित्र लेने का अपना निश्चय स्पष्ट शब्दों में सुना दिया।

यह निर्णय सुनते ही सब-के-सब स्तब्ध रह गये। भुवनसुन्दरी और जयसुन्दरी ने बहुत खुशामद की, लेकिन अषाढ़भूति अपने निर्णय पर अटल रहे। तब अन्त में उन दोनों ने कहा—'हमें खूब धन कमाकर दे जाओ, तभी हम तुम्हें दीक्षा की अनुमति देंगी, अन्यथा नहीं।'

अब अषाढ़भूति विवश हो गये। वे एक खेल और दिखाकर खूब धन उपार्जन करके लाने को सहमत हो गये। वे राजा सिंहरथ के पास गये और उनसे कहा—'महाराज ! मैं आपको भरत चक्रवर्ती नाटक दिखाना चाहता हूँ।' राजा ने सहर्ष नाटक देखने की स्वीकृति दे दी।

अषाढ़भूति ने सात दिन में नाटक तैयार किया और फिर नगरी के बाहर विशाल मैदान में इसका मंचन किया। राजा सिंहरथ, राज-परिवार तथा हजारों-लाखों नगर-निवासी देखने आये। भरत का अभिनय स्वयं अषाढ़भूति ने किया। भरत का सम्पूर्ण जीवन हू-ब-हू अभिनीत किया। दर्शकगण तन्मय हो गये। लेकिन अषाढ़भूति तो पूरी तरह ही इसमें तल्लीन हो गये। शीशमहल में भरतजी के कैवल्य ज्ञान के मंचन के क्षणों में तो अषाढ़भूति की भावधारा इतनी ऊर्ध्वमुखी हुई, आत्मचिंतन में इतने तल्लीन हुए कि उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हो गई। नट अषाढ़भूति केवली अषाढ़भूति हो गये।

इसके बाद उन्होंने पंचमुष्टि लोच किया, देवताओं द्वारा दिया हुआ मुनि-वेश धारण किया और धर्मदेशना दी। उनकी देशना से प्रभावित होकर पाँच-सौ व्यक्ति प्रतिबुद्ध हो गये। उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। उन पाँच सौ मुनियों के साथ वे अपने गुरुदेव की पदवंदना करने पहुँचे। शिष्य को कैवल्य-प्राप्ति से आचार्य धर्मरुचि को हार्दिक प्रसन्नता हुई।

आयु पूर्ण कर अषाढ़भूति मुनि मुक्त हो गए।

इसीलिए कहा गया है कि एक भी नियम का पालन दृढ़तापूर्वक किया जाये तो वह भी मुक्ति का हेतु बन सकता है।

—उपदेश प्रासाद, भाग ४

२६. आनन्द (बलदेव)

दक्षिण भरतक्षेत्र में चक्रपुर नाम का एक समृद्धि-सम्पन्न नगर था। वहाँ राजा महाशिर राज्य करता था। वह राजा बुद्धि, कला और प्रतिभा में अपने समकालीन राजाओं में अग्रगण्य था। उसकी दो रानियाँ थीं—एक वैजयंती और दूसरी लक्ष्मीवती। रानी वैजयंती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया, उसका नाम आनन्द रखा गया।

आनन्द छठे बलदेव थे और वे छठे वासुदेव पुरुष पुंडरीक के बड़े भाई थे। इन्होंने अपने छोटे भाई पुरुष पुंडरीक के साथ प्रतिवासुदेव बलि से युद्ध किया। इसके बाद इन्होंने छोटे भाई पुरुष पुंडरीक वासुदेव के साथ विजय-यात्रा की।

बाद में जब इनके छोटे भाई पुरुष पुंडरीक का देहान्त हो गया तो इन्हें बहुत दु:ख हुआ। छह महीने तक ये मोहग्रस्त होकर शोकाभिभूत रहे, इन्हें अपने शरीर की भी सुधि न रही, विवेक लुप्त हो गया।

तत्पश्चात् जब इनका शोकावेग कम हुआ तो इन्होंने तीर्थंकर अरनाथ के शासन में दीक्षा ग्रहण कर ली। इन्होंने घोर तप किया और केवलज्ञान का उपार्जन करके निर्वाण पद प्राप्त किया।

इनका कुल आयुष्य ८५ हजार वर्ष का था।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

३०. आनन्द श्रावक

भगवान् महावीर के प्रमुख श्रावक का नाम 'आनन्द' था। उसने भगवान महावीर से श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किए थे। उसकी प्रेरणा से उसकी धर्मपत्नी शिवानन्दा ने भी श्राविकाव्रत ग्रहण किए थे। वह 'वाणिज्य' ग्राम के निकट 'कोलाक सन्निवेश' में रहने वाला 'पटेल' जाति का था, पर था समृद्ध। उसकी समृद्धि इससे ही आँकी जा सकती है कि उसके पास बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएँ तथा चालीस हजार गाएँ थीं।

अपने व्रतों का सानन्द और सकुशल पालन करते-करते उसने आमरण अनशन किया। अनशन में उसे भावों की विशुद्धता से विपुल अवधिज्ञान प्राप्त हुआ।

उन्हीं दिनों भगवान महावीर भी वहाँ पधारे। गौतम स्वामी पारणे के लिए गाँव में आए। जब उन्होंने आनन्द श्रावक के अवधिज्ञान की चर्चा सुनी तो उसके यहाँ पधारे। आनन्द ने वन्दना करके पूछा—'भगवन् ! क्या अनशन में गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है?'

'हाँ, हो सकता है।' गौतम गणधर ने बताया।

आनन्द ने कहा—'भगवन् ! मुझे भी अवधिज्ञान हुआ है। मैंने पूर्व, पश्चिम और दक्षिण में पाँच सौ योजन लवण समुद्र के अन्दर तक, उत्तर में चूल हिमवन्त पर्वत तक तथा ऊपर सौधर्म स्वर्ग और नीचे प्रथम नरक के लौलुच्य नामक नरकवास को जाना-देखा है।'

गौतम सुनकर चौंके और बोले—'गृहस्थ को इतना विपुल अवधिज्ञान नहीं हो सकता है। तुम्हारा यह मिथ्या भाषण हुआ है। इसलिए इसकी आलोचना करो।'

आनन्द ने विनम्र स्वर में पूछा—'प्रायश्चित सत्य का होता है या मिथ्या का?'

'असत्य का।'

'तब तो भगवन् आप ही ऐसा करिये।'

आनन्द की दृढ़तापूर्वक बात सुनकर गौतम भगवान महावीर के पास आये। सारी बात कही। महावीर ने कहा—'हाँ, उसे उतना ही अवधिज्ञान हुआ है। तुम्हारे द्वारा ही असत्य भाषण हुआ है। अतः आनन्द से क्षमा-याचना करो।'

गौतम तुरन्त आनन्द के पास आये और उसे सत्य बताते हुए कहा—'मैं वृथा विवाद के लिए तुमसे क्षमा-याचना चाहता हूँ।'

आनन्द से सविनय क्षमा-याचना करके गौतम ने अपनी महानता का परिचय दिया।

यों आनन्द श्रावक ने बीस वर्ष तक श्रावक-व्रतों का पालन किया। अन्त में एक महीने का समाधिपूर्वक अनशन करके प्रथम स्वर्ग में पैदा हुआ। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जाकर मोक्ष में जाएगा।

—उपासक दशा १

३१. आर्द्रककुमार

अगाध समुद्र के बीच 'आर्द्रकपुर' नाम का एक अनार्य नगर था, जिसके

महाराजा का नाम 'आर्द्रक' तथा महारानी का नाम 'आर्द्रका' था। उनके 'आर्द्रककुमार' नाम का एक पुत्र भी था। ये सब अनार्य थे, लेकिन किसी प्रसंगवश अनार्य राजा आर्द्रक की मैत्री राजगृही नरेश श्रेणिक से हो गई थी और इसी कारण आर्द्रककुमार की भी राजगृह के महाराजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार के साथ घनिष्ठ मैत्री थी। परस्पर मैत्री प्रवर्धमान तब ही रह सकती है, जब दोनों मित्रों में समय-समय पर वस्तुओं का आदान-प्रदान होता रहे, क्योंकि आदान-प्रदान से स्मृतियाँ ताजी होती हैं।

एक बार 'अभयकुमार' ने 'आर्द्रककुमार' के लिए कुछ वस्तुएँ भेंटस्वरूप भेजीं, जिसमें एक डिब्बा धर्मोकरणों का भी भेजा—जिसे देखकर आर्द्रक अनार्य देश में रहता हुआ भी धर्म-साधना के प्रति सहज आकृष्ट रहे। आर्द्रक ने अभयकुमार के संकेतानुसार उस डिब्बे को एकान्त में खोला। उन धार्मिक उपकरणों को देखकर चिन्तन में डूब गया और इसी चिन्तन में सराबोर बने आर्द्रक को जातिस्मरणज्ञान की प्राप्ति हुई। जाति-स्मृति के बल पर उसने अपने पूर्वभव के मुनिरूप को देखा और अभयकुमार के पास जाने की आज्ञा अपने पिता आर्द्रक राजा से माँगी। परन्तु राजा ने आज्ञा नहीं दी। साथ ही यह कहीं लुके-छिपे न चला जाये, इसलिए पाँच सौ सुभटों को उसकी सुरक्षार्थ नियुक्त कर दिया। पर अवसर देख आर्द्रक उन सुभटों की आँखों से ओझल होकर आर्यभूमि में आ पहुँचा। वहाँ आकर जाति-स्मृति के बल पर साधुव्रत लेने को उद्यत हुआ। उस समय आकाश से देववाणी ने आर्द्रक से कहा—'तेरे अभी भोगावली कर्म अवशेष हैं, इसलिए अभी संयमी मत बनो।' आर्द्रक ने वैराग्य की तीव्रता में उस ओर ध्यान नहीं दिया और संयमी बन गया तथा साधना में लीन रहने लगा।

एक बार 'बसन्तपुर' नगर के उद्यान में आर्द्रक मुनि ध्यानस्थ थे। उधर अपनी सखियों सहित श्रेष्ठिकन्या श्रीमती वहाँ उपवन में आयी। अपने पति का चयन करने का खेल खेलती हुई वृक्ष समझकर मुनि के पैर पकड़कर बोली—'मेरे पति तो ये हैं।' इसी समय आकाश से देवों ने प्रभूत धन की वृष्टि की और देववाणी हुई—'श्रीमती तुमने श्रेष्ठ वर पसंद किया है।' उपसर्ग होने की संभावना से मुनि अपना कायोत्सर्ग समाप्त करके वहाँ से अन्यत्र चले गये। पिता उसके साथ उद्यान आये और उस धन को ले गए। श्रीमती ने अपने पिता से सारी बात कही तथा मुनि के साथ विवाह करने का आग्रह करने लगी। परन्तु मुनिराज वहाँ से अन्यत्र चले गये थे। मुनि को खोजने के लिए श्रीमती

ने एक दानशाला खोली और स्वयं दान देने लगी। उसका विचार था कि वे मुनि कभी तो दान लेने आयेंगे ही। बारह वर्ष बाद मुनिवर वहाँ आये। श्रीमती की समर्पण भावना तथा श्रेष्ठी एवं नगर-नरेश के अत्यधिक आग्रह के कारण मुनिजी फिसल गये और भोगावली कर्म की अवशेषता से उसके साथ पाणिग्रहण कर लिया तथा श्रीमती के प्रेमपाश में पूर्णतया बँध गए। एक पुत्र भी पैदा हुआ। पुत्र-प्राप्ति के बाद जब उन्होंने मुनि बनने को पुनः तैयार होने की भावना श्रीमती के सामने रखी तब श्रीमती कुन्द हो उठी। आर्द्रक पलंग पर लेटे थे और श्रीमती पास बैठी आँसू बहा रही थी। इतने में वह बालक भी वहाँ खेलता हुआ आया। साश्चर्य और साग्रह माता से उदासी का कारण पूछा। माता ने चरखा कातते हुए सारी बात बताते हुए कहा—'तेरे पिताश्री हमें छोड़कर जा रहे हैं।' बालक ने सहजता से सूत की पूनियाँ हाथ में लेकर कहा—'मैं इनसे पिताजी को बाँध दूँगा।' यों कहकर पूनि के पैरों में आँटे लगा दिये। आर्द्रक की आँख खुली तो देखा बालक पैरों को सूत से बाँध रहा है। यह देखकर आर्द्रक का दिल कुछ-कुछ पसीजा। अपने आँसू पोंछती हुई खिन्न बनी श्रीमती बोली—'मेरी ओर न सही, इस बच्चे की ओर तो देखिये, यह कितना अधीर हो रहा है।' आर्द्रक पसीज गये। लोह के बन्धन से मोह-बन्धन सदा ही जटिल रहा है। आर्द्रक ने बालक के लगाये आँटे गिने तो पूरे बारह थे, अतः बारह वर्ष फिर गृहस्थ आश्रम में रहने का निश्चय कर लिया। यों भोगावली कर्म पूरे होने पर फिर मुनिव्रत स्वीकार किया। उधर वे पाँच सौ सुभट भी मिल गये, जो राजा आर्द्रक ने आर्द्रककुमार की सुरक्षा के लिए नियुक्त किये थे। वे भी आर्द्रककुमार के चले जाने के बाद अपने नगर को नहीं लौटे थे और उसे खोजते हुए आर्यभूमि में चले आये थे तथा यहाँ लूटमार का धन्धा कर रहे थे। आर्द्रक मुनि ने प्रतिबोध देकर उन्हें जैन धर्म में दीक्षित कर लिया। उन्हें साथ लेकर आर्द्रक मुनि महावीर के पास जाने लगे। मार्ग में गोशालक तथा अन्य तापसों के साथ शास्त्रार्थ भी किया और विजयी बने। आर्द्रक मुनि राजगृह में आये। वहाँ अभयकुमार भी दर्शनार्थ आया। अपने मित्र की आपबीती सुनकर अभयकुमार को आश्चर्य, कौतुहल तथा हर्ष होना सहज ही था। आर्द्रक मुनि भगवान् महावीर के पास रहकर उत्कृष्ट संयम-तप की आराधना में लगे तथा मोक्ष-पद प्राप्त किया।

—सूत्रकृतांग २।६

३२. आर्यरक्षित

'दशपुर' नगर में 'सोमदेव' नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम 'सोमा' था और पुत्र का नाम 'रक्षित' था। रक्षित की शिक्षा पाटलिपुत्र में हुई। जब वह विद्याध्ययन करके लौटा तो सबने उसका सम्मान किया; लेकिन माता सोमा उदास रही। रक्षित ने माता से उसकी उदासी का कारण पूछा तो उसने कहा—'पुत्र ! यदि तुम दृष्टिवाद का अध्ययन करते तो मुझे प्रसन्नता होती; क्योंकि जितनी विद्याएँ तुमने पढ़ी हैं, वे सब तो संसार को बढ़ाने वाली ही हैं, एकमात्र दृष्टिवाद का ज्ञान ही संसार से पार उतारने वाला है।' पुत्र ने पूछा—'माता ! दृष्टिवाद का ज्ञान मुझे कहाँ प्राप्त होगा? कौन आचार्य इसको जानने वाले हैं?' माता ने आचार्य तोषलीपुत्र का नाम बता दिया।

रक्षित आचार्य तोषलीपुत्र के पास पहुँचा और उनसे दृष्टिवाद का ज्ञान प्रदान करने की विनयपूर्वक प्रार्थना की। आचार्यश्री ने कहा—'दृष्टिवाद विशिष्ट प्रकार का ज्ञान है। इसका पारायण करने के लिए गृहस्थ त्यागकर श्रमण बनना आवश्यक है। विशिष्ट प्रकार की तपस्याएँ और साधनाएँ करनी पड़ती हैं, तभी दृष्टिवाद को हृदयंगम किया जा सकता है।'

आचार्यश्री के इन शब्दों को सुनकर रक्षित ने दीक्षित होने की सहमति प्रकट कर दी, साथ ही कहा—'गुरुदेव ! यदि मैं यहीं रहूँगा तो संभवतः राजा एवं मेरे परिवारी जन मुझे वापस गृहस्थवास में ले जायें, इसलिए प्रव्रजित करने के उपरान्त शीघ्र ही कहीं और भेज दें।'

आचार्य तोषलीपुत्र ने रक्षित की यह प्रार्थना स्वीकार कर ली और दीक्षा देने के तुरन्त बाद वहाँ से विहार कर दिया। गुरु-कृपा से रक्षित ने शास्त्राभ्यास किया। विशिष्ट ज्ञान-प्राप्ति के लिए गुरु ने उन्हें आर्य वज्रस्वामी के पास भेजा। मार्ग में स्थविरकल्पी आचार्य भद्रगुप्त सूरि के उन्होंने दर्शन किये। भद्रगुप्त सूरि की आयु थोड़ी ही शेष रह गई थी। उन्होंने अनशन ग्रहण कर लिया। अन्तिम समय के अनगारी संथारे में आर्य रक्षित उनकी सेवा करते रहे। उनके समाधिमरण के पश्चात् ये आर्य वज्रस्वामी के पास पहुँचे।

आर्य वज्रस्वामी दृष्टिवाद के दश पूर्वों के ज्ञाता थे। उनके नेश्राय में रहकर ये पूर्वों का अध्ययन करने लगे। नौ पूर्वों का अध्ययन पूरा हो चुका था और दशवें पूर्व का अध्ययन चल रहा था, तभी इनका छोटा भाई फल्गुरक्षित इन्हें

बुलाने आ गया। उसने कहा—'आप दशपुर चलें, वहाँ आपकी प्रेरणा से बहुत मनुष्यों का उद्धार होगा।' इनके मन में भी दशपुर जाने की बात आ गई। गुरु वज्रस्वामी से आज्ञा माँगी तो उन्होंने अपने आयुष्य का विचार करके जान लिया कि थोड़ा ही बाकी है। यदि रक्षित दशपुर चला गया तो दशवें पूर्व का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि इसके वापस लौटने से पहले ही मेरा आयुष्य पूरा हो जायेगा और दशवें पूर्व का शेष ज्ञान मेरे साथ ही विलुप्त हो जायेगा। यह सब सोचकर उन्होंने रक्षित से कहा—'तुम घर मत जाओ, ज्ञान का अभ्यास करो।' आर्य रक्षित ने पूछा—'गुरुदेव ! दशवें पूर्व का ज्ञान कितना मैं प्राप्त कर चुका हूँ और कितना बाकी है?' वज्रस्वामी ने कहा—'अभी तो तुम बिन्दु के बराबर ज्ञान प्राप्त कर सके हो, सिन्धु के बराबर शेष है; लेकिन चिन्ता मत करो। तुम मेधावी हो, शीघ्र ही दशवें पूर्व का शेष ज्ञान प्राप्त कर लोगे।' इतना सुनने के बाद भी आर्यरक्षित बार-बार आग्रह करने लगे, तब आर्य वज्रस्वामी ने इन्हें दशपुर जाने की आज्ञा दे दी।

आर्यरक्षित इसके बाद अपने भाई फल्गुरक्षित के साथ दशपुर चले गये। वहाँ इनके निमित्त से इनका सारा परिवार प्रतिबुद्ध हुआ, राजा ने भी सम्यक्त्व ग्रहण किया। फल्गुरक्षित भी दीक्षित हो गये। उनके निमित्त से अन्य भी अनेक मनुष्यों का उद्धार हुआ।

एक बार सौधर्म इन्द्र महाविदेहक्षेत्र में सीमंधर स्वामी की वंदना करने गया। उनके मुख से सूक्ष्म निगोद का स्वरूप सुनकर उसने पूछा—'भगवन् ! भरतक्षेत्र में भी सूक्ष्म निगोद का स्वरूप जानने वाला कोई है?' भगवान् सीमंधर स्वामी ने बताया—'आर्यरक्षित है।' इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप रखकर इनसे (आर्यरक्षित से) सूक्ष्म निगोद का स्वरूप पूछा। इन्होंने यथातथ्य वर्णन कर दिया। इसपर इन्द्र संतुष्ट हुआ और इनकी वंदना करके देवलोक को चला गया।

इनके समय तक मनुष्यों की स्मरण-शक्ति कम हो चली थी, अतः ज्ञान को सही ढंग से हृदयंगम करने के लिए इन्होंने चारों अनुयोगों को पृथक्-पृथक् कर दिया।

इनका जन्म वीर. नि. सं. ५२२ में हुआ। २२ वर्ष की अवस्था में प्रव्रजित हुए, ४० वर्ष तक मुनि रहे और १३ वर्ष तक आचार्य रहे। इस प्रकार ७५ वर्ष की आयु पूरी करके वीर. नि. सं. ५९७ में स्वर्गवासी हुए।

—**उपदेश प्रासाद, भाग ५**

३३. आराम शोभा

'कुसट्ट' देश में 'बलासा' नाम का एक छोटा-सा गाँव था। यहाँ अग्निशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम 'अग्निशिखा' था। अग्निशर्मा पुरोहिताई द्वारा जीवन यापन करता था। यजमानों की दी हुई कुछ गायें भी उसके पास थीं। वैसे वह बहुत ही संतोषी और सरल वृत्ति का था।

अग्निशर्मा की एक पुत्री थी, उसका नाम था विद्युत्प्रभा। अभी विद्युत्प्रभा पाँच वर्ष की ही थी कि उसकी माता अग्निशिखा उसे बिलखती हुई छोड़कर स्वर्ग सिधार गई। घर के सारे कार्य का भार पाँच वर्ष की अबोध बालिका विद्युत्प्रभा पर आ पड़ा। बालिका के कार्यभार को हल्का करने की इच्छा से अग्निशर्मा ने दूसरा विवाह कर लिया।

लेकिन नयी माँ के आने से विद्युत्प्रभा का कार्यभार कम न हुआ, वरन् दुगुना हो गया। नयी माँ के साल-भर में एक कन्या भी हो गई। अब तो विद्युत्प्रभा पर कार्य का भार और भी बढ़ गया। वही घर का पूरा काम करती और दोपहर के समय समीप के वन में गाएँ चराने भी जाती। अब तक वह बारह वर्ष की हो चुकी थी।

एक दिन वह वन में एक बबूल की छितरी छाया में बैठी थी, पास ही उसकी गाएँ चर रही थीं। इतने में उसने अपने सामने एक सर्प को देखा, तो वह डर गई। उस सर्प ने मानव वाणी में कहा—'डरो मत ! कुछ गारुड़िक मेरे पीछे पड़े हैं। मुझे छिपा लो, मेरी रक्षा करो। मैं तुम्हारी शरण में हूँ।'

विद्युत्प्रभा ने परोपकार मानकर उस सर्प को अपनी गोद में छिपा लिया। इतने में गारुड़ी आ गये। उन्होंने उससे पूछा—'तुमने इधर से जाते हुए किसी सर्प को तो नहीं देखा है?' उसने कह दिया—'मैं तो सर्प के नाम से ही डरती हूँ।' निराश होकर गारुड़ी वापस चले गये।

उनके जाने के बाद विद्युत्प्रभा ने देखा तो सर्प गायब हो चुका था। तभी उसने देखा कि सामने एक देव खड़ा था। उसने विद्युत्प्रभा से वरदान माँगने को कहा। विद्युत्प्रभा ने माँगा—'मेरी गायों के लिए छायादार वृक्ष खड़े कर दीजिये।' उसकी इस परोपकार भावना से देव और भी प्रसन्न हुआ। उसने दिव्य वृक्षों से सुशोभित एक मनोरम उद्यान खड़ा कर दिया और कहा—'यह उद्यान सदा तेरे साथ रहेगा। तू जहाँ भी जायेगी, यह तेरे साथ ही जायेगा।

इसके अलावा जब भी तू मेरा स्मरण करेगी, मैं तेरा कष्ट मिटाऊँगा।' यह कहकर देव अन्तर्ध्यान हो गया।

देव-प्रदत्त उद्यान की बात जानकर उसका पिता अग्निशर्मा तो बहुत प्रसन्न हुआ, लेकिन उसकी सौतेली माँ भीतर-ही-भीतर जल-भुन गई।

एक बार वह वन में अपनी गाएँ चरा रही थी, तभी पाटलिपुत्र का राजा अपनी चतुरंगिनी सेना सहित उधर आ निकला और उस उद्यान में विश्राम-हेतु ठहर गया। हाथियों की चिंघाड़ और घोड़ों की हिनहिनाहट से डरकर विद्युत्प्रभा की गाएँ इधर-उधर भागने लगीं। अपनी गायों को इकट्ठा करने के लिए विद्युत्प्रभा भी उनके पीछे भागी तो उसके पीछे-पीछे उद्यान भी चलने लगा। राजा इस कौतुक को देखकर बहुत चमत्कृत हुआ और उसने उसके साथ विवाह कर लिया तथा उसे नया नाम दिया—आरामशोभा।

आरामशोभा अब पाटलिपुत्र-नरेश जितशत्रु की पटरानी हो गई। वह बड़े सुख से रहने लगी।

इधर उसकी सौतेली माता अपनी पुत्री को भी रानी बनाने के स्वप्न देखने लगी। उसने अपने पति अग्निशर्मा के हाथों तीन बार विषमिश्रित मोदक भेजे, लेकिन रास्ते में एक वृक्ष पर रहने वाले यक्ष ने वे मोदक बदल दिये, उनके स्थान पर अमृतसम स्वादिष्ट मोदक रख दिये। राजा जितशत्रु सहित सभी ने वे मोदक खाये, लेकिन किसी का कुछ न बिगड़ा।

इस प्रकार तीन बार असफल होकर आरामशोभा की सौतेली माता ने नया नाटक रचा। उसे अपने पति द्वारा मालूम हो चुका था कि आरामशोभा गर्भवती है। उसने पति द्वारा जितशत्रु को कहलवाया कि 'आरामशोभा को भेज दें। पहली सन्तान पीहर (माता के घर) में ही होनी चाहिए, यही हमारे कुल की रीति है।' इस रीति के समक्ष राजा जितशत्रु विवश हो गया। उसने चार दासियों के साथ आरामशोभा को उसके पिता के साथ भेज दिया।

आरामशोभा को अपने घर आयी देखकर सौतेली माँ फूली न समाई। उसने उसे मारने का पक्का निश्चय कर लिया। अब वह उसे अपने हाथों ही कुएँ में धकेलकर मारना चाहती थी।

आरामशोभा ने एक सुन्दर और तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम राजा जितशत्रु की इच्छा के अनुसार मलयसुन्दर रखा गया।

पुत्र-जन्म के दो-चार दिन बाद ही सौतेली माँ ने अपना षड्यन्त्र पूरा करने

का निश्चय किया। आधी रात के समय आरामशोभा से बोली—'हमारे कुल में ऐसी रीति है कि पहली संतान के बाद माता अपनी परछाईं कुएँ के जल में देखा करती है, इससे बच्चा दीर्घायु होता है।'

आरामशोभा अपनी सौतेली माता की बात पर विश्वास करके उसके साथ कुएँ पर चली गई। ज्योंही वह अपनी परछाई कुएँ के जल में देखने लगी कि सौतेली माँ ने उसे धक्का दे दिया। वह कुएँ में गिर गई।

सौतेली माता लौटी और उसने तुरन्त ही अपनी पुत्री को आरामशोभा के स्थान पर लिटा दिया। दासियों ने आरामशोभा के स्थान पर दूसरी स्त्री को देखा तो उन्होंने ऐतराज किया। इस पर उन्हें कह दिया गया कि कुएँ में अपनी परछाईं देखने से इसका रूप बदल गया है। साथ ही राजा से दण्डित करवाने की धमकी भी दे दी गई। दासियाँ चुप हो गईं। वे क्या कहती?

अब सौतेली माँ की पुत्री आरामशोभा बनकर राजा जितशत्रु के महलों में पहुँच गई। राजा ने रंग-रूप बदलने का कारण पूछा तो उसे भी यही जवाब मिला। उसने कहा—'तुम्हारे साथ रहने वाला उद्यान कहाँ है?' तो नकली आरामशोभा ने बहाना बनाया—कुछ दिन बाद उसे बुलाऊँगी।

राजा जितशत्रु चुप हो गया, लेकिन उसके मन में यह संशय घर कर गया कि 'यह आरामशोभा नहीं है, कोई दूसरी स्त्री है।' इसीलिए उसने उसके साथ पत्नी का संबंध न रखा, सिर्फ मुँह से ही बोलता रहा। साथ ही चौकन्ना भी रहा और इस रहस्य को जानने की उधेड़-बुन में लगा रहा।

इधर कुएँ में गिरते-गिरते आरामशोभा ने नागदेव का स्मरण किया। नागदेव उसे पाताललोक में ले गया। उसके साथ ही उसका उद्यान भी पाताललोक में पहुँच गया। वह नागदेव के आश्रय में सुख से रहने लगी।

स्त्री कितनी भी सुखी हो, लेकिन उसे अपने पति और पुत्र की याद आती ही है। आरामशोभा को भी अपने पति और पुत्र की याद आने लगी। वह उनसे मिलने को तड़पने लगी। उसने नागदेव से अपनी इच्छा प्रकट की कि 'मैं अपने पति और पुत्र से मिलना चाहती हूँ।'

नागदेव ने कहा—'पति से मिलने पर तुम्हारी सौतेली बहन का अहित होगा; क्योंकि वह इस समय तुम्हारे स्थान पर नकली आरामशोभा बनकर रह रही है।'

यह सुनकर आरामशोभा ने सोचा कि अपनी बहन का अहित नहीं

करना चाहिए। उसने नागदेव से फिर कहा—'पति से न सही, पुत्र से मिलने की इजाजत तो दे ही दीजिए।'

नागदेव ने कहा—'तुम अपने पुत्र से नित्य मिल सकती हो; लेकिन सिर्फ रात के समय ही। सुबह होने से पहले ही यहाँ वापस लौट आना जरूरी है। यदि किसी दिन वहीं प्रभात हो गया तो तुम्हारे जूड़े से एक मृत सर्प गिरेगा। वह इस बात का प्रतीक होगा कि मेरी दी हुई सभी सुविधाएँ, उसी क्षण से समाप्त हो गई हैं। तब मेरा दिया हुआ उद्यान भी सदा के लिए छूट जायेगा।'

आरामशोभा ने यह शर्त स्वीकार कर ली। नागदेव की दी हुई विद्या से वह रात्रि के समय अपने पुत्र के पास पहुँची। उसने अपने पुत्र को प्यार किया और प्रातः होने से पहले चली आयी। सब सो रहे थे, इसलिए उसके आगमन की बात किसी को मालूम न हो सकी।

अब आरामशोभा हरेक रात्रि को जाने लगी। एक दिन वह अपने उद्यान के फूल भी ले गई। उन फूलों से उसने अपने पुत्र के पालने को सजा दिया।

सुबह राजा जितशत्रु ने फूल देखे तो समझ गया कि ये तो आरामशोभा के उद्यान के दिव्य पुष्प हैं। उसने नकली आरामशोभा से पूछा तो वह कोई सन्तोषजनक उत्तर न दे सकी। राजा समझ गया कि रात को असली आरामशोभा आती है और रात को ही चली जाती है। उसने उसे पकड़ने का निश्चय कर लिया।

रात्रि को राजा कक्ष में छिपकर बैठ गया। आरामशोभा सदा की भाँति आयी और पुत्र को प्यार करने लगी। राजा ने उसकी कलाई कसकर पकड़ ली। उससे छिपकर आने का रहस्य पूछा। आरामशोभा ने विवश होकर पूरी घटना सुनाई। तब तक प्रभात हो गया। आरामशोभा के जुड़े से एक मृत सर्प गिरा। राजा चौंका। आरामशोभा ने कहा—'स्वामी ! अब नागदेव द्वारा दी हुई सभी सुविधाएँ समाप्त हो गईं। अब वह दिव्य उद्यान जो मेरे साथ रहता था, वह भी नहीं रहेगा।' राजा ने सांत्वना दी—'मुझे न उद्यान की जरूरत है, न दिव्य सुविधाओं की। तुम मेरे साथ सुख से रहो।'

आरामशोभा फिर सुख से रहने लगी। उसका पुत्र मलयसुन्दर भी कलाओं में निपुण हो गया। अब मलयसुन्दर युवराज था।

एक बार आचार्य वीरभद्र पाटलिपुत्र पधारे। उनकी देशना सुनने राजा जितशत्रु और आरामशोभा भी गयी। आरामशोभा ने आचार्यश्री से जिज्ञासा की—'भगवन् ! मेरा बचपन बड़े कष्टों में बीता। किन्तु युवावस्था सुख में बीती। मैं गरीब घर में पैदा होकर भी पटरानी बन गई। यक्ष की कृपा भी प्राप्त हुई। मेरे जीवन के उतार-चढ़ाव का कारण क्या है? मैंने पूर्वजन्म में क्या पाप-पुण्य किये?'

आचार्यश्री ने उसका पूर्वभव सुनाया—'तुम चम्पापुरी के कुलधर सेठ की सेठानी कुलानन्दा की आठवीं पुत्री थीं। तुम्हारे पैदा होते ही सेठ निर्धन हो गये। इसीलिए तुम्हारा नाम निर्भगा पड़ गया। माता-पिता ने उपेक्षा भाव से तुम्हारा पालन किया। जब तुम युवती हो गईं तो तुम्हारा विवाह कौशलपुर के निर्धन वणिक्-पुत्र नन्दन के साथ कर दिया गया। वह तुम्हें अवन्ती नगरी के एक चैत्य में सोती हुई छोड़ गया। तुम आश्रय के लिए नगरी में एक सेठ मणिभद्र के पास पहुँची। वह द्वादशव्रती श्रमणोपासक था। उसने तुम्हें पुत्री बनाकर रख लिया। उसके सम्पर्क से तुम्हारी धर्म में रुचि हुई। तुमने व्रतों का पालन किया और श्राविका बन गईं। एक बार मणिभद्र का उद्यान किसी मिथ्यात्वी देव के उत्पात से सूख गया तो तुमने अपने शीलव्रत के प्रभाव से उसे हरा कर दिया।'

आचार्यश्री ने आगे कहा—'पूर्वभव के प्रारंभिक जीवन में तुमने धर्माचरण नहीं किया, इसलिए इस जन्म के प्रारंभिक जीवन अथवा बाल्यकाल में तुम दु:खी रहीं। बाद के जीवन में पूर्वभव में तुमने धर्माचरण किया तो इस जन्म में भी युवावस्था में सुख पाया। मणिभद्र इस जन्म में नागदेव बना तो अपने उद्यान को हरा करने के फलस्वरूप उसने तुम्हें दिव्य उद्यान दिया और सदा तुम्हारी सहायता की।'

धर्म का ऐसा महान सुप्रभाव सुनकर राजा जितशत्रु प्रतिबुद्ध हो गया। अपने पुत्र मलयसुन्दर को राज्य देकर उसने दीक्षा ले ली। आरामशोभा भी प्रव्रजित हो गई। वह साध्वी संघ की प्रवर्तिनी भी बन गई।

दोनों मुमुक्षुओं ने संयम की साधना करके पंडितमरण किया और स्वर्ग गये। पुनः साधना करके ये दोनों मोक्ष प्राप्त करेंगे।

—सम्मत्त सत्तति (गुणशेखरसूरिकृत टीका के अनुसार)
—वर्धमान देशना १

३४. इन्द्रभूति (गौतम गणधर)

'गोबर' गाँव में गौतम गोत्र का एक 'वसुभूति' ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम 'पृथ्वी' था। उसके ज्येष्ठ पुत्र का नाम था इन्द्रभूति जो अपने गोत्र 'गौतम' के नाम से विख्यात हुआ। इन्द्रभूति चार वेद, चौदह विद्याओं में निष्णात तथा अपने समाज में सम्पन्न, अग्रगण्य तथा एक प्रसिद्ध याज्ञिक थे। कर्मकांडी ब्राह्मण के रूप में इनकी देशव्यापी ख्याति थी।

एक बार अपापा नगरी में सोमिल[1] ब्राह्मण द्वारा समायोजित यज्ञ में भाग लेने के लिए अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ इन्द्रभूति वहाँ आये। और भी अनेक ब्राह्मण पंडित वहाँ एकत्रित हो गये, लेकिन यज्ञ के अधिष्ठाता अथवा यज्ञाचार्य इन्द्रभूति गौतम ही थे। सुयोग ऐसा बना कि ठीक उसी समय भगवान् महावीर के समवसरण का समायोजन देवों ने अपापा नगरी के बाह्य भाग में किया। समवसरण में भाग लेने के लिए आते हुए देवों के समूह को देखकर ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने समझा कि ये देव हमारे यज्ञ की आहुति लेने आ रहे हैं। पर जब देवगण यज्ञस्थल को लाँघकर ऊपर के ऊपर समवसरण भूमि में पहुँचने लगे, तब इन्द्रभूति अपनी असफलता पर बहुत निराश और हताश हुए। अहम् की अकड़ में अपने-आपको सर्वोत्कृष्ट विद्वान और धार्मिक समझने वाले इन्द्रभूति भगवान् महावीर को ऐन्द्रजालिक मान बैठे। बस, फिर क्या था, अपने सौ शिष्यों सहित इन्द्रजालिये का भण्डाफोड़ करने समवसरण की ओर चल पड़े। दूर से ही देवाधिदेव भगवान् महावीर को देखकर पैर कुछ अवश्य ठिठके। भगवान् महावीर ने कहा—'गौतम ! आ गये !' साभिधान आह्वान सुनकर सोचा—यह चापलूस है, मीठी-मीठी बातों से मुझे फुसलाना चाहता है। मैं तो विश्व-विश्रुत हूँ ही। तब नाम बता दिया तो इसमें इनकी क्या सर्वज्ञता है? यदि मेरे मन में रही हुई शंका का प्रकटीकरण कर देंगे तो मैं इन्हें अवश्य सर्वज्ञ स्वीकार कर लूँगा।

यों वितर्क में इन्द्रभूति उलझ ही रहे थे, इतने में प्रभु ने कहा—'गौतम ! तुम्हारे मन में सन्देह है कि 'आत्मा है या नहीं'? पर तुम्हारा यह सन्देह निर्मूल

---

१. कई इसका नाम बाहुल भी बताते हैं।

है। देखो—तुम्हारे वेद-शास्त्रों में 'द' का मन्त्र आता है। 'द' का अर्थ दमन, दया, दान आदि त्रिरूप में किया है। यदि आत्मा ही न हो तो दमन किसका, दया किसकी तथा दान किसको और क्यों?'

यों अपने गुप्ततम सन्देह का प्रकटीकरण और निराकरण सुनकर इन्द्रभूति भगवान् महावीर के चरणों में आ झुके। अपने पाँच सौ शिष्यों सहित भगवान् महावीर के पास दीक्षा स्वीकार कर ली। महावीर के द्वारा त्रिपदी के माध्यम से विशाल ज्ञान-राशि प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त की। अगाध ज्ञान-निधि बने और प्रभु के प्रथम गणधर कहलाये। अनेक लब्धियों से सम्पन्न बने। बेले-बेले का तप स्वीकार कर भगवान् महावीर की सेवा में तल्लीन रहने लगे।

स्वयं का सन्देह निवारण तथा लोकोपकार की भावना को लेकर लघु शिष्य की भाँति गौतम के महावीर से प्रश्न चलते ही रहते। छत्तीस हजार प्रश्नोत्तरों का संकलन तो एक भगवती सूत्र में आज भी उपलब्ध है। वैसे गौतम स्वामी का महावीर के प्रति अनुराग भी काफी था और इसी अनुराग के कारण गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो रही थी। जबकि उनके बाद के दीक्षित तथा उन्हीं के द्वारा दीक्षित मुनियों को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। इस निराशा में उद्भूत गौतम की खिन्नता का निवारण भी भगवान् महावीर समय-समय पर करते रहते।

भगवान् महावीर का अन्तिम चातुर्मास पावापुरी में था। कार्तिक बदी अमावस्या के दिन गौतम स्वामी को प्रभु ने देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने भेजा। गौतम उधर गये और पीछे से भगवान् महावीर का परिनिर्वाण हो गया। जब देवगण प्रभु का चरम कल्याणोत्सव मनाने आने लगे, तब गौतम को प्रभु के निर्वाण का पता लगा। गौतम स्वामी को विरह से व्यथित होना ही था। तत्क्षण प्रभु के शरीर के पास आकर करुण विलाप करने लगे। मीठे-कटु उलाहने भी दिये, पर कुछ ही क्षणों के बाद स्वयं को सँभाला। क्षपकश्रेणी आरूढ़ होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

बारह वर्ष तक कैवल्यावस्था में रहकर मोक्ष पधारे। गौतम स्वामी ने पचास वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षा ली। ८० वर्ष की अवस्था में कैवल्य प्राप्त किया तथा बानवे वर्ष की अवस्था में, भगवान् महावीर के बारह वर्ष बाद मोक्ष पधारे। यद्यपि गौतम स्वामी भगवान् महावीर से आयु

में आठ वर्ष बड़े थे, फिर भी प्रभु के प्रति समर्पण भाव, जिज्ञासा, विनय जो रखा, उससे उनकी असाधारणता स्पष्ट झलक रही है।[1]

—आवश्यक चूर्णि

३५. इलाचीकुमार

'इलावर्धन' नगर में 'धनदत्त' नाम का एक सेठ रहता था। लक्ष्मी की उस पर खूब कृपा थी। उसका व्यापार-व्यवसाय काफी दूर-दूर तक विस्तृत था और वह स्वयं न्याय-नीति तथा सत्यनिष्ठा के लिए प्रसिद्ध था। सेठ को एक अभाव था, और वह था पुत्र का। उसके कोई पुत्र न था। आखिर उसने अपनी पत्नी सहित अपनी कुलदेवी 'इलादेवी' की आराधना की। उसके पुत्र हो गया। कुलदेवी के नाम के आधार पर उसने पुत्र का नाम इलापुत्र अथवा इलाचीकुमार रखा। पुत्र को पाकर पति-पत्नी दोनों बहुत प्रसन्न हुए।

इलाचीकुमार युवा हो गया। वह माता-पिता का आज्ञाकारी और विनीत था। बुद्धि में भी वह विचक्षण और कुशाग्र प्रतिभा वाला था।

एक बार उसके नगर में एक नट-मंडली आई। इलाचीकुमार भी नट का तमाशा देखने गया। उस मंडली में मुखिया की एक षोड़शी पुत्री थी। वह रूप-लावण्य में तो सुन्दर थी ही, नट-कला में भी अत्यन्त प्रवीण थी। इलाचीकुमार उस पर मोहित हो गया। घर आकर उसने माता-पिता को स्पष्ट बता दिया कि वह नट-कन्या को ही जीवन-संगिनी बनाएगा, अन्य किसी से विवाह नहीं करेगा।

माता-पिता ने बहुत समझाया, अपनी जाति और समान कुल-शील वाली सुन्दर कन्याओं से विवाह करने का आग्रह किया, कुल-गौरव का वास्ता दिया, लेकिन इलाचीकुमार अपनी हठ पर अड़ा रहा। उसने माता-पिता की एक न मानी। यहाँ तक कह दिया—मेरी इच्छा पूरी न हुई तो प्राण दे दूँगा।

इकलौते पुत्र के हठ के सामने पिता को झुकना पड़ा। वह नट-मंडली के मुखिया के पास पहुँचा। उससे कहा—नटराज ! आप अपनी पुत्री का विवाह

---

१. अहंकारोपि बोधाय, रागोपि गुरु भक्तये,
विषाद: केवलायाभूत्, चित्रं श्री गौतम प्रभोः ! ।।१।।
तथा च—अंगूठे अमृतवशे, लब्धितणा भंडार,
गौतम गुरु गुरु में बड़ो, मन वांछित दातार ।।२।।

मेरे पुत्र के साथ कर दें, मैं आपको आपकी कन्या के बराबर तोलकर सोना दे दूँगा। लेकिन नटराज ने यह सौदा मंजूर नहीं किया। उसने कहा—'पिता के धन पर आश्रित पुत्र को मैं अपनी कन्या नहीं दे सकता। यदि उसे मेरी पुत्री से विवाह ही करना है तो पहले वह हमारी नट-विद्या सीखे, फिर इस कला से धन का उपार्जन करे और उस धन से हमारी पूरी जाति को भोज आदि देकर प्रसन्न करे, तब उसके साथ मेरी पुत्री का विवाह हो सकता है।'

नटराज की इस शर्त को सुनकर धनदत्त बहुत निराश हुआ। घर आकर सब बात कही और पुत्र को फिर समझाया; लेकिन इलाचीकुमार का तो रोम-रोम नट-कन्या के मोह में डूबा हुआ था, वह पिता की शिक्षा को कैसे सुनता और क्यों मानता? उसने तो सिर्फ नटराज की शर्त ही सुनी और उसे पूरा करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

एक रात वह बिना किसी को बताये घर से निकल गया और नट-मंडली में जा मिला। बड़े मनोयोग से उसने नट-विद्या सीखी और शीघ्र ही कुशल हो गया। वह नट-मंडली के साथ-साथ गाँव और नगरों में जाने लगा तथा अपनी कला का प्रदर्शन करने लगा। उसका नाम दूर-दूर तक विख्यात हो गया था और अब उसे कला-प्रदर्शन के लिए धनिकों तथा राजाओं के निमंत्रण भी मिलने लगे।

एक बार एक राजा के निमंत्रण पर वह अपनी कला दिखाने पहुँचा। साथ में वह नट-कन्या भी थी और नट-मंडली के अन्य सदस्य भी थे। इलाचीकुमार को राजा से प्रभूत पुरस्कार मिलने की आशा थी। उसे विश्वास था कि अपनी कला द्वारा राजा से इतना धन प्राप्त कर लूँगा कि नटराज की शर्त पूरी करके उसकी कन्या से विवाह कर सकूँ।

खेल शुरू हुआ। इलाचीकुमार बाँस पर चढ़कर अपनी अद्‌भुत कला का प्रदर्शन करने लगा। नीचे खड़ी नट-कन्या उसका उत्साह बढ़ा रही थी। हजारों की भीड़ उसकी कला पर मुग्ध हो रही थी। लेकिन राजा की दृष्टि ज्यों ही नट-कन्या पर पड़ी, वह उस पर मोहित हो गया। नट-कन्या और इलाचीकुमार के हाव-भावों से वह समझ गया कि जब तक यह नट नहीं मरेगा, तब तक नट-कन्या मेरे हाथ नहीं लगेगी। उसने मन-ही-मन नट-कन्या को पाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। यहाँ तक सोच लिया कि खेल-ही-खेल में इस नट के प्राण ले लूँगा।

इलाचीकुमार एक प्रहर तक बाँस पर चढ़ा अपनी कला दिखाता रहा। इसके बाद वह नीचे उतरा और राजा को सलाम किया। उसका अभिप्राय राजा से पुरस्कार पाना था। लेकिन राजा उसे पुरस्कार देना कब चाहता था? वह तो उसके प्राणों का बलिदान चाहता था। उसने कह दिया—'अभी तो मुझे तुम्हारी कला में आनन्द ही नहीं आया, और दिखाओ।'

इलाचीकुमार दुबारा बाँस पर चढ़ा। प्रहर भर तक फिर कला दिखाई और पुनः पुरस्कार की याचना की। फिर भी उसे राजा का यही जवाब मिला।

तीसरी बार कला दिखाकर जब उसने पुरस्कार माँगा, तब भी यही उत्तर राजा की ओर से मिला। अब तो इलाचीकुमार खिन्न हो गया। तीन प्रहर के कठोर परिश्रमपूर्वक कला-प्रदर्शन से उसका अंग-अंग दुख रहा था। अब उसके शरीर में शक्ति बाकी नहीं रह गई थी। वह यह भी समझ गया कि राजा नट-कन्या के प्रति आकर्षित है। इसीलिए वह बार-बार आनन्द न आने की बात कह रहा है। वह चाहता है कि मैं बाँस पर से गिरकर धराशायी हो जाऊँ, जिससे वह नट-कन्या को आसानी से हथिया सके।

इलाचीकुमार की इच्छा अब प्रदर्शन की नहीं थी, लेकिन नट-कन्या के उत्साहित करने पर वह पुनः बाँस पर चढ़ा और कला दिखाने लगा। तभी उसकी दृष्टि एक निस्पृह संत पर पड़ी। वे श्रमण एक सद्‌गृहस्थ के घर से आहार ले रहे थे। आहार देने वाली गृहिणी अत्यन्त रूपवती और रत्नाभूषणों से लदी थी। उसके रूप के सामने नट-कन्या का रूप तो अत्यन्त हीन था। फिर भी वे मुनि उस गृहिणी की ओर देख भी नहीं रहे थे। नीचे दृष्टि किये आहार ले रहे थे।

यह दृश्य देखते ही इलाचीकुमार की विचारधारा पलटी। वह सोचने लगा—कहाँ ये निस्पृह श्रमण और कहाँ मैं ! ये देवांगना सरीखी सौन्दर्य की मूर्ति की ओर देख भी नहीं रहे हैं, और मैं एक नट-कन्या के पीछे पागल बना हुआ हूँ। अपनी जिन्दगी का अनमोल समय मैंने यों ही इस शरीर-सौन्दर्य में आसक्त बनकर खो दिया। आत्मिक सौन्दर्य—आत्मा के सद्‌गुणों की ओर दृष्टिपात न किया। अब तो आत्मा के स्वरूप में रमण करूं, आत्म-चिन्तन करूं।

बस, इलाचीकुमार के मन में चरित्र के भाव उदित हुए, भावधारा

ऊर्ध्वमुखी हो गई, बाँस पर ही उसका शरीर स्थिर हो गया, कषायों का मूलोच्छेद हुआ और उसे वहीं कैवल्य की प्राप्ति हो गई।

वीतराग दशा में वह बाँस से उतरा और उसी रंगमंच से उसने जन-कल्याण का उपदेश दिया। उस उपदेश से नट-कन्या तथा राजा के हृदय में भी वैराग्य-भाव जागृत हो गया। उन्हें भी कैवल्य की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार नट-विद्या का रंगमंच आध्यात्मिक रंगमंच बन गया और तीनों ही संसार-बंधन से मुक्त हो गये।

—(क) आख्यानक मणिकोश

—(ख) उपदेशमाला

३६. इक्षुकार-कमलावती

राजा 'इक्षुकार' इक्षुकारनगर का स्वामी था। उसकी रानी का नाम 'कमलावती' था। महाराज के पुरोहित का नाम था 'भृगु' और उसकी पत्नी का नाम था 'यशा'। पुरोहित के दो पुत्र भी थे। पूर्वजन्म में ये छहों प्राणी प्रथम स्वर्ग के 'नलिनीगुल्म' विमान में थे। वहाँ से च्यवकर ये सभी यहाँ पैदा हुए थे।

महाराज इक्षुकार अपने पुरोहित भृगु को समय-समय पर विविध प्रकार का धन दान दिया करते थे। पुरोहित सर्वविधि सम्पन्न था। अपने दोनों पुत्रों के हृदय में वैराग्य जग जाने से माता-पिता भी संयमी बनने को तैयार हुए। पीछे वंश में कोई भी न होने से पुरोहित के घर का सारा धन गाड़ियों के द्वारा राज-भण्डार में जाने लगा। राजमहल के झरोखे में बैठी महारानी को यह सब देखकर बहुत आश्चर्य हुआ और महाराज से कहा—'पतिदेव ! यह क्या? क्या कभी दिया हुआ दान भी वापस लिया जा सकता है? इस धन को लेना तो मानो वमन किये भोजन को पुनः खाना है। हृदयसम्राट् ! पुरोहित और उसके पुत्रों ने दुःख, शोक-चिन्ता और अनर्थ का मूल समझकर जिस धन से अपना मुँह मोड़ लिया, आप उसी से प्रेम जोड़ रहे हैं। यह कहाँ की बुद्धिमत्ता है? पुरोहित और उसका सारा परिवार नश्वर था तो हम क्या अनश्वर हैं? हमें क्या अमर रहना है?'

रानी के इस कथन से राजा प्रतिबुद्ध हुआ। राजा और रानी भी पुरोहित के साथ ही संयमी बन गये। मुनि-जीवन की उत्कृष्ट आराधना करके इक्षुकार राजा मोक्ष गया।

—उत्तराध्ययन, १४

३७. उग्रसेन

कंस' के पिता महाराज 'उग्रसेन' 'भोजकवृष्णि' राजा के पुत्र थे। वैसे 'अन्धकवृष्णि' और 'भोजकवृष्णि' दोनों भाई थे। 'अन्धकवृष्णि' के दस पुत्रों में सबसे बड़ा 'समुद्रविजय' तथा सबसे छोटे 'वसुदेव' थे। समुद्रविजय के पुत्र श्री 'नेमिनाथ' तथा वसुदेव के पुत्र श्री 'कृष्ण-बलभद्र' थे। 'भोजकवृष्णि' का पुत्र था 'उग्रसेन'। उनकी महारानी का नाम था 'धारणी'। ये मथुरा के शासक थे और समुद्रविजय शौरीपुर नगर के शासक थे।

एक बार महाराज उग्रसेन ने एक तपस्वी को अपने यहाँ व्रत खोलने की प्रार्थना की, पर समय पर उसे आहार देना भूल गये। वह तपस्वी मासव्रतधारी था, अर्थात् एक दिन ही आहार लेता था और फिर महीने-भर तक निराहार तपस्या करता था। यदि किसी कारणवश उस दिन उसे आहार नहीं मिलता तो भूखा ही अगले महीने का उपवास ग्रहण कर लेता। यों दो-तीन बार राजा प्रार्थना करता गया और समय पर भूलता गया।

अन्तिम बार जब अनुताप करता हुआ प्रार्थना करने राजा गया, तब तापस कुपित हो उठा। भूख से बेहाल बना निदान कर लिया कि यदि मेरे तप का कुछ फल है तो मैं तुम्हें दुःख देने वाला बनूँ।

तापस वहाँ से मृत्युंगत होकर उग्रसेन की महारानी धारणी के गर्भ में आया। गर्भयोग से रानी के मन में अशुभ-अशुभ संकल्प उभरने लगे। यहाँ तक कि राजा के कलेजे का माँस खाने को भी रानी का दिल मचल उठा। मंत्री ने अपनी प्रतिभा-कौशल से जैसे-तैसे रानी की मनोभावना पूरी की। यथासमय पुत्र पैदा हुआ, पर महारानी ने सोचा—जो गर्भ में आते ही पिता के कलेजे का माँस खाने को ललचाया ऐसे कुलांगार से मेरा और इसके पिता का क्या भला होना है? यह तो अपने पिता को दुःख देने वाला ही बनेगा, इसलिए इसे अभी से दूर कर देना चाहिए, जिससे यह अपने पिता को कष्ट न दे सके। यों विचारकर उसे कांसी की पेटी में डालकर यमुना नदी में बहा दिया। पुत्र की मृत्यु हो गई—यह समाचार सब जगह फैला दिया।

उधर यह पेटी तैरती हुई शौरीपुर नगर में 'सुभद्र' सेठ के हाथ लगी। खोलकर देखा तो नवजात शिशु मिला। अपना पुत्र मानकर अपनी पत्नी से उसका लालन-पालन करने को कहा। कांसी की पेटी में निकला था—इसलिए

इसका नाम 'कंस' रख दिया। बड़ा होकर यह बहुत ही उद्दण्ड और उच्छृंखल बना। इसके नटखटपन से बेचारे 'सुभद्र' सेठ के नाकों में दम हो आया। अपनी बला टालने के लिए 'सुभद्र' ने 'कंस' को 'वसुदेव' के यहाँ नौकर रखवा दिया। वसुदेव ने इसे अस्त्र-शस्त्र विद्याएँ सिखाईं। यह शिक्षा कंस की रुचि के अनुकूल थीं। उसने शीघ्र ही सीख ली तथा अपनी कार्यजा शक्ति से वसुदेव के पास अपना अच्छा स्थान बना लिया।

एक बार महाराज जरासन्ध के प्रबल शत्रु सिंहरथ को पकड़ने वसुदेव कंस के साथ गये। वहाँ कंस ने उस दुर्धर और अजेय माने जाने वाले सिंहरथ को पकड़ लिया। इससे प्रसन्न होकर जरासन्ध ने अपनी पुत्री जीवयशा का विवाह कंस के साथ कर दिया। अब तो कंस प्रतिवासुदेव जरासन्ध का जामाता बन गया। पर जब इस गुप्त रहस्य का कंस को पता लगा कि मैं सुभद्र सेठ का आत्मज न होकर मथुरा-नरेश उग्रसेन का आत्मज हूँ और मुझे यों ही नदी में बहाया गया है तब तो उसे कुपित होना ही था। जरासन्ध से करमोचन में उसने मथुरा का राज्य माँग लिया और तत्क्षण मथुरा आकर अपने जन्मदाता पिता उग्रसेन को पिंजरे में बन्द करके मथुरा के गोपुर में लटका दिया।

कंस की भयंकर नृशंसता के फलस्वरूप ही श्रीकृष्ण ने कंस को मारा और उग्रसेन को मुक्त किया। उग्रसेन मथुरा के पुनःस्वामी बन गये।

उग्रसेन के कंस के अतिरिक्त एक पुत्र तथा दो पुत्रियाँ और भी थीं। पुत्र का नाम था अतिमुक्तक तथा पुत्रियों के नाम थे सत्यभामा और राजीमती। अतिमुक्तक ने तो कंस के राज्यगद्दी पर बैठते ही श्रामणी दीक्षा ले ली थी और तप करके वे मुक्त हो गये। उग्रसेन जरासन्ध के भय से श्रीकृष्ण के साथ ही मथुरा को छोड़कर द्वारिका में आ बसे और वहीं रहने लगे।

—आवश्यक मलयगिरी वृत्ति

३८. उज्झितकुमार

हस्तिनापुर के महाराज 'सुनंद' के बहुत विशाल गौशाला थी, जिसमें बहुत-सी गायें सुख से रह रही थीं। उसी नगर में भीम नाम का एक गुप्तचर था जिसकी पत्नी का नाम 'उत्पला' (थप्पला) था। 'उत्पला' गर्भवती हुई। उसे गौ की गर्दन का माँस खाने का मानसिक संकल्प (दोहद) हुआ। परन्तु गौमाँस मिले

कैसे? वह दोहद-पूर्ति-हेतु चिन्तातुर रहने लगी। भीम को अपनी पत्नी की मनोव्यथा का जब पता लगा, तब रात्रि के समय गौशाला में छिपकर गौ को मारकर उसका माँस ले आया। उत्पला ने मद्य (शराब) के साथ उस माँस को बहुत शौक से खाकर अपना दोहद पूरा किया। सवा नौ महीने बाद उसके एक पुत्र पैदा हुआ। पुत्र ने पैदा होते ही इतनी जोर से ध्वनि की, जिसे सुनकर अनेक गौ आदि पशु संत्रस्त होकर इधर-उधर दौड़ने लगे। इस कारण इसका नाम गौत्रासक (गोत्रासिया) पड़ गया। यह बड़ा होकर बहुत ही क्रूरकर्मी, अधर्मिष्ठ बना। नगरजन संत्रस्त हो उठे। राजा ने सोचा—यदि इसके कंधों पर कुछ जिम्मेदारी डाल दी जाए तो नगर के उत्पात कुछ कम हो जायेंगे। यह सोचकर गौत्रासक को उसने अपना सेनापति बना दिया। तलवार हाथ लगने पर बन्दर कब चंचल नहीं बनता? उसकी नृशंसता और बढ़ गई। रात को प्रतिदिन तलवार लेकर गौशाला में जाता तथा पशुओं को मारकर माँस खाता। इस प्रकार पाप-कर्म करते हुए उसने दुस्सह कर्मों का बंध किया और मरकर दूसरी नरक में गया।

दूसरी नरक से निकलकर विजयमित्र सेठ के यहाँ सुभद्रा का अंगजात बना, पर माता ने उसे उकुरड़ी पर डलवा दिया। कुछ समय बाद उसे अपने पास पुनः मँगवा लिया, पर उसका नाम 'उज्झितकुमार' पड़ गया। बड़ा होकर उज्झितकुमार बुरी तरह से दुर्व्यसनों के चंगुल में फँस गया। ऐसा कौन-सा दुर्व्यसन था, जो इसने नहीं अपनाया हो?

इसी नगर में 'कामध्वजा' नामक एक वेश्या रहती थी। उसके यहाँ कामान्ध बना रहने लगा। यद्यपि वह वेश्या राजवेश्या थी। राजा के द्वारा प्रतिदिन उसे एक हजार स्वर्णमुद्राएँ मिलती थीं, पर प्रेम अंधा होता है। वह भी उज्झितकुमार पर पूर्णतया आसक्त थी। संयोग ऐसा बना कि राजा की रानी के योनि-शूल की वेदना हो गई, इसलिए राजा ने उसे छोड़कर इस वेश्या को अपने अन्तःपुर में रख लिया तथा उसे अपनी उपपत्नी बना लिया। उज्झितकुमार देखता ही रहा, परन्तु करे भी क्या? वेश्या पर आसक्त बना वह मौका पाकर राजमहलों में पहुँचकर वेश्या के साथ काम-क्रीड़ा करने लगा। राजा भी अकस्मात् उसी समय वहाँ आ गया। उसे वहाँ देखकर उत्तेजित हो उठा और तत्क्षण पकड़ने का आदेश दिया। उसे पकड़कर उसके नाक-कान कटवा दिये और बुरा हाल करके नगर में घुमाने लगे। राजपुरुष उसके शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े करके उसको खिलाते, ऊपर से बुरी तरह से मारते हुए शहर के बाहर ले जा रहे थे।

उसकी यह दुरवस्था देखकर गौतम स्वामी ने नगर के बाहर बगीचे में विराजमान भगवान् महावीर को सारी बात सुनाकर पूछा—'भगवन् ! इसने ऐसे कौन-से क्रूर कर्म किये थे?' तब प्रभु ने पूर्वजन्म और इस जन्म में समाचरित इसकी पाप-कहानी सबको सुनाई तथा यह भी फरमाया—अब केवल तीन प्रहर ही यह जीवित रहेगा। शूली पर से यह मरकर प्रथम नरक में जायेगा। वहाँ से संसार में अनेक चक्कर लगायेगा। एक सन्त के पास धर्म-श्रवण कर संयम स्वीकार करके स्वर्ग में जायेगा। अंत में महाविदेह क्षेत्र में जाकर सभी कर्मों का अंत करेगा और मुक्त होगा।

—विपाक सूत्र, अध्ययन २

३६. उदयन (वासवदत्ता)

उदयन कौशाम्बी नगरी के महाराज शतानीक तथा महारानी मृगावती का पुत्र था। महाराज शतानीक के दिवंगत होने पर मृगावती ने उज्जयिनीपति चण्डप्रद्योत को छकाकर अपने पुत्र उदयन को कौशाम्बी के सिंहासन पर बैठाया और वह साध्वी बन गई।

उदयन संगीत-कला में विशेष दक्ष था, वह अद्वितीय वीणा-वादक था। चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता ने वीणावादन की कला का अभ्यास करना चाहा, पर सिखाने वाला उदयन के सिवाय कोई था नहीं। अतः चण्डप्रद्योत ने एक जाल रचा। काष्ठ का एक हाथी बनवाकर अन्दर सुभट बैठा दिये। उन्हें समझा दिया कि मौका पाकर वे उदयन को पकड़कर उज्जयिनी ले आयें। घोर जंगल में हाथी को दौड़ते देख उदयन ने उस मदोन्मत्त हाथी को पकड़ना चाहा। पर सुभटों की सजगता से स्वयं पकड़ लिया गया। सुभट उसे महाराज प्रद्योत के पास ले आये।

प्रद्योत ने कहा—'मेरी पुत्री को वीणा-वादन की कला में निपुण बनाइये, परन्तु वह कानी है, कुछ सकुचाती है, अतः पर्दे के पीछे रहकर वह विद्या सीखेगी।' उधर कन्या से कहा गया—'संगीताचार्य तो मिल गये हैं, पर वे कुष्ठ रोग से पीड़ित हैं। मैं नहीं चाहता वह संक्रामक रोग कहीं तेरे पर आक्रमण कर दे, इसलिए वह पर्दे के पीछे बैठकर सिखायेंगे।'

यों दोनों को बरगलाया गया, ताकि इनमें प्रेम का अंकुर न पनप जाए। पर छल कितना चल सकता है? एक दिन कन्या आलाप करते समय कुछ गलती

कर बैठी। उदयन ने दो-तीन बार टोका भी, पर वह नहीं सँभली, तब उदयन ने गुस्से से कहा—'कानी ! ठीक से बोल।' कन्या भी कुपित हो उठी। वह बोली—'कुष्ठी ! ऐसे कैसे बोलता है, ठीक ढंग से बोल।' उदयन बोला—'कोढ़ी कौन है?' कन्या ने कहा—कानी कौन है? जब पर्दा उठाया गया तो भ्रम का पर्दाफाश हो गया। दोनों एक-दूसरे का सौन्दर्य देखते ही रह गये। उनमें प्रेम का अंकुर फूटा और वे प्रगाढ़ प्रीति के बंधन में बँध गये। 'वासवदत्ता' को लेकर 'उदयन' वहाँ से रवाना हो गया। चण्डप्रद्योत को जब पता लगा, तब वह आग-बबूला हो उठा। उसने उदयन को पकड़ना चाहा, पर मंत्रियों के समझाने से वासवदत्ता के साथ विधिपूर्वक शादी करके उसे अपना जामाता बना लिया।

उसके बाद उदयन-वासवदत्ता साध्वी मृगावती के दर्शन करने गये। साध्वीजी से उन्होंने श्रावक के बारह व्रत धारण किये और धर्मपूर्वक जीवन बिताने लगे।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

४०. उदायन राजर्षि

उदायन सिंधु सौवीर देश का राजा था। वीतभयनगर उनकी राजधानी थी। राजा चेटक की पुत्री प्रभावती उनकी रानी थी। रानी परम श्रमणोपासिका थी, किन्तु राजा उदायन तापसधर्म का अनुयायी था। प्रभावती मृत्यु पाकर देवी बनी और उसने राजा उदायन को प्रतिबोध देकर श्रावक बनाया।

एक बार राजा उदायन पौषधशाला में बैठा धर्म-चिंतन कर रहा था, तब उसके मन में ये विचार उठे—यदि भगवान् महावीर वीतभय नगरी में पधारें तो मैं गृहस्थ-धर्म को त्यागकर मुनि-धर्म ग्रहण कर लूँगा।

भगवान् महावीर वीतभय नगरी पधारे। राजा उदायन प्रतिबुद्ध हुआ। उसने अपने पुत्र अभीचिकुमार को राज्य न देकर, भान्जे केशी को राजसिंहासन पर बिठाया और श्रामणी दीक्षा ग्रहण कर ली।

दीक्षित होकर राजर्षि उदायन दुष्कर तप करने लगे। उनका शरीर बहुत कृश हो गया। फिर भी उन्होंने तपस्या में कमी न आने दी।

एक बार विहार करते हुए वे वीतभय नगरी पधारे। केशी को उसके मंत्रियों ने भड़का दिया कि राजर्षि उदायन पुनः अपना राज्य छीनने आये हैं। केशी भड़क गया। उसने उद्घोषणा करवा दी कि राजर्षि को कोई भी ठहरने

का स्थान न दे। परिणामस्वरूप उन्हें नगर में कहीं भी स्थान न मिला। एक कुम्भाकर ने साहस करके उन्हें ठहरने योग्य स्थान दे दिया।

केशी इतने पर भी चुप न हुआ। राजर्षि को मरवाने के लिए उसने अनेक बार विषमिश्रित भोजन दिया, लेकिन रानी प्रभावती, जो देवी बनी थी, उसने उस भोजन को निर्विष कर दिया।

एक बार देवी कहीं दूसरे स्थान पर गई हुई थी। उसकी अनुपस्थिति में राजर्षि के पात्र में विषमिश्रित आहार आ गया। उसे खाने से राजर्षि के शरीर में विष फैल गया।

राजर्षि ने अनशन किया, उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे मुक्त हो गए।

—(क) त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र १०, ११
—(ख) भगवती १३, ६
—(ग) उत्तराध्ययन भावविजय गणी की टीका, १८/५
—(घ) आवश्यकचूर्णि, उत्तरार्ध, पत्र १६४

४१. ऋषभदेव भगवान

सारिणी

जन्म-समय	अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे का अन्तिम चरण	कुल	ईक्ष्वाकुवंश
		चिन्ह	वृषभ
पिता	अन्तिम कुलकर नाभिराजा	चारित्र पर्याय	१ लाख पूर्व
माता	मरुदेवा	प्रथम भिक्षा दिन	अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ला ३) बाहुबली के पौत्र कुरु जनपद के राजा श्रेयांस-कुमार द्वारा इक्षु-रसदान।
जन्म-स्थान	विनीता नगरी		
जन्म-तिथि	चैत्र कृष्णा अष्टमी		
कुमार अवस्था	२० लाख पूर्व		
राज्यकाल	६३ लाख पूर्व	निर्वाण तिथि	माघ कृष्णा १३ छः दिन के उपवास में अष्टापद पर्वत पर।
दीक्षा तिथि	चैत्र कृष्णा अष्टमी		
केवलज्ञान	फाल्गुन कृष्णा ११ वट वृक्ष के नीचे	कुल आयुष्य	८४ लाख पूर्व

जिस समय यौगलिक परम्परा परिसमाप्ति पर थी, उस समय नाभि नाम के सातवें कुलकर विद्यमान थे। उनकी पत्नी का नाम था—मरुदेवा। मरुदेवा के

यहाँ ऋषभदेव का जन्म हुआ। ऋषभदेव इस युग के पहले राजा, पहले भिक्षु, पहले मुनि, पहले केवलज्ञानी तथा पहले तीर्थंकर बने।

उस समय युगल पुत्र-पुत्री (युग्म) पैदा होते थे। अतः ऋषभदेव के साथ एक कन्या भी उत्पन्न हुई थी। उसका नाम 'सुमंगला' था। एक अन्य यौगलिक मर गया था, जिसकी बहन ऋषभदेव को उपलब्ध हो गई। उसका नाम 'सुनन्दा' था। 'ऋषभदेव' का इन दोनों के साथ विवाह कर दिया गया। सुमंगला के 'भरत' आदि ६६ पुत्र तथा 'ब्राह्मी' नाम की पुत्री थी। 'सुनन्दा' के पुत्र का नाम 'बाहुबली' तथा पुत्री का नाम 'सुन्दरी' था।

उस समय कल्पवृक्षों का प्रभाव कम हो गया था। यौगलिकों को भी जीवन-यापन की सामग्री की उपलब्धि का अभाव होने लगा। अभाव में व्यक्ति का स्वभाव भी बदल जाया करता है। यौगलिकों में परस्पर बात-बात पर छीना-झपटी होने लगी। यों बदली हुई स्थिति को अनुशासित करने के लिए सबने नाभिराजा से ऋषभदेव को राज्याभिषेक करके अधिशास्ता बनाने को कहा। ऋषभ को राजा बना दिया गया। कुबेर ने भी एक बहुत विशाल और श्री-सम्पन्न नगर बसाया, जिसका नाम अयोध्या रखा गया।

लोगों को नीतिवान बनाने के लिए ऋषभदेव ने विविध नीतियों का प्रवर्तन किया। राज्य-रक्षार्थ मन्त्री, सेनापति आदि पदों की स्थापना की। कल्पवृक्षों से भोज्य-प्राप्ति के अभाव में लोग कन्दमूल तथा कच्चा धान खाने लगे। कच्चा धान अपाच्य रहता, सुपाच्य नहीं बनता था, अतः अग्नि का आविष्कार करके भोजन को पकाने की विधि बताई। लोगों के चेहरे खिल उठे। असि (शस्त्र-जीवी), मसि (कलम-जीवी), कृषि (हल-जीवी) आदि विविध कर्मों का सूत्रपात किया। स्त्रियों के लिए चौंसठ तथा पुरुषों के लिए बहत्तर कलाओं का परिज्ञान आवश्यक बताया। ब्राह्मी के हाथ से ब्राह्मी आदि अठारह लिपियाँ तथा सुन्दरी के हथ से गणित विद्या का आविष्कार किया। यों जनता के हित के लिए विविध विद्याओं तथा विधियों का प्रवर्तन करके ६३ लाख पूर्व तक शासन किया। तदनन्तर संवेग प्राप्त करके वर्षीदान कर भरत को अयोध्या का राज्य पद प्रदान किया तथा अन्य ६६ पुत्रों को अन्य नगरों एवं देशों का राज्य प्रदान किया। इनमें बाहुबली को बहली प्रदेश का शासक बनाया। इस प्रकार पुत्रों को राज्य देकर आप चार हजार राजाओं के साथ संयमी बने।

उस समय लोग भद्रतावश साधु को आहार देने की विधि से अनभिज्ञ थे। इसका कारण यह भी था कि ऋषभदेव पहले श्रमण थे। इनसे पहले कोई साधु

ही न था, इसलिए जनता को आहार-दान देने का कभी अवसर ही न आया था। अतः इन्हें आहार न मिल रहा था। आहार न मिलने से कच्छ, महाकच्छ आदि अनेक मुनि भूख से व्याकुल हो संयम-पथ छोड़कर कन्द-मूल आदि से अपना काम चलाने लगे।

प्रभु को बारह महीने बाद वैशाख सुदी ३ के दिन 'श्रेयांसकुमार' के हाथ से भिक्षा मिली। एक सौ आठ इक्षु रस के घड़ों से वर्षी तप का प्रभु का पारणा हुआ। श्रेयांसकुमार को जाति-स्मृति से भिक्षा-विधि का ज्ञान हुआ। लोगों ने भी तब से ही भिक्षा-विधि को जाना। यों दान-धर्म की प्रवृत्ति हुई।

एक हजार वर्ष बाद प्रभु को पुरिमताल नगर में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना इस युग में प्रथम बार हुई और ऋषभदेव आदि तीर्थंकर कहलाये। उनके पुंडरीक आदि ८४ गणधर थे।

अन्त में एक लाख पूर्व वर्ष तक कैवल्यावस्था में धर्मोपदेश देकर छः दिन के अनशन में दस हजार साधुओं के साथ माघ बदी १३ को अष्टापद[1] पर्वत पर मोक्ष पधारे।

धर्म-परिवार

गणधर	८४	बादलब्धिधारी	१२,६५०
केवली साधु	२०,०००	वैक्रियलब्धिधारी	२०,६००
केवली साध्वी	४०,०००	साधु	८४,०००
मनःपर्यवज्ञानी	१२,६५०	साध्वी	३,००,०००
अवधिज्ञानी	६,०००	श्रावक	३,०५,०००
पूर्वधर	४,७५०	श्राविका	५,५४,०००

—जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १

१. यह स्थान हिमालय पर्वत पर कैलाश नामक पहाड़ी के पास है। इस समय यह लुप्त हो चुका है।

४२. कनकमंजरी (चित्रकार कन्या)

क्षितिप्रतिष्ठितपुर नगर में राजा जितशत्रु राज्य करता था। उसने एक चित्रशाला बनवाने का निश्चय किया। निश्चय के अनुसार देश-विदेशों के चित्रकार बुलाये गये। राजा ने सभी चित्रकारों को बराबर-बराबर स्थान चित्र बनाने के लिए बता दिया। चित्रकारों ने काम शुरू कर दिया। चित्रशाला विविध प्रकार के चित्रों से सुसज्जित होने लगी।

उन चित्रकारों में चित्रांगद नाम का एक वृद्ध चित्रकार था। वह वृद्ध तो था, लेकिन उसकी कला में जादू था। उसके चित्र बड़े सजीव बनते थे। उसकी एक युवा पुत्री थी। नाम था उसका कनकमंजरी। कनकमंजरी को भी चित्रकारी का अच्छा ज्ञान था। वह भी सजीव और अद्भुत चित्र बनाती थी। उसकी कला-कुशलता भी सराहनीय थी। वह नित्य अपने पिता को भोजन देने आया करती थी।

नित्य की भाँति एक बार वह अपने पिता के लिए भोजन ला रही थी, तभी राज-मार्ग पर एक घुड़सवार बड़ी तेजी से घोड़ा दौड़ाते हुए निकला। स्त्री-पुरुष दौड़कर एक ओर हो गये। कई बच्चे तो उसकी चपेट में आते-आते बाल-बाल बचे। कनकमंजरी भी एक ओर खड़ी हो गई। उसे घुड़सवार की लापरवाही पर बड़ा क्षोभ हुआ।

जब वह चित्रशाला पहुँची तो उसका पिता यह कहकर चल दिया कि 'अभी शरीर-चिन्ता से निपटकर आता हूँ।'

अब कनकमंजरी बैठी-बैठी क्या करे? अपने पिता के लिए नियत स्थान पर उसने मयूरपंख का चित्र अंकित कर दिया। मयूरपंख ऐसा बना मानो सचमुच का ही हो।

कनकमंजरी उसे देखकर मन-ही-मन हर्षित हो रही थी। तभी राजा जितशत्रु भी चित्रशाला का निरीक्षण करता हुआ आ गया। उसकी दृष्टि मयूरपंख पर पड़ी तो उसने भी यही समझा कि किसी ने सचमुच का मयूरपंख यहाँ रख दिया है। उसने आगे बढ़कर दीवार से मयूरपंख उठाने की कोशिश की तो उसका हाथ दीवार से टकराया और उसके नाखूनों में चोट लगी। राजा झेंप गया और राजा की इस चेष्टा पर कनकमंजरी खिलखिलाकर हँस पड़ी। काफी देर तक हँसती रही। फिर बोली—'आज मेरी खाट के चारों पाये पूरे

हो गये।' कनकमंजरी के इन शब्दों को सुनकर तो राजा जितशत्रु चकित रह गया। उसने पूछा—'भद्रे ! तुम्हारे इस कथन का रहस्य क्या है?'

कनकमंजरी ने कहा—'खाट के पायों से मेरा मतलब चार मूर्खों से है। आज चार मूर्खों की गिनती पूरी हो गई।'

राजा ने पूछा कि वे चार मूर्ख कौन-कौन हैं, तो कनकमंजरी कहने लगी—

'पहला मूर्ख तो यहाँ का राजा है, जो युवक और वृद्ध की कार्यक्षमता में अन्तर नहीं करता। उसने सभी चित्रकारों को चित्र बनाने के लिए बराबर स्थान दिया है, सभी को समान पारिश्रमिक देता है तथा सभी से समान समय में काम पूरा हुआ चाहता है। जिसको इतना भी विवेक नहीं कि युवा की अपेक्षा वृद्ध व्यक्ति काम कम करेगा, वह मूर्ख नहीं तो और क्या है?'

'दूसरा मूर्ख वह घुड़सवार है जो राज-मार्ग पर तेजी से घोड़ा दौड़ाता है। उसे इतना भी विचार नहीं कि भीड़-भरे बाजार में घोड़ा दौड़ाने से किसी को चोट लग सकती है। यह भी तो मूर्खता का लक्षण है।'

'तीसरा मूर्ख मेरा पिता है। मैं जब भी भोजन लेकर आती हूँ, तभी वह शरीर-चिन्ता से निवृत्त होने जाता है, इस प्रकार भोजन ठंडा हो जाता है। उसे इतना विचार नहीं कि वृद्धावस्था में जठराग्नि मंद पड़ जाती है, इसलिए गर्म भोजन करना चाहिए, ताकि जल्दी हजम हो सके।

'चौथे मूर्ख तो आप मेरे सामने ही खड़े हैं। आपने इतना भी विचार नहीं किया कि मयूरपंख दीवार पर कैसे टिका रह सकता है, गिर नहीं पड़ेगा? आप उसे वास्तविक समझकर उठाने लगे और अपने नाखून घिस लिये। किया न मूर्खता का काम?'

कनकमंजरी की चतुराई से राजा जितशत्रु बहुत प्रभावित हुआ। उसने उसके साथ विवाह कर लिया।

अगले जन्म में कनकमंजरी ही कनकमाला बनी और राजा जितशत्रु ही प्रत्येक बुद्ध नग्गति हुए।

—उत्तराध्ययन, १८वां अध्ययन,
कमलसंयमी तथा भावविजयकृत टीका

४३. कपिल मुनि

'कौशाम्बी' नगरी में 'काश्यप' नाक का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी

का नाम श्रीदेवी तथा पुत्र का नाम कपिल था। काश्यप राजगुरु था। राजा की ओर से उसे पर्याप्त द्रव्य मिलता था। सुखी परिवार था। जनता में भी उनका काफी सम्मान था, लेकिन कपिल माता-पिता के लाड़-प्यार में अपठित रह गया।

काश्यप की मृत्यु के बाद कपिल के अनपढ़ होने से राजा ने एक दूसरे ब्राह्मण को राजपुरोहित का पद दे दिया। काश्यप के परिवार को राजा से मिलने वाला धन बन्द हो गया। परिणामस्वरूप कपिल और उसकी माता श्रीदेवी की दशा शोचनीय हो गई। वे आर्थिक तंगी में दिन गुजारने लगे।

एक दिन कपिल अपने घर के बाहर खड़ा था। सामने से राजसी ठाट में उस पुरोहित को जाते देखकर उसकी माता श्रीदेवी दुखित हो उठी। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। माता के रोने का कारण जब कपिल ने जानना चाहा, तब माता ने राजपुरोहित की सारी बात बताते हुए कहा—'तू पढ़ा नहीं, इसलिए तेरे पिता का सारा ऐश्वर्य दूसरे के हाथ में चला गया।' अपनी अज्ञता पर पश्चात्ताप करते हुए कपिल ने कहा—'माँ ! धैर्य धर, मैं अब पढूँगा। परन्तु यहाँ तो मुझे पढ़ाने वाला कोई है नहीं, क्योंकि जितने पंडित यहाँ हैं, वे सब मुझसे ईर्ष्या करते हैं। अतः किसी ऐसे पंडित का नाम बता जो मुझे पढ़ा दे।' तब माता ने 'सावत्थी' (श्रावस्ती) में रहने वाले 'इन्द्रदत्त' ब्राह्मण का नाम बताया, जो कपिल के पिता का मित्र था।

माता के संकेतानुसार कपिल वहाँ से चलकर 'सावत्थी' नगरी में 'इन्द्रदत्त' के पास पहुँचा तथा विद्या पढ़ाने की प्रार्थना की। इन्द्रदत्त ने भी अपने मित्र का पुत्र जानकर बड़े प्यार से उसे पढ़ाना प्रारम्भ किया। कपिल के लिए भोजन एवं आवास की व्यवस्था एक सेठ के यहाँ करवा दी। सेठ की एक दासी थी। वह दासी भी युवा थी और कपिल भी युवा था। दोनों का नित्य का संसर्ग प्रेम में परिवर्तित हो गया। दासी गर्भवती हो गई। अब आर्थिक समस्या सुरसा की भाँति मुँह बाये सामने आ खड़ी हुई। उस दासी ने समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा—'यहाँ के महाराज बहुत दानी हैं। प्रातःकाल जो ब्राह्मण सबसे पहले वहाँ पहुँचता है, उसे महाराज दो मासा (लगभग दो ग्राम) सोना देते हैं। आप कल प्रातः सबसे पहले वहाँ जाकर सोना ले आईये। इससे हमारी कुछ समस्या सुलझ जायेगी।'

कपिल राजदरबार में पहुँचा, पर संयोग ऐसा बना कि उससे पहले भी

कोई याचक वहाँ पहुँच चुका था। यों सात दिन तक कपिल वहाँ जाता रहा, पर सबसे पहले पहुँचने का प्रसंग उसे नहीं मिला।

आठवें दिन आधी रात को ही सोना पाने की धुन में कपिल चल पड़ा। चन्द्रमा की चाँदनी चारों ओर छिटक रही थी। इसने ज्योंही राजमहल में घुसना चाहा, पहरेदारों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया। प्रातःकाल कैदी के रूप में राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा के पूछने पर उसने सारी बात सच-सच बता दी। राजा को इसकी बात पर विश्वास हो गया। साथ ही इसकी समस्या सुनकर दया भी आयी। राजा ने इसे इच्छित माँगने के लिए कहा। कपिल ने थोड़ा सोचने का समय मांगा।

राजमहल के पीछे की वाटिका में सोचने के लिए कपिल बैठा। दो मासे सोने से मन बढ़ा, चार मासे माँग लूँ। चार से क्या होगा, यों आठ-सोलह-बत्तीस-चौंसठ से बढ़ते-बढ़ते राजा का सारा राज्य माँगने को उतावला हो उठा। दूसरे ही क्षण विचार आया—'रे कपिल ! राजा ने तो तेरे पर दया दिखाकर मन इच्छित माँगने के लिए कहा। तू इतना अधम निकला कि उसका सर्वस्व ही हथियाने को आतुर हो उठा। धिक्कार है तुझे ! वह भी किसलिए? पत्नी के लिए? कौन किसकी पत्नी है? कौन किसका पुत्र है? आया था पढ़ने के लिए और कहाँ फँस गया?' चिन्तन की धारा बदली। वहीं वाटिका में चिन्तन में सराबोर कपिल ब्राह्मण से मुनि बने। मुनि से कपिल केवली बनकर राजसभा में उपस्थित हुए। राजा और राज-सभासद मुनि की अनासक्ति पर नतमस्तक थे।

एक बार कपिल केवली कहीं विहार करके जा रहे थे। रास्ते में 'बलभद्र' आदि पाँच सौ तीस चोरों का गिरोह मिला। कपिल को पकड़कर संगीत सुनाने के लिए कहा। कपिल मुनि ने एक वैराग्योत्पादक प्रसंग[1] बहुत ही मृदु स्वर में गाया, जिससे उन चोरों के भी अन्तर्चक्षु खुल गये। वे सारे-के-सारे कपिल मुनि के पास मुनि बन गये। उन सबने दीक्षा ग्रहण कर ली। यों अनेक जनों का उद्धार कर कपिल केवली मोक्ष पधारे।

—उत्तराध्ययन, अध्ययन ८

१. उत्तराध्ययन सूत्र का आठवां अध्ययन।

४४. करकंडु (प्रत्येकबुद्ध)

अंगदेश की राजनगरी चंपापुरी का स्वामी था 'दधिवाहन'। उसकी महारानी का नाम था 'पद्मावती' जो इतिहास-प्रसिद्ध एवं द्वादशव्रती श्रावक महाराज 'चेटक' की पुत्री थी। 'पद्मावती' को धार्मिक संस्कार विरासत में ही मिले थे। 'पद्मावती' गर्भवती हुई। गर्भयोग से इसके मन में दोहद पैदा हुआ कि मैं महाराज की वेशभूषा में हाथी पर सवार होकर बैठूँ और महाराज मेरे सिर पर छत्र लिये मेरे पीछे बैठें, मैं इस प्रकार वन-क्रीड़ा करूं। दोहद की बात किसी को कहने जैसी नहीं थी, अतः मन-ही-मन घुटन लिये रानी शरीर से कृश होने लगी। उदासी का कारण अत्याग्रहपूर्वक राजा के पूछे जाने पर रानी ने सारी बात एक ही साँस में कह डाली। राजा ने धैर्य बँधाते हुए कहा—'इसमें सकुचाने और छिपाने की क्या बात है? यह तो बहुत ही सरल है।'

तत्क्षण राजा ने वैसी ही व्यवस्था की। महाराज के वेश में महारानी हाथी पर सवार हुई और महाराज पीछे छत्र लिये बैठे। गजराज वन की ओर चला। वह वन के समीप पहुँचा ही था कि इतने में अकस्मात् धुआंधार वर्षा और आँधी का आक्रमण हो उठा। वर्षा के योग से हाथी में मतवालापन चढ़ आया। वह उन्मत्त हुआ दौड़ने लगा। राजा-रानी दोनों ही घबरा गये। मृत्यु निकट-सी दीखने लगी।

भयाकुल राजा ने रानी से कहा—'अब तो बचाव का एक ही रास्ता है, सामने जो वृक्ष दिखाई दे रहा है, जैसे ही हाथी उसके समीप पहुँचे, हम उस वृक्ष की शाखा को पकड़कर इस मौत के मुँह से बचें।' दोनों शाखा को पकड़ने के लिए तैयार हो गये। राजा ने शाखा पकड़ ली, पर रानी के हाथ शाखा नहीं लगी और हाथी आगे निकल आया। राजा वृक्ष से शनैः-शनैः नीचे उतरा पर रानी को न देखकर शोकाकुल हो उठा। मन-ही-मन रानी के विरह को समेटे वापस 'चम्पापुरी' चला आया।

उधर हाथी जब दौड़ते-दौड़ते थक गया और व्याकुल हो उठा, तब एक सरोवर में पानी के लिए घुसा। रानी ने मौका देखकर सरोवर में छलाँग लगा दी और तैरकर दूसरे किनारे आ पहुँची। उस निर्जन वन में अब धैर्य और धर्म के अतिरिक्त उसका कौन सहायक हो सकता था? साहस बटोरे रानी कुछ ही दूर आगे बढ़ी कि एक वृद्ध तापस मिला। उसे जब पता चला कि वह रानी पद्मावती है, महाराज चेटक की पुत्री है तो उसने धैर्य बँधाया। अपने आश्रम

में ले जाकर फल-फूल खिलाये। इसके बाद वह पद्मावती को 'दत्तपुर' नगर की ओर ले चला। जब दूर से नगर दीखने लगा तब उसने कहा—'इस दत्तपुर नगर का स्वामी बहुत ही न्यायनिष्ठ और धर्मप्रिय है। वह तुम्हें 'चेटक' के पास पहुँचाने की सही व्यवस्था कर देगा। मैं भी आगे चलता, पर आगे जमीन जोती हुई है। मैं जोती हुई जमीन पर पैर नहीं रखता, अतः तुम चली जाओ।'

महारानी पद्मावती कलिंग देश के दत्तपुर नगर में पहुँची। नगर में इधर-उधर फिर रही थी, इतने में कुछ साध्वियाँ नजर आयीं। वह उनके साथ चली गई। दुःखों से घिरे व्यक्ति पर उपदेश का प्रभाव शीघ्र ही होता है। अतः उसे उपदेश लग गया। वह साध्वी बन गई। पर संकोचवश गर्भ की चर्चा रानी ने किसी के सामने नहीं की। अपनी गुरुणीजी को भी नहीं बताई। यथासमय जब प्रसव-पीड़ा होने लगी, तब साध्वीश्री ने किसी विश्वस्त श्राविका के यहाँ सारी प्रसव-क्रिया परिसंपन्न की। एक सुन्दर और सौभाग्यवान पुत्र पैदा हुआ। साध्वी पद्मावती ने उस शिशु को दधिवाहन नामांकित मुद्रिका पहना दी तथा रत्नकंबल में लपेटकर श्मशान भूमि में ले जाकर भाग्य के भरोसे छोड़ दिया। जब वापस लौटी तब झाड़ी की ओट में खड़ी होकर देखने लगी कि देखें, इसका क्या होता है? इस शिशु को कौन ले जाता है? यह किसके यहाँ पलता है?

इतने में श्मशान संरक्षक चण्डाल आया और उसे अपने घर ले गया तथा अपन पुत्र माना। पद्मावती उस चाण्डाल के पीछे-पीछे जाकर उसका घर देख आयी तथा वापस लौटकर साध्वियों से कह दिया, मृत बालक उत्पन्न हुआ था अतः श्मशान भूमि में विसर्जित कर दिया। बात आयी-गयी हो गई।

चाण्डाल ने इसका नाम 'अववर्णिक' रखा। पर बालक अपने हाथ से अपने शरीर को खुजलाता अधिक था इसीलिए इसका नाम 'करकण्डु' पड़ गया। यही नाम अधिक प्रसिद्ध हुआ।

साध्वी पद्मावती बीच-बीच में चाण्डाल के घर की ओर जाकर उसे देख आती। बालक प्रतिभाशाली निकला। छः वर्ष की उम्र में ही पिता ने इसे श्मशान की रखवाली का काम सौंप दिया।

एक दिन श्मशान भूमि से होकर दो मुनि गुजरे। वहाँ एक पोटी (गाँठ) के बाँस को उगा देखकर गुरु ने शिष्य से कहा—'यह बाँस जब चार अंगुल

का होगा तब इसे जो रखेगा वह निश्चित ही राजा होगा।' यह बात करकण्डु ने भी सुनी तथा पास खड़े ही एक ब्राह्मण के बालक ने भी। मौका देखकर वह ब्राह्मण का बालक उसे उखाड़कर ले जाने लगा तब करकण्डु ने भी आकर उससे छीनना चाहा। दोनों में विवाद बढ़ा। आखिर पंचों के पास यह विवाद पहुँचा। पंचों ने झगड़े का कारण जानना चाहा। 'करकण्डु' ने सारी बात साफ-साफ सुना दी। पंचों ने भी वह बाँस करकण्डु को दिलाते हुए कहा—'तू राजा बने तो एक गाँव इस ब्राह्मण के बालक को अवश्य दे देना।' करकण्डु ने साधिकार कहा—'हाँ, अवश्य दूँगा।'

बाँस के टुकड़े का विवाद तो समाप्त हो गया। परन्तु इस निर्णय को समूची ब्राह्मण जाति ने अपना घोर अपमान समझा। बदला लेने के लिए करकण्डु को मारने का षड्यन्त्र रचा जाने लगा। करकण्डु के पिता को इस बात की भनक लग गई। अतः वह अपनी पत्नी और पुत्र को लेकर रातों-रात वहाँ से भाग खड़ा हुआ। चलते-चलते कलिंग देश की राजधानी 'कंचनपुर' में पहुँचा।

संयोगवश वहाँ निःसंतान राजा की मृत्यु हो गई थी। नया राजा चुनने के लिए मंत्रियों और प्रजा ने हथिनी, अश्व आदि सजाए और उनके पीछे-पीछे चलने लगे। हथिनी करकण्डु के पास आयी और उसके गले में पाँचवर्णी पुष्पों की माला डाल दी। उसी समय अश्व भी हिनहिना उठा। 'करकण्डु' को राजा घोषित करवा दिया गया। कइयों ने इसे चाण्डाल समझकर आपत्ति की, तब करकण्डु का क्रोध भड़क उठा। वह हाथ में राजदण्ड घुमाता हुआ बोला—'मुझे यह राजदण्ड भिक्षा में नहीं मिला। इसकी सुरक्षा मैं अपने भुजदण्डों से करूँगा, सबने उसे प्रतापी राजा स्वीकार किया।

उस ब्राह्मण को जब मालूम पड़ गया कि करकण्डु कलिंग का राजा बन गया है तो उसने उसकी राजसभा में आकर एक गाँव की याचना करते हुए कहा—'मैं 'चम्पानगर' के पास के जिस गाँव में अब तक रहता आया हूँ, वही गाँव मुझे दीजिए।'

राजा भी स्तम्भित रह गया, क्योंकि वह जानता था कि वह गाँव महाराज दधिवाहन का है। दूसरे का गाँव किसी को कैसे दिया जाये? इसीलिए करकण्डु ने दधिवाहन के पास अपना दूत भेजकर कहलाया कि इस ब्राह्मण को मन इच्छित गाँव दे दीजिए और उसके बदले में उतनी ही भूमि अथवा उससे दुगुनी भूमि आप कलिंग देश में से ले लीजिए।

दूत की बात सुनकर दधिवाहन फुफकार उठा। यद्यपि करकण्डु की बात अनुचित नहीं थी, फिर भी सत्ता का गर्व अनूठा होता है। राजा ने कहा—'यह अदला-बदली का कार्य बनियों का होता है, क्षत्रियों का नहीं।'

दोनों ओर बात तन गई। युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। दोनों ओर की विशाल सेनाएं आमने-सामने आ जमीं। समरांगण का दृश्य उपस्थित हो गया।

जैसे ही साध्वी पद्मावती को यह बात ज्ञात हुई वे गुरुणीजी की आज्ञा लेकर युद्धभूमि में आयीं और सारे रहस्य का उद्घाटन स्पष्ट रूप से कर दिया कि दधिवाहन और करकण्डु आपस में पिता-पुत्र हैं।

अब तो पिता और पुत्र गले लगकर मिलना ही था। पद्मावती को साध्वी के रूप में देखकर 'दधिवाहन' का हृदय भी विरक्त हो उठा। अंग और कलिंग का एकमात्र शासक करकण्डु को बनाकर वह स्वयं दीक्षित हो गया।

करकण्डु को गौओं से अधिक प्रेम था। उसकी गौशाला भी विशाल थी। राजा स्वयं उसकी देख-रेख में सजग रहता था। एक दिन एक श्वेत गौ-वत्स को देखकर राजा पुलकित हो उठा। राजा को वह बहुत ही प्रिय लगा। राजा की आज्ञा से उसकी अधिक सार-सम्हाल होने लगी। थोड़े ही दिनों में वह एक पुष्ट कंधों द्वारा सबल वृषभ बन गया। सारी गौशाला में वही और वही नजर आता था। राजा करकण्डु भी उसे देखकर बहुत प्रसन्न होता था।

कुछ वर्षों तक राजा अन्यान्य कर्मों में अधिक लगा रहने के कारण गौशाला की ओर नहीं आ सका। एक दिन गया, तब वह वृषभ नजर नहीं आया। पूछने पर बताया गया कि वह सामने जो मरियल-सा वृषभ बैठा है, जिस पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, यह वही वृषभ है। उसकी यह दशा वृद्धावस्था के कारण हो गई है।

राजा के विचारों में अकल्पित ज्वार आया। वृद्धावस्था के इस दृश्य ने दिल को झकझोर डाला। चिन्तन में सराबोर हो उठा। सहसा जाति-स्मरणज्ञान हो गया—मन-ही-मन संयम स्वीकार कर लिया। देवताओं ने करकण्डु को मुनि-वेश प्रदान किया। करकण्डु वन की ओर चल पड़े और प्रत्येकबुद्ध बनकर पृथ्वी पर विचरण करने लगे। अन्त में केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में विराजमान हो गये।

—उत्तराध्ययन, अ. १८
आवश्यक निर्युक्ति १३११

४५. कलावती

देवशाल नगर के राजा विजयसेन के श्रीमती नाम की रानी थी। उनके एक पुत्र था—जयसेन तथा पुत्री थी कलावती। कलावती अपूर्व सुन्दर और गुणवती थी। जब वह विवाह योग्य हुई तो उसका चित्र लेकर एक चित्रकार शंखपुर देश के राजा शंख के पास गया। राजा शंख उस चित्र पर मोहित हो गया। पूछने पर चित्रकार ने बताया, जो भी पुरुष इस कन्या द्वारा पूछे गये चार प्रश्नों का उत्तर देगा, स्वयंवर में यह कन्या उसी के गले में वरमाला डालेगी।

राजा मोहित तो था ही, उसने सरस्वती देवी की आराधना की। देवी ने प्रकट होकर बताया—'स्वयंवर-मण्डप के एक स्तंभ पर पुतली बनी होगी। उस पर हाथ रख देना। वह राजकुमारी के चारों प्रश्नों का उत्तर दे देगी।'

राजा शंख ने स्वयंवर-मंडप में जाकर ऐसा ही किया। उसका विवाह राजकुमारी कलावती के साथ हो गया। राजा शंख और रानी कलावती बड़े प्रेम से रहने लगे। रानी कलावती गर्भवती भी हो गई।

एक बार कलावती का भाई जयसेन वहाँ आया। अन्य अनेक वस्त्राभूषणों के अतिरिक्त उसने अपनी बहन को दो बहुमूल्य कंगन भी दिये। कंगन पहनकर वह बहुत खुश हुई। वह दासी से कहने लगी—'मुझ पर उसका कितना स्नेह है कि इतने कीमती और खूबसूरत कंगन भेंट किये हैं। उसके प्रेम को मैं शब्दों में नहीं कह सकती।'

रानी के अन्तिम शब्द राजा शंख ने सुन लिये। वह उस समय उसके कक्ष के पास से ही गुजर रहा था। उसे यह भ्रम हो गया कि रानी किसी दूसरे पुरुष से प्रेम करती है। इस भ्रम के कारण राजा ने उसे जंगल में छुड़वा दिया और चाण्डालों से कहकर दोनों हाथ कटवा लिये।

शोक के तीव्र आघात से रानी कलावती मूर्च्छित हो गई। जब उसे होश आया तो वह रुदन करने लगी। लेकिन उसके रुदन को सुनने वाला कौन था? स्वयं ही चुप हो गई। इसी दशा में वन में एक नदी के किनारे उसने पुत्र प्रसव किया।

वह पुत्रवती तो बन गई, लेकिन पुत्र को उठाने और उसका पालन-पोषण करने के लिए उसके पास हाथ न थे। शोकार्त होकर उसने अपने शीलधर्म की दुहाई दी तो नदी की अधिष्ठात्री देवी ने उसके हाथ वापस दे दिये।

उसने अपने पुत्र को उठा लिया और उसे स्तन-पान कराने लगी, तभी कुछ

तापस उधर आ निकले। वे रानी को अपने आश्रम में ले गये। आश्रम में रहकर रानी अपने पुत्र का पालन-पोषण करने लगी।

इधर चाण्डालिनियों ने शंख राजा को रानी कलावती के कंगन सहित कटे हुए हाथ दिये। उन कंगनों पर जयसेन नाम पढ़कर राजा को अपनी भूल मालूम हुई। वह पछताने लगा, बहुत दुखी हुआ। उसने खोजी घुड़सवार दौड़ाये। रानी कलावती का पता चल गया। राजा स्वयं जाकर उसे तापस आश्रम से ले आया। राजा उसके शीलधर्म से बहुत प्रभावित हुआ। दोनों फिर सुख से रहने लगे।

एक बार शंखपुर में एक ज्ञानी मुनि आये। राजा शंख और रानी कलावती उनके दर्शनार्थ गये। रानी ने जिज्ञासा प्रकट की—'गुरुदेव ! निरपराधिनी होते हुए भी मेरे हाथ क्यों काटे गये? इसका क्या कारण है?'

गुरुदेव ने बताया—'पिछले जन्म में तुम महेन्द्रपुर के राजा नर-विक्रम की पुत्री सुलोचना थीं। राजा नर-विक्रम को भेंट में एक तोता मिला। तुम उसे बड़े प्रेम से पालने लगीं। एक बार तुम उस तोते को साथ लेकर मुनि-दर्शन के लिए गईं। मुनि के दर्शन करते ही तोते को जाति-स्मरण-ज्ञान हो गया। वह जान गया कि 'मैं पिछले जन्म में मुनि था, लेकिन परिग्रह की उपाधि के कारण मैंने संयम की विराधना कर दी, इसलिए तोता बना हूँ।' ऐसा जानते ही उसने नियम बना लिया कि 'मैं भगवान, मुनि अथवा त्यागीजनों के दर्शन-वंदन के बाद ही आहार ग्रहण किया करूँगा।'

दर्शनों के लिए अब तोता पिंजरे से निकलकर उड़ जाता। एक बार वह कई दिनों तक वापस नहीं आया। सुलोचना को यह बहुत बुरा लगा। जब तोता वापस आया तो उसने उसके पंख काट दिये ताकि वह उड़ ही न सके।

मुनिराज ने बताया—उस तोते का जीव ही शंख राजा बना है, और पंख कटवाने के कारण ही तुम्हारे भी हाथ काटे गये।

यह घटना जानकर राजा शंख और रानी कलावती प्रतिबुद्ध हो गये तथा आगे ग्यारहवें भव में मुक्त हो गये।

—पुहवीचन्द चरियं

४६. कयवन्ना शाह (कृतपुण्य)

राजगृह का श्रेष्ठी धनदत्त अपार लक्ष्मी का स्वामी था। उसकी पत्नी का नाम था—वसुमती। सेठ-सेठानी को सभी सुख थे लेकिन संतान का अभाव उनका

सबसे बड़ा दुःख था, जिसके कारण वे धन के भण्डार और विशाल सुख-साधनों के मध्य रहकर भी निरंतर दुःखी रहते थे।

काफी आयु बीतने के बाद सेठ-सेठानी के कृत पुण्य उदय में आये। सेठानी गर्भवती हो गई। उसने सुन्दर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। श्रेष्ठी धनदत्त ने बड़े उत्साह से पुत्र-जन्मोत्सव मनाया। सम्पूर्ण नगर ने बधाईयाँ दीं। समारोहपूर्वक पुत्र का नाम कयवन्ना शाह (कृतपुण्य) रखा गया।

धीरे-धीरे कृतपुण्य युवा हो गया। इसका विवाह इसी नगरी में सेठ सागरदत्त की पुत्री जयश्री के साथ कर दिया गया।

जयश्री कुलीन थी और कृतपुण्य लोक-व्यवहार से अनभिज्ञ। वह नहीं जानता था कि पत्नी से किस प्रकार का व्यवहार किया जाता है। कुलीन होने के कारण जयश्री भी अपनी ओर से उसे तनिक भी संकेत नहीं देती थी। अपनी अनभिज्ञता के कारण कृतपुण्य जयश्री के प्रति उदासीन रहता, दाम्पत्य सुख का भोग न करता।

कृतपुण्य की यह उदासीनता और गृहस्थ-सुख-भोग की अनभिज्ञता उसकी माता वसुमती से छिपी न रही। उसने पुत्र से तो कुछ न कहा, पर अपने पति धनदत्त से आग्रह किया तथा हठ ठानकर बैठ गई कि 'कृतपुण्य को नगर की वेश्या देवदत्ता के पास भेज दिया जाये। वह इसे काम-कला में प्रवीण कर देगी। तब यह स्त्री-सुख के बारे में जानकर हमारी वंश-वृद्धि कर सकेगा।'

श्रेष्ठी धनदत्त ने पत्नी को बहुत समझाया, वेश्याओं के अवगुण बताये, वेश्यागमन की हानियाँ तथा कुल के कलंकित होने की बात कहीं; लेकिन त्रिया-हठ के आगे उसकी एक न चली। आखिर पिता की प्रेरणा और मित्रों के माध्यम से कृतपुण्य वेश्या देवदत्ता के भवन में पहुँच ही गया। वेश्या देवदत्ता के घर में उसे मदिरा-पान आदि अन्य व्यसन भी लग गये। देवदत्ता ने अपने हाव-भावों से उसे पूरी तरह अपने वश में कर लिया।

देवदत्ता की माँ थी सुलोचना। वह बड़ी ही अनुभवी थी। उसे ग्राहकों से धन ऐंठना खूब आता था। उसने कृतपुण्य को भी अपने वाग्जाल में फँसाया कि उसने एक हजार स्वर्ण-मुद्राएं प्रतिदिन अपने घर से मँगाकर देने का वायदा कर दिया; और पिता धनदत्त ने भी पुत्र के वायदे को पूरा करने का वचन दे दिया।

अब श्रेष्ठी धनदत्त के घर से नित्य एक हजार मुद्राएं आने लगीं। देवदत्ता का घर भरने लगा और धनदत्त का घर खाली होने लगा।

धन की चोट मनुष्य पर बड़ी कड़ी होती है। दो-तीन वर्ष में ही श्रेष्ठी धनदत्त और सेठानी वसुमती चल बसे। उनका व्यापार उजड़ गया। फिर भी जयश्री एक हजार मुद्राएं नित्य भेजती रही। एक दिन जब मुद्राएं समाप्त हो गईं तो उसने अपने आभूषण ही दे दिये। आभूषण देखते ही अनुभवी सुलोचना समझ गई कि अब कृतपुण्य के घर में धन नहीं रहा है। अत: उसने उसे निचुड़े आम की तरह अपने घर से निकाल दिया।

कृतपुण्य अपने घर पहुँचा तो वहाँ की दशा देखकर बहुत दु:खी हुआ। माता-पिता के मरने की बात जानकर उसके पश्चाताप की सीमा न रही। पत्नी जयश्री ने उसका हार्दिक प्रेम-भरा स्वागत किया, उससे तो वह विह्वल ही हो गया। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे। उसे वेश्या नागिन के समान और पत्नी देवी के समान लगने लगी। काफी देर तक दोनों पति-पत्नी सुख-दु:ख की बातें करते रहे और फिर पत्नी तो सो गई लेकिन पति कृतपुण्य ने धनोपार्जन का निश्चय कर लिया।

निर्णय तो कर लिया कृतपुण्य ने, लेकिन समस्या थी पूंजी की। बिना पूंजी के व्यापार कैसे होता? इस समस्या को उसकी पत्नी जयश्री ने हल किया। उसने अपने आभूषण दे दिये। एक सार्थ राजगृह के गुणशीलक उद्यान से बसन्तपुर जा रहा था। कृतपुण्य ने उसी के साथ जाने का निश्चय कर लिया; कहीं सार्थ प्रात: जल्दी ही प्रस्थान न कर जाये, इसलिए वह रात को ही आभूषणों की पोटली लेकर उद्यान में बने चैत्यालय में जा सोया।

राजगृह में ही एक चम्पा नाम की विधवा सेठानी रहती थी। उसके पास दुर्ग जैसा भवन था, अकूत धन था और था एक बेटा। पुत्र का विवाह उसने चार कन्याओं के साथ किया। अभी कोई भी गर्भिणी नहीं हुई थी कि चम्पा का इकलौता पुत्र सार्थ लेकर व्यापार के लिए परदेस गया, किन्तु रास्ते में डाकुओं ने सार्थ तो लूटा ही, उसके इकलौते पुत्र को भी जान से मार डाला। चम्पा सेठानी को यह सूचना जन सार्थ से जान बचाकर भागे हुए एक नौकर (भृत्य) से मिली तो वह बड़ी चिन्तित हुई—पुत्र के लिए नहीं, धन के लिए; क्योंकि उस समय की प्रथा के अनुसार सन्तानहीन का धन राजकोष में जमा कर लिया जाता था। चम्पा सेठानी ने नौकर को यह बात किसी से न कहने का आदेश दिया और उसे मुँह बन्द रखने के लिए काफी धन भी दे दिया। भृत्य चला गया।

अब विधवा सेठानी चम्पा किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में लगी, जिसे वह अपने घर में बन्द करके रख सके और जिसके माध्यम से अपनी बहुओं को पुत्रवती बनवा सके, ताकि उसका धन उसी के पास सुरक्षित रहे।

ढूंढती-खोजती विधवा सेठानी वहीं आ गई जहाँ कृतपुण्य सो रहा था। उसने चार भृत्य बुलवाकर कृतपुण्य को उठवाया और अपने घर ले आयी। अपनी बहुओं से उसने कहा—'बहुओं ! मेरा एक बेटा बचपन में ही घर से चला गया था। आज यक्ष ने मुझे बताया कि बाहर गुणशीलक उद्यान के चैत्यालय में वह सो रहा है। इसलिए मैं इसे सोते ही उठवा लायी हूँ। अब देवाज्ञा से तुम सब इसे ही अपना पति मानो।'

यद्यपि बहुओं को सेठानी की बात पर विश्वास नहीं हुआ, किन्तु उन्हें उसकी बात माननी पड़ी, क्योंकि घर में उसी का शासन चलता था।

इधर जब कृतपुण्य की नींद टूटी तो अपने को इस दुर्ग जैसे भवन में देखकर बहुत चकराया। सेठानी चम्पा ने उससे कहा—'तुम मेरी चारों पुत्रवधुओं को अपनी पत्नी मानो, उनके पति बनकर यहीं रहो।' साथ ही धमकी भी दे दी कि 'यदि मेरी बात नहीं मानोगे तो इस भवन के तलघर में तड़प-तड़पकर मरना पड़ेगा।' कृतपुण्य इस धमकी के सामने विवश हो गया। वहीं रहने लगा। बारह वर्ष तक वह वहीं रहा और विधवा सेठानी चम्पा की चारों पुत्रवधुओं के चार-चार पुत्र हो गये। अब सेठानी चम्पा को कृतपुण्य की कोई जरूरत नहीं थी। उसका स्वार्थ सिद्ध हो चुका था। उसने बहुओं को आदेश दिया कि इसे निकाल दो।

बहुओं ने सास की खुशामद करके पाथेय रखने की स्वीकृति ले ली। स्वीकृति पाकर चारों ने चार मोदक बनाये और प्रत्येक में एक-एक बहुमूल्य रत्न छिपा दिया। मोदकों की पोटली कृतपुण्य के सिहारने रखकर इसे सोता हुआ ही गुणशीलक उद्यान के उसी चैत्यालय में रखवा दिया। निद्रा खुलने पर सुबह कृतपुण्य मोदकों की पोटली सहित अपने घर पहुँचा। उसका अपना पुत्र विजय भी अब बारह वर्ष का हो चुका था। जयश्री और विजय दोनों ही कृतपुण्य को देखकर बहुत खुश हुए।

जयश्री ने उन मोदकों में से एक मोदक विजय को खाने के लिए दे दिया। विजय मोदक लेकर बाहर चला गया और उसे तोड़कर खाने लगा। अन्दर पति-पत्नी वियोग के दिनों की बातें करने लगे।

मोदक में से एक रत्न निकला तो विजय ने उसे चमकीला पत्थर ही समझा। वह मणि को क्या जानता था? उसको लेकर वह एक हलवाई की दूकान पर गया। हलवाई मणि को देखने लगा। अचानक मणि उसके हाथ से छूटकर पानी में गिर गई। तुरन्त पानी दो भागों में बँट गया। हलवाई चमत्कृत रह गया। वह समझ गया कि यह जलकान्त मणि है, क्योंकि आज ही प्रातःकाल उसने राजा श्रेणिक की घोषणा सुनी थी कि 'जिसके पास जलकान्त मणि हो, वह हमें दे दे। हम उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देंगे और सौ गाँव ईनाम भी देंगे।'

इस घोषणा का कारण यह था कि श्रेणिक के प्रिय हाथी सेचनक को एक ग्राह ने पकड़ लिया था, और अनेक उपाय करने पर भी वह उसे छोड़ नहीं रहा था। तब अभयकुमार ने युक्ति सोची—जलकान्त मणि के द्वारा पानी को दो भागों में विभाजित कर दिया जाए। बीच में मगर के आसपास सूखा होने से उसकी शक्ति कम हो जाएगी और सेचनक उसकी पकड़ से छूट जाएगा।

हलवाई को इनाम के साथ राज-जामाता बनने का भी लालच था। उसने विजय को भरपेट मिठाई खिलाकर विदा किया और स्वयं मणि लेकर राजा श्रेणिक के पास जा पहुँचा। अभय की युक्ति काम कर गई, सेचनक हाथी ग्राह की पकड़ से छूट गया।

अब राजा श्रेणिक को अपना वचन पूरा करना था। उसने देखा कि हलवाई बूढ़ा खूसट है तो बहुत निराश हुआ। अपनी फूल-सी बेटी को इस कब्र में पाँव लटकाए बूढ़े के पल्ले कैसे बाँध दे? उसने इस समस्या के समाधान के लिए अभय से फिर युक्ति पूछी। अभय ने भी उचित उपाय करने का वचन दिया।

इधर संध्या के समय जब जयश्री अपने पति कृतपुण्य को भोजन करा रही थी तो उसने उन्हीं शेष तीन मोदकों में से एक मोदक परोसा। मोदक तोड़ने पर उसमें से एक रत्न निकला। जयश्री चकित रह गई। उसने शेष दोनों मोदक भी तोड़ डाले। उनमें भी एक-एक रत्न निकला। कृतपुण्य भी चकित रह गया। जयश्री समझी की पतिदेव इस तरह छिपाकर अपना अर्जित धन लाये हैं। फिर भी उसने पूछा तो कृतपुण्य ने भी यही कह दिया कि ये रत्न मेरा उपार्जित धन हैं। जयश्री संतुष्ट हो गई। लेकिन तुरन्त उसके मस्तिष्क में यह बात आयी कि विजय के मोदक में भी रत्न निकला होगा, वह कहाँ गया? उसने यह बात पति

से कही। विजय को बुलाकर पूछा तो उसने हलवाई का पता बता दिया। कृतपुण्य अपने पुत्र विजय को साथ लेकर हलवाई के पास गया और उससे मणि माँगी तो उसने साफ इन्कार कर दिया। कृतपुण्य ने हलवाई की शिकायत अभय से कर दी। अभय समझ गया कि मणि का वास्तविक स्वामी कृतपुण्य ही है। उसने हलवाई को प्राणदण्ड देने की धमकी दी तो वह सबकुछ उगल गया, उसने सच-सच बता दिया। कृतपुण्य को मणि मिली ही, साथ ही वह राज-जामाता भी बन गया।

अब कृतपुण्य ने चम्पा सेठानी की चारों पुत्रवधुओं को उनकी सास के शासन से मुक्त कराने का विचार किया। उसने अपनी पत्नियों तथा अभयकुमार को सब कुछ साफ-साफ बता दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि 'मैं उस भवन के बारे में कुछ भी नहीं जानता कि वह राजगृह में ही है या कहीं और; लेकिन उन स्त्रियों का उद्धार अवश्य करना चाहता हूँ।'

इधर देवदत्ता को जैसे ही कृतपुण्य का समाचार मिला, वह अपनी माता सुलोचना से विद्रोह करके कृतपुण्य के पास आ गई। कृतपुण्य ने उसे एक अलग भवन में रख दिया।

इतने समय में अभयकुमार ने अपनी योजना साकार करने के लिए एक यक्ष मन्दिर बनवाया और नगर में घोषणा करा दी कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष यक्ष की पूजा करेगा, अन्यथा नगर में महामारी फैल जाएगी। इसलिए राजाज्ञा है कि प्रत्येक नर-नारी यक्ष का पूजन अवश्य करे।

निश्चित दिन यक्ष-मन्दिर में नगर के सभी नर-नारी यक्ष-पूजन हेतु आये। कृतपुण्य और कुछ राजसेवक गुप्त रूप से उन्हें देख रहे थे। जैसे ही विधवा सेठानी चम्पा अपनी चारों पुत्रवधुओं और पौत्रों के साथ यक्षायतन में आयी कि कृतपुण्य ने उन्हें पहचान लिया। उसने राजसेवकों को सब कुछ समझा दिया। गुप्तचर सेठानी के पीछे-पीछे गये और उसके भवन को देख आये।

दूसरे दिन कृतपुण्य चम्पा सेठानी के भवन में पहुँच गया। राज-जामाता को रोकने का साहस चम्पा सेठानी में नहीं था। कृतपुण्य उन चारों स्त्रियों तथा अपने सोलहों पुत्रों को अपने साथ ले आया।

अब सातों पत्नियों के साथ उसके दिन बड़े सुख से बीत रहे थे। उसका पूर्ण भाग्योदय हो चुका था। सुख-सामग्री होते हुए भी कृतपुण्य सदाचारी, धर्मनिष्ठ और आचरणशील पुरुष था।

एक बार वीर प्रभु जन-जन का उपकार करते हुए राजगृह पधारे। कृतपुण्य भी पत्नियों सहित उनके समवसरण में गया। उसने अपने वर्तमान जीवन की उलट-फेर भरी घटनाओं के बारे में जिज्ञासा प्रकट की। वीर प्रभु ने उसका पूर्वभव सुनाया—

श्रीपुर नगर में सुरादित्य नाम का एक सद्‌गृहस्थ रहता था। उसकी पत्नी का नाम रत्ना और पुत्र का नाम प्रसन्नादित्य था। कुछ दिनों बाद सुरादित्य चल बसा। प्रसन्नादित्य अनाथ हो गया। माँ-बेटे को गुजारा चलाना भी मुश्किल हो गया। वे दोनों अन्य श्रेष्ठियों के घर मजदूरी करके अपना पेट पालने लगे। माता अनाज-मसाले आदि पीस देती और पुत्र गाय-भैंसें चरा लाता।

एक बार कोई त्यौहार आया। सभी घरों में खीर बनने लगी। प्रसन्नादित्य भी खीर खाने को मचल गया। तब पड़ोसिनों ने इसकी जिद रखने के लिए खीर बनाने की सामग्री दे दी। रत्ना ने खीर बनाई और पुत्र के लिए एक थाली में परोस दी। उसी समय मासिक व्रतधारी एक मुनि पारणा हेतु उधर आ निकले। प्रसन्नादित्य ने खीर के तीन भाग किये और उनमें से एक भाग श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मुनि को दिया, फिर दूसरा भाग भी दिया और अन्त में तीसरा भाग भी दे दिया। इस प्रकार उसने महान पुण्य का उपार्जन किया। पास ही छः स्त्रियाँ खड़ी थीं। उन्होंने दान का अनुमोदन करके पुण्य का उपार्जन किया। लेकिन प्रसन्नादित्य की माता रत्ना ने नाक-भौं सिकोड़े। उनका अपवाद किया।

प्रभु ने आगे बताया—प्रसन्नादित्य ही इस जन्म में कृतपुण्य बना। जिन छः स्त्रियों ने दान की अनुमोदना की, वे उसकी छः पत्नियाँ बनीं और मुनि का अपवाद करने के कारण रत्ना देवदत्ता नाम की वेश्या बनी।

इसके बाद जब प्रभु से कृतपुण्य ने देवदत्ता द्वारा सर्वस्वहरण करने के बाद तिरस्कृत करके अपने घर से निकाल देने का कारण पूछा तो प्रभु उसे उसके तीसरे पूर्वजन्म की घटना सुनाने लगे—

किसी नगर में चन्द्र और भद्र नाम के दो मित्र रहते थे। चन्द्र ने एक बार अपने घर में कोई उत्सव किया। इस उत्सव में चन्द्र ने अपने मित्र भद्र को भी आमंत्रित किया और पत्नी को पहनने के लिए उसका हार माँगा। भद्र ने हार दे दिया। अब चन्द्र की नीयत उस हार पर खराब हो गई। उसने हार वापस न दिया। जब भद्र ने अपना हार वापस माँगा तो साफ इन्कार कर दिया। भद्र अपने मित्र चन्द्र की इस बेईमानी से बहुत दुःखी हुआ। उसने निदान किया

कि मैं चन्द्र की सारी सम्पत्ति का हरण करूंगा। इस निदान की आलोचना किये बिना ही वह मर गया। भद्र ही दूसरे जन्म में रत्ना बना और तीसरे जन्म में वेश्या देवदत्ता। उस निदान के कारण ही देवदत्ता ने कृतपुण्य का सर्वस्व हरण कर लिया।

इन घटनाओं से कृतपुण्य प्रतिबोधित हो गया। उसके साथ ही उसकी सातों पत्नियों ने भी संयम ले लिया।

—(क) चन्द्रतिलक उपाध्याय रचित—अभयकुमार चरितं महाकाव्य, सर्ग ६ के आधार से।

—(ख) कवि जायसी द्वारा रचित कयवन्ना शाह नो रास

४७. कछुआ की कथा

वाराणसी नगरी में बहने वाली गंगा नदी के किनारे पर मृदंग नाम का एक द्रह (तालाब) था। उसमें गुप्तेन्द्रिय और अगुप्तेन्द्रिय नाम के दो कछुए रहते थे। वे दोनों कभी-कभी किनारे पर आकर तालाब की शीतल रेती में क्रीड़ा करते रहते थे।

एक बार वे दोनों तालाब की रेती में आये। दूर से उन दोनों को दो श्रृगालों ने देख लिया। उन्होंने ने भी श्रृगालों को देख लिया। श्रृगाल तो माँसभोजी होता ही है। इन्हें श्रृगाल के रूप में मृत्यु साक्षात् दिखाई देने लगी। भय के मारे इनके हृदय काँपने लगे। ये तालाब से इतनी दूर थे कि पानी में कूदकर अपने प्राण बचाना संभव न था। ये पानी तक पहुँचते तब तक श्रृगाल दौड़कर आते और इन्हें चट कर जाते। सोचते-सोचते इन्हें एक उपाय सूझ गया। इन्होंने अपने चारों पाँव और गर्दन समेटे और पीठ की ढाल के अन्दर छिपा लिये तथा मरे हुए के समान स्थिर हो गये।

अपना भोज्य जानकर श्रृगाल इनके पास आये। उन्होंने इन पर पाद-प्रहार किये, उलटा-पलटा, लेकिन ये दोनों तो शव के समान ही पड़े रहे, तनिक भी हलन-चलन न किया और न जीवित होने का कोई लक्षण ही प्रकट किया। श्रृगाल यह देखकर वहाँ से चले गये और एक झाड़ी की ओट में छिपकर बैठ गये।

अगुप्तेन्द्रिय नाम का कछुआ चंचल स्वभाव वाला था। वह अधिक देर तक अपने अंगों को संकोच कर नहीं रह सकता था। उसने समझा कि श्रृगाल

चले गये हैं, तो वह चारों पैरों और गर्दन को निकालकर चला। यह देखते ही दोनों श्रृगाल दौड़कर आये और उस पर टूट पड़े, उसका प्राणान्त कर दिया।

लेकिन गुप्तेन्द्रिय नाम का कछुआ दीर्घकाल तक उसी स्थिति में पड़ा रहा। श्रृगालों को विश्वास हो गया कि यह मरा हुआ है। वे वहां से चले गये। जब कछुए ने भली-भांति चारों ओर सावधानी से देख लिया कि श्रृगाल चले गये हैं तो वह पानी में कूद गया और वहां सुख से रहने लगा। उसकी प्राण रक्षा हो गई।

इसी तरह पांचों इन्द्रियों को वश में रखने वाला प्राणी सुखी होता है।

—ज्ञाताधर्मकथा, अ. ४

—उपदेश प्रासाद, भाग ५

४८. कामदेव (श्रमणोपासक)

श्रावक 'कामदेव' चम्पानगरी का निवासी था। उसकी पत्नी का नाम 'भद्रा' था। कामदेव एक समृद्ध गृहपति था। उसके यहाँ छः कोटि सोनैया व्यापार में, छः कोटी सोनैया गृह उपकरणों में तथा छः कोटि सोनैया सुरक्षित निधि के रूप में जमीन में थीं। वह व्यापार के साथ-साथ कृषि-कर्म भी किया करता था। उसके पास गायों के छः गोकुल भी थे। प्रत्येक गोकुल में दस हजार गाएं थीं। भगवान् महावीर के पास उसने और उसकी पत्नी 'भद्रा' ने श्रावकधर्म स्वीकार किया और उसकी निरतिचार पालना करने लगा। अवस्था के परिपाक के साथ-साथ गृहस्थी का सारा भार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर स्वयं धर्म-क्रिया में लीन रहने लगा।

एक बार पौषधशाला में बैठा वह पौषध में तल्लीन था, उस समय एक मिथ्यात्वी देव आया। कामदेव को धर्म से विचलित करने के लिए महाभयंकर रौद्र पिशाच का रूप बनाया और फिर उसे मरणान्तक उपसर्ग देते हुए कहा— 'हे नराधम ! तू अपने व्रतों को छोड़। भगवान् महावीर का नाम रटना छोड़। आँख खोलकर मेरी ओर देख, अन्यथा अभी-अभी इस तलवार से तेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े करता हूँ।' यों कहकर तलवार का वार किया। पर कामदेव अविचल रहा।

तब क्रुद्ध होकर देव ने हाथी, सिंह, बाघ, सर्प आदि अनेक रूप बना-बनाकर भयंकर कष्ट दिये; पर 'कामदेव' अपने प्रण पर अडोल रहा। तब देव

अपने रूप में कामदेव की स्तुति करता हुआ बोला—'कामदेव, तुम्हें धन्य है ! तुम्हारी दृढ़ता को धन्य है ! देवताओं की परिषद् में स्वयं शक्रेन्द्र ने तुम्हारी दृढ़ता की प्रशंसा की थी। मुझे इन्द्र की बात पर विश्वास न हुआ। इसलिए तुम्हारी दृढ़ता की परीक्षा लेने आया और तुम्हें उपसर्ग दिये, पर तुम्हारी दृढ़ता वैसी ही है, जैसी इन्द्र ने बताई थी। मैं तुमसे क्षमायाचना करता हूँ।' यों कहकर देवता अपने स्थान को चला गया।

प्रातःकाल जब पौषधशाला में कामदेव ने प्रभु महावीर के आगमन का संवाद सुना, तब पौषध में ही दर्शनार्थ चल पड़ा। भगवान् महावीर ने कामदेव के उपसर्गों की चर्चा करते हुए, उसकी दृढ़ता को सराहते हुए, साधु-सतियों को सम्बोधित करते हुए कहा—'आर्यो ! गृहस्थवास में रहने वाला श्रमणोपाक भी देवकृत उपसर्गों में यों दृढ़ रह सकता है, तब तुम लोगों को तो अविचल रहना ही चाहिए। कामदेव श्रावक ने धर्म-श्रद्धा का आदर्श उपस्थित किया है।'

कामदेव की दृढ़ता की चारों ओर प्रशंसा हुई।

कामदेव ने अपने पौषध को पूरा किया तथा वह अपने श्रावकधर्म में और भी दृढ़ रहने लगा। उसने क्रमशः श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की। अपने व्रतों का निरतिचार पालन करके अनशनपूर्वक समाधिमरण प्राप्त किया। सौधर्म स्वर्ग (प्रथम स्वर्ग) के अरुणाभ विमान में दिव्य-ऋद्धि वाला देव बना। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

—उपासक दशांग, अध्ययन २

४६. कार्तिक सेठ

बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी के समय में एक महान् समृद्धि-संपन्न सेठ था, जिसका नाम था 'कार्तिक'। वह धर्मनिष्ठ था। शुद्ध देव-गुरु-धर्म के प्रति अनन्य श्रद्धाशील था। कार्तिक सेठ का व्यापार इतना फैला हुआ था कि उसके एक हजार आठ गुमाश्ते (मुनीम) काम करने वाले थे।

एक बार वहाँ के महाराजा के गुरु वहाँ आये। नगर के सभी लोग राजा के गुरु के दर्शनार्थ गये, पर कार्तिक सेठ नहीं गया।

कार्तिक सेठ के किसी शत्रु ने राजा के गुरु के कान भरे कि जब तक 'कार्तिक' सेठ आपके दर्शनार्थ नहीं आता है, तब तक यहाँ औरों का आना न

आना एक-जैसा है, क्योंकि उसे अपने धर्म का गर्व है। वह अन्य धर्मावलम्बी साधुओं के सामने कभी झुकने के लिए तैयार नहीं है।

राजा के गुरु का अहं जाग उठा। आक्रोशपूर्वक बोले—'मैं कल ही कार्तिक सेठ को झुका दूँगा।'

दूसरे ही दिन राजा ने गुरुजी को भोजन का निमंत्रण दिया। गुरुजी ने इस शर्त पर भोजन का निमंत्रण स्वीकार किया—यदि कार्तिक सेठ की पीठ पर थाल रखकर मुझे भोजन कराओ, तभी मैं भोज करूंगा, अन्यथा नहीं।

दूसरे दिन राजा ने कार्तिक सेठ को बुलाकर सारी बात कही। सेठ राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता था। उसे स्वीकृति देनी ही पड़ी।

गुरुजी आकर बैठे। सेठ को उसी ढंग से बिठाया गया, जिससे भोजन का थाल आसानी से उसकी पीठ पर रखा जा सके। गर्म-गर्म खीर से थाल भरकर गुरुजी ने सेठ की पीठ पर रखवाया। अनेकानेक नखरे से गुरुजी ने भोजन किया। सेठ की पीठ जल रही है, इसकी चिन्ता किसे? गुरु ने अपने अहं की पूर्ति की।

सेठ अपने घर आया और मन में विचार करने लगा कि इस संसार को धिक्कार है, जहाँ राजा के अनुचित आदेश भी मानने पड़ते हैं। यों विचार कर उसने संयम स्वीकार कर लिया। संयम और तप के प्रभाव से प्रथम स्वर्ग का इन्द्र (शकेन्द्र) बना।

उधर वह सेठ की पीठ जलाकर जीमने वाला तापस भी शकेन्द्र के आज्ञाधीन ऐरावत हाथी के रूप में पैदा हुआ। अवधिज्ञान से जब हाथी ने अपना पूर्व-भव देखा, तब उसे ज्ञात हुआ कि पूर्व-भव में मैं तापस था और यह सेठ था। अब यह मेरी सवारी कर रहा है। यों विचार करके विकुर्वणा में अपने दो रूप बना लिये। दो रूप देखकर इन्द्र ने एक पर अपना दण्ड रख दिया और दूसरे पर स्वयं बैठ गया। तब इसने तीसरा रूप बना लिया। इन्द्र ने अपनी तीसरी वस्तु उस पर रख दी। यों वह अपने रूप बनाता है और इन्द्र महाराज अपनी कोई-न-कोई चीज इस पर रख देते हैं। परन्तु जब शकेन्द्र महाराज ने अपने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर देखा तो पता लगा कि यह तो मेरे पूर्व जन्म का वैरी तापस है। यहाँ अपने उच्चत्व के अभिमान में आकर यों विकुर्वणा कर रहा है, तब इन्द्र ने उस पर अपने वज्र का प्रहार किया। वज्र के लगते ही हाथी ने अपने विकुर्वणा का संवरण कर लिया और पूर्णत:

अधीन बन गया। तब से अब तक शकेन्द्र महाराज जब तीर्थंकरों के कल्याणोत्सवों में आते हैं, तब ऐरावत हाथी पर सवार होकर आते हैं।

—भगवती सूत्र वृत्ति १८/२

—ऋषिमंडल प्रकरण वृत्ति, पत्र ४६

५०. कुंडकौलिक श्रमणोपासक

'कुंडकौलिक', 'कम्पिलपुर' में रहने वाला एक धनाढ्य गाथापति था। उसके पास अठारह कोटि स्वर्णमुद्राएं, कृषि, व्यापार तथा सरंक्षण में थीं तथा दस-दस हजार गौओं वाले छः गोकुल थे। उसकी धर्मपत्नी का नाम था पूषा।

भगवान् महावीर का जब 'कम्पिलपुर' में पधारना हुआ तब कुंडकौलिक ने प्रभु के पास श्रावक धर्म स्वीकार किया। श्रावकधर्म की स्वीकृति से उसकी जीवनधारा ही बदल गई। भोगोपभोगों की आसक्ति को उसने बिल्कुल ही कम कर लिया। वह शान्त और निराकुल जीवन जीने लगा। वह केवल जिन प्रवचनों में श्रद्धालु ही नहीं था, अपितु अच्छे तर्कपटु और वाक्पटु व्यक्तियों में उसकी गणना होने लगी।

एक दिन कुंडकौलिक अपनी अशोकवाटिका में बैठा धर्म-चिन्तन में लीन था। अपनी नामांकित मुद्रिका तथा उत्तरीय पट उतारकर पास में रख छोड़ा था। इतने में एक देव वहाँ आया और उस मुद्रिका और पट को उठाकर बोला—"कुंडकौलिक ! तुम जो यह त्याग-तप आदि की साधना कर रहे हो, यह व्यर्थ है। भगवान् महावीर ने जो कहा है—'सब कार्य प्रयत्न करने से बनते हैं, यह निपट भ्रान्ति है। इस अर्थ में गोशालक का कहना ठीक है। उसका कहना है—जो कुछ होना है, वह होकर रहेगा, प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं है, इसलिए वह धर्म स्वीकार करो।"

कुंडकौलिक ने देव की असत्य बात का प्रतिकार करना अपना नैतिक कर्त्तव्य समझा। अतः बोला—'देवानुप्रिय ! आपने जो यह दिव्य ऋद्धि प्राप्त की है, वह आपको प्रयत्न करने से मिली है या अपने आप ही बिना प्रयत्न के मिल गई?'

देवता क्या बोलता, पहले झटके में ही मौन था। यदि नियतिवश मानता है तो पाषाणों, वृक्षों को क्यों नहीं मिली? यदि प्रयत्नजन्य मानता है तो अपनी बात अपने आप झूठी होती है।

देवता कुंडकौलिक का तर्क-पुरस्सर उत्तर सुनकर हर्ष-विभोर हो उठा। उसकी धार्मिक दृढ़ता की सराहना करता हुआ मुद्रिका देकर अपने स्थान को चला गया।

कुंडकौलिक जब भगवान महावीर के दर्शन करने गया तब भगवान ने साधु-सतियों को सम्बोधित करके इसकी सराहना करते हुए कहा—'श्रमणोपासक कुंडकौलिक ने अपनी तत्त्वश्रद्धा को दृढ़ रखकर देवता को तर्क-पुरस्सर उत्तर दिये। उसके असत्य का आग्रह शिथिल किया। जब श्रावक भी देवता को यों निरुत्तर कर सकता है, तब तुम तो अंगों के अध्येता हो, तुम्हें तो ऐसा करना ही चाहिए।'

कुंडकौलिक ने चौदह वर्ष तक श्रावकधर्म का पालन किया। गृह-कार्यों से निवृत्त होकर ग्यारह प्रतिमाओं को धारण किया। अन्त में मासिक अनशनपर्वूक समाधिमरण प्राप्त कर प्रथम स्वर्ग के अरुणाध्वज विमान में उत्पन्न हुआ। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

—उपासकदशांग, अध्ययन ६

५१. कुन्ती (रानी)

'शौरीपुर' नगर के महाराज 'अंधकवृष्णि' के 'समुद्रविजय' आदि दस पुत्र थे तथा 'कुन्ती' और 'माद्री' दो पुत्रियाँ थीं। कुन्ती का विवाह 'हस्तिनापुर' के महाराज 'पांडु' से हुआ। विद्याधर के योग से महाराज पांडु 'शौरीपुर' नगर के उपवन में आये और 'कुन्ती' से मिले। वहीं उनका गन्धर्व विवाह हो गया। उसके एक पुत्र भी पैदा हुआ, जिसे नदी में बहा दिया गया था। आगे जाकर वह 'कर्ण' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पर जब सारा भेद खुला, तब विधिपूर्वक विवाह कर दिया गया।

'कुन्ती' के तीन पुत्र थे—'युधिष्ठिर', 'भीम', 'अर्जुन'। महाराज 'पांडु' की दूसरी रानी 'माद्री' के भी दो पुत्र थे जिनके नाम थे—'नकुल' और 'सहदेव'। ये पाँचों पाण्डव कहलाये।

महाराज पांडु के बड़े भाई 'धृतराष्ट्र' के दुर्योधन आदि सौ पुत्र थे। वे कुरुजन-पद के नाम से कौरव कहलाये।

कौरवों के मन में प्रारम्भ से ही पाण्डवों के प्रति जलन थी। आगे जाकर वह विशेष रूप से उभरी। द्वन्द्व बढ़ता-बढ़ता यहाँ तक बढ़ा कि पाण्डवों को

अपनी पत्नी द्रौपदी का पराभव भी सहना पड़ा। यहाँ तक कि भिक्षुक का वेश बनाकर वनवास लेना पड़ा। 'द्रौपदी' तो साथ गई ही, पर माँ कुन्ती को भी वन-वन भटकना पड़ा।

दुर्दिनों का चक्र था। तब ही तो कुन्ती ने एक प्रसंग पर स्त्रियों को परामर्श देते हुए कहा था—"बहनों ! देखो, यदि पुत्र ही पैदा करना हो तो भाग्यवान पुत्र पैदा करना। न ही हमें वीरों की आवश्यकता है, न बुद्धिमानों की। वीर और बुद्धिमान देख लो मेरे पुत्र दीन दशा के मारे वन-वन भटक रहे हैं।"

कुन्ती सच्ची धर्मनिष्ठा वाली एक सन्नारी थी। एक बार वन में द्रौपदी के आग्रह से 'भीम' एक तालाब में से कमल लाने गया। थोड़ी दूर तक 'भीम' दीख रहा था। फिर वह डूब गया। जब वह नहीं आया, तब क्रमशः पाँचों हीं भाई चले गये, पर लौटकर आये नहीं। पाँचों भाई डूब गये। उनके डूबने का कारण यह था कि वह तालाब नागराज का था। उनकी आज्ञा बिना उसमें कोई प्रवेश नहीं कर सकता था। पाण्डवों ने क्योंकि नागराज की आज्ञा बिना ही तालाब में प्रवेश किया था, इसलिए सरोवर के रक्षक नागदेव उन्हें बाँधकर नागराज के पास ले गये थे। दिन अस्त हो गया। अँधेरी रात में उस निर्जन वन में 'कुन्ती' और 'द्रौपदी' अकेली थीं। उनका चिन्तातुर होना स्वाभाविक था। अन्त में दोनों ही प्रभु के ध्यान में लीन हो गईं। उनकी तन्मयता को देखकर इन्द्र ने पाण्डवों को छुड़वाने के लिए एक देव को भेजा। देव ने तालाब में रहने वाले नागराज से जाकर कहा—'इन्द्र महाराज ने कहा है इन्हें पता नहीं था कि यह तालाब नागराज का है, इसलिए अनजान में तुम्हारे इस तालाब में घुस आये। नागपाश से जो आपने बाँध रखे हैं, इन्हें छोड़ दीजिए। इनकी माँ 'कुन्ती' और 'द्रौपदी' के सत्यशील से मैं बहुत प्रभावित हूँ।' नागराज ने ससम्मान उन्हें छोड़ दिया। उन्होंने आकर माँ को प्रणाम किया।

वनवास समाप्त हुआ। पाण्डवों ने महाभारत का युद्ध भी जीता। धातकीखण्ड द्वीप में से द्रौपदी को वापस लाने के लिए श्रीकृष्ण के साथ भी गये। परन्तु गंगा नदी के किनारे पर उन्होंने श्रीकृष्ण से उपहास कर लिया। श्रीकृष्ण कुपित हो उठे और उन्हें देश-निर्वासन का दंड दे दिया। कुन्ती की विशेष प्रार्थना पर कृष्ण ने थोड़ा-सा स्थान उनके रहने के लिए दिया। वहाँ पाण्डवों ने नया नगर बसाया, जो 'पांडुमथुरा' कहलाई। यह कहावत भी चल पड़ी—'तीन लोक से मथुरा न्यारी।'

भगवान् नेमिनाथ वहाँ पधारे। कुन्ती को विरक्ति हो गई। प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा—प्रभु ! मैंने जीवन में सभी नाटक देख लिये हैं। महाराज पांडु की महारानी बनी तो भीलनी की भाँति वन-वन में भी भटक आयी। वीरों की माता बनकर राजमाता कहलाई। आज फिर उन्हीं के साथ पांडुमथुरा में दुःख के दिन बिता रही हूँ। सही अर्थ में तो संसार का वास्तविक चित्र मैंने ही देखा है।

महाराज पांडु तथा कुन्ती दोनों ने संयम भार लिया तथा कुन्ती कर्म क्षय करके मोक्ष में गई।

—ज्ञाताधर्मकथा १६

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८

५२. कुन्थुनाथ भगवान

सारिणी

जन्म-स्थान	गजपुर	दीक्षा तिथि	वैशाख कृष्णा ५
माता	श्रीदेवी	केवलज्ञान	चैत्र शुक्ला ३
पिता	शूर	चारित्र पर्याय	२३,७५० वर्ष
जन्म-तिथि	वैशाख कृष्णा १४	निर्वाण तिथि	वैशाख कृष्णा १
कुमार अवस्था	२३,७५० वर्ष	कुल आयु	६५,००० वर्ष
राज्यकाल	४७,५०० वर्ष	चिन्ह	अज (बकरा)

श्री कुन्थुनाथ भगवान् इस चौबीसी के सत्रहवें तीर्थंकर और छठे चक्रवर्ती थे। अपने पूर्वभव में ये पूर्वविदेहक्षेत्र के आवर्त विजय में खड्गी नाम की नगरी के राजा सिंहावह थे। राजा सिंहावह ने संवराचार्य से जिन-दीक्षा ली और घोर तप किया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके सर्वार्थसिद्ध नामक पाँचवें अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। इनका जन्म हस्तिनापुर के महाराज 'सूर' के यहाँ हुआ। जब ये माता की कुक्षि में सर्वार्थसिद्ध विमान से आये तब इनकी माता श्रीदेवी ने चौदह स्वप्न देखे। वैशाख बदी १४ को प्रभु का जन्म हुआ। जब प्रभु माँ के गर्भ में थे, तब माता ने कुंथु नामक रत्नों की राशि स्वप्न में देखी थी, इसलिए प्रभु का नाम कुन्थुनाथ रखा गया। युवावस्था में अनेक सुन्दरियों के साथ प्रभु का पाणिग्रहण कराया गया। जब आयुधशाला में चक्र रत्न पैदा हो गया, तब श्री कुन्थुनाथ ने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया और

षट् खण्ड धरा पर अधिकार कर लिया। दिग्विजय करने में इन्हें छः सौ वर्ष लगे तथा चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त हुए। अंत में वर्षीदान देकर एक हजार पुरुषों के साथ उन्होंने दीक्षा ली। सोलह वर्ष छद्मावस्था में रहे। केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थ की स्थापना की। इनके तीर्थ में स्वयंभू प्रमुख पैंतीस गणधर थे। भगवान् का संघ बहुत विशाल था। यों जनता का कल्याण करते हुए प्रभु ने एक मास के अनशन में एक हजार साधुओं के साथ सम्मेद शिखर पर्वत पर वैशाख बदी १ को मोक्ष प्राप्त किया।

धर्म-परिवार

गणधर	३५	वादलब्धिधारी	२,०००
केवली साधु	३,२००	वैक्रियलब्धिधारी	५,१००
केवली साध्वी	६,४००	साधु	६०,०००
मनःपर्यवज्ञानी	३,३४०	साध्वी	६०,६००
अवधिज्ञानी	२,५००	श्रावक	१,७६,००
पूर्वधर	६७०	श्राविका	३,८१,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ६

५३. कुबेरदत्त (अठारह नाते)

प्राचीन काल में मथुरा नगरी अपनी समृद्धि के लिए भारत-भर में विख्यात थी। उसमें एक ओर वेश्याओं का मोहल्ला था। उस मोहल्ले में कुबेरसेना नाम की एक वेश्या रहती थी। उसके युगल सन्तान—अर्थात् एक लड़का और एक लड़की उत्पन्न हुई। पुत्रवती वेश्या के पास ग्राहक नहीं आते—यह सोचकर उसने दोनों शिशुओं को काष्ठ की एक पेटिका में बंद कर कुबेरदत्त तथा कुबेरदत्ता नाम की दो मुद्रिकाएं पेटिका में रख दीं तथा फिर उसे यमुना नदी में बहा दिया।

पेटी नदी की धारा पर बहती हुई शौरीपुर पहुँची। वहाँ दो सेठ स्नान कर रहे थे। उन्होंने पेटी मल्लाहों से निकलवाई। दो नवजात शिशुओं को देखकर चकित रह गये। दोनों सेठों ने एक-एक शिशु को ले लिया और मुद्रिकाओं पर अंकित नामों के अनुसार उनके नाम भी कुबेरदत्त-कुबेरदत्ता रख दिये।

धीरे-धीरे दोनों बालक-बालिका बड़े हुए और उनका परस्पर विवाह कर दिया गया। लेकिन सुहागरात को ही दोनों ने एक-दूसरे को देखा तो उन्हें चेहरों

पर परस्पर साम्य दिखाई दिया। उन्हें शंका हुई—हम परस्पर भाई-बहिन तो नहीं हैं? दूसरे दिन अपने-अपने माता-पिता से पूछा तो उन्होंने स्पष्ट बता दिया—हमें तुम दोनों एक काठ की पेटी में बहते हुए यमुना नदी में मिले थे, हमने तो सिर्फ तुम्हारा पालन-पोषण किया है। यह सुनकर उन दोनों को विश्वास हो गया कि हम परस्पर भाई-बहिन ही हैं।

इस घटना को सुनकर दोनों के सिर लज्जा से झुक गये। कुबेरदत्त तो शौरीपुर छोड़कर ही चल दिया और कुबेरदत्ता ने एक मुनि से संयम स्वीकार कर लिया तथा साध्वी बनकर गुरुणीजी के नेश्राय में तपस्या करने लगी। तपस्या के बल पर उसे अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गई। उसने अपने मन पर भी अच्छी विजय प्राप्त कर ली।

अवधिज्ञान प्राप्त होने पर साध्वी कुबेरदत्ता को अपने भाई कुबेरदत्त के बारे में जानने की इच्छा हुई। उसने ज्ञानबल से देखा तो ज्ञात हुआ कि उसका भाई कुबेरदत्त उसी कुबेरसेना नामक वेश्या के साथ भोग भोगने में लीन है। उसके एक पुत्र भी हो चुका है। उसे माता-पुत्र का यह भोग-सम्बन्ध बहुत अखरा। माता-पुत्र को इस सम्बन्ध से विरत् करने का निश्चय करके गुरुणीजी से आज्ञा माँगी और आज्ञा प्राप्त होते ही मथुरा नगरी में पहुँचकर वेश्या कुबेरसेना के घर ही ठहरी। वेश्या ने भी उसे अपने घर ठहरने की इजाजत तब दी, जब साध्वीजी ने उसके शिशु को खिलाना स्वीकार कर लिया। यद्यपि साधु-धर्म के अनुसार किसी गृहस्थी के शिशु को खिलाना वर्जित है, पर साध्वी कुबेरदत्ता ने यह शर्त इसलिए स्वीकार कर ली कि वह किसी तरह इस पापाचार को रोक सके।

रात्रि के समय कुबेरदत्त वेश्या कुबेरसेना के पास आया। कुबेरसेना ने वह शिशु साध्वी को दिया और कहा—इसे खिलाओ। साध्वी शिशु को लेकर बगल की कोठरी में चली गई। लेकिन शिशु रोने लगा। इससे वेश्या के काम-भोग में बाधा पड़ी। उसने साध्वी को फटकारा और शिशु को चुप कराने को कहा। तब साध्वीजी बालक से कहने लगी—बालक ! तू रो मत। तेरे साथ मेरे छः नाते हैं, उन्हें सुन—

(१) पहले नाते से तू मेरा भाई है, क्योंकि तेरी और मेरी माता एक है।

(२) दूसरे नाते से तू मेरा देवर है, क्योंकि तू मेरे पति का छोटा भाई है।

(३) तीसरे नाते से मेरा लड़का है, क्योंकि कुबेरसेना मेरी सौत है और तू उसका पुत्र है।

(४) चौथे नाते से मैं तेरी बुआ हूँ और तू मेरा भतीजा है; क्योंकि तेरा पिता कुबेरदत्त मेरा भाई है।

(५) पाँचवें नाते से मैं तेरी दादी हूँ और तू मेरा पोता है; क्योंकि तेरा पिता कुबेरदत्त, कुबेरसेना का बेटा है और कुबेरसेना मेरी सौत है।

(६) छठे नाते से तू मेरा काका है और मैं तेरी भतीजी हूँ; क्योंकि कुबेरसेना का पति होने के कारण कुबेरदत्त मेरा पिता है और तू उसका छोटा भाई है।

इन नातों की बात सुनकर कुबेरदत्त भड़क उठा। वह साध्वीजी के पास आगबबूला होता हुआ आया तो साध्वीजी बोलीं—तुम्हारे साथ भी मेरे छः नाते हैं, सुनो—

(१) पहले नाते से तुम मेरे भाई हो; क्योंकि हम दोनों ने ही कुबेरसेना के उदर से एक साथ जन्म लिया है।

(२) दूसरे नाते से तुम मेरे पिता हो; क्योंकि मेरी माता कुबेरसेना के पति बने हुए हो।

(३) तीसरे नाते से तुम मेरे पति हो, क्योंकि शौरीपुर में हम दोनों का विवाह हुआ है।

(४) चौथे नाते से तुम मेरे पुत्र हो, क्योंकि मैं और कुबेरसेना आपस में सौत हैं और तुम उसके पुत्र हो, इसलिए मेरे भी पुत्र हो।

(५) पाँचवें नाते से तुम मेरे दादा हो, क्योंकि यह बालक मेरा काका है और तुम इसके पिता हो।

(६) छठे नाते से तुम मेरे श्वसुर हो, क्योंकि मैं कुबेरसेना के बेटे की पत्नी हूँ और तुम इस समय कुबेरसेना के पति बने हुए हो।

इन नातों को सुनकर कुबेरदत्त तो ठंडा पड़ गया, लेकिन कुबेरसेना के तनबदन में आग लग गई। उसे विश्वास हो गया कि साध्वी उसे बर्बाद करना चाहती है। वह क्रोध में तमतमाती हुई साध्वी के पास आयी और भला-बुरा कहने लगी। साध्वी ने शान्त स्वर में कहा—'तुम्हारे साथ भी मेरे छः नाते हैं, उन्हें सुन लो—'

(१) पहले नाते से तुम मेरी माता हो, क्योंकि मैं तुम्हारे उदर से उत्पन्न हुई हूँ।

(२) दूसरे नाते से तुम मेरी भौजाई हो मैं तुम्हारी ननद हूँ, क्योंकि तुम मेरे सहोदर भाई कुबेरदत्त की पत्नी बनी हुई हो।

(३) तीसरे नाते से तुम मेरी दादी हो, क्योंकि कुबेरदत्त मेरा पिता है (तुम्हारा पति होने के कारण) और तुम उसकी माता हो।

(४) चौथे नाते से तुम मेरी सास हो, क्योंकि कुबेरदत्त तुम्हारा पुत्र है और मैं उसकी विवाहिता पत्नी हूँ।

(५) पाँचवें नाते से मैं तुम्हारी सास हूँ, क्यों कुबेरदत्त मेरी सौत का पुत्र है और तुम उसकी पत्नी बनी हुई हो।

(६) छठे नाते से तुम मेरी सौत हो, क्योंकि तुम्हारा और मेरा पति एक ही व्यक्ति कुबेरदत्त है।

नातों की इस विचित्रता को जानकर कुबेरदत्त और कुबेरसेना की आँखें खुल गईं। उन दोनों ने बड़ा पश्चाताप किया और साध्वीजी की प्रेरणा से आत्मकल्याण में प्रवृत्त हो गये। साध्वी कुबेरदत्ता भी गुरुणीजी के पास लौट आयी। आलोचना और प्रायश्चित लेकर शुद्ध हुई और तपस्या में लीन हो गई।

—जम्बूकुमार चरियं

५४. कुलपुत्र महाबल

श्रीपुर नगर में महाप्रतापी राजा राज्य करता था। उसका नाम मानमर्दन था। वह कर्मफल और भाग्य पर कम और अपनी शक्ति तथा पुरुषार्थ पर अधिक भरोसा रखता था।

उसी नगर में महाबल नाम का एक कुलपुत्र रहता था। उसके माता-पिता बचपन में ही मर गये थे। वह उन्मुक्त वातावरण में ही बड़ा हुआ था इसलिए वह शरीर से तो बलिष्ठ था, लेकिन धर्म-अधर्म का विवेक उसको नहीं था। माता-पिता के न रहने के कारण वह सातों व्यसनों में लिप्त हो गया। लेकिन उसमें चोरी का दुर्गुण प्रमुख रूप से था।

एक बार वह चोरी करने के लिए एक व्यापारी के घर में घुसा। खुली *खिड़की से झाँककर उसने देखा तो व्यापारी अपने पुत्र से दो पैसे के लिए लड़* रहा था। कुलपुत्र महाबल ने सोचा—इस व्यापारी के घर चोरी करना ठीक नहीं है; जब दो पैसे के लिए ही पुत्र से लड़ रहा है तो चोरी होने पर यह मर भी सकता है।

अब वह वेश्या कामसेनाके घर पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि रूपवती वेश्या धन के लोभ में एक कोढ़ी से लिपट रही है। उसे वेश्या से घृणा हो गयी। वहाँ से चोरी करने का विचार छोड़ आगे चल दिया।

कुलपुत्र महाबल राजमहल में पहुँचा। वहाँ सेंध लगाकर अन्दर पहुँचा। उसने बहुत से रत्न इकट्ठे करके बाँध लिये। राजा-रानी सुख से सो रहे थे। इतने में एक सर्प आया। सर्प ने रानी के हाथ पर दंश-प्रहार किया और चलता बना। महाबल ने सर्प का पीछा किया तो देखा कि महल से बाहर निकलते ही सर्प ने बैल का रूप धारण कर लिया। द्वारपाल बैल को खदेड़ने लगा तो उस बैल ने द्वारपाल को सींगों के प्रहार से मार दिया।

यह देख महाबल ने भी बैल की पूंछ पकड़ ली। बैल ने मानव-वाणी में जब पूंछ छोड़ने को कहा तो महाबल ने उसका परिचय और रानी तथा द्वारपाल को मारने का कारण जानना चाहा। बैल ने कहा—'मैं नागकुमार देव हूँ। रानी और द्वारपाल मेरे पूर्वजन्म के शत्रु हैं। इसलिए मैंने इनसे बदला चुकाया है।'

महाबल ने अपनी मृत्यु के बारे में जिज्ञासा की तो उस देव ने बताया—इस राजमार्ग में जो वटवृक्ष है, उसकी शाखा पर लटकने से तेरी मृत्यु होगी। जब महाबल ने इस कथन की पुष्टि में प्रमाण माँगा तो देव ने कहा—'कल राजमहल के शिखर से गिरकर एक बढ़ई की मृत्यु हो जाए तो मेरी बात पर विश्वास कर लेना।'

दूसरे दिन ही राजमहल के शिखर से गिरकर एक बढ़ई की मृत्यु हो गई। अब तो महाबल को अपनी मृत्यु का भी विश्वास हो गया। वह मृत्यु-भय से काँपने लगा। राजमार्ग का वह वटवृक्ष उसे साक्षात् यमदूत दिखाई देने लगा। वह नगर छोड़कर चल दिया और एक नदी के तट पर पहुँचा। वहाँ एक तापस का आश्रम था। उस तापस के पास रहकर उसने समझ लिया कि इस तरह मैं वटवृक्ष से भी दूर रहूंगा और तप से अन्तःकरण की शुद्धि तो होगी ही। कई वर्ष बाद जब तापस मर गया तो वह आश्रम का स्वामी बन गया।

इधर राजा मानमर्दन के यहाँ एक चोर ने चोरी की। वह रत्न-पेटिका लेकर भागा। सिपाहियों ने चोर का पीछा किया। जब चोर ने समझ लिया कि सिपाहियों की पकड़ से मैं नहीं बच सकता तो रत्न-पेटिका वह महाबल के पास रखकर भाग गया। तब तक महाबल तापस का ध्यान भी पूरा हो गया।

अपनी तपस्या का फल समझकर वह उस रत्न-पेटिका को रखने लगा। इतने में सिपाही आ गये। उन्होंने उसे पकड़ लिया और राजा के पास ले गये।

राजा ने देखा कि महाबल के मुख पर तप का कुछ तेज है तो उसे उसके चोर होने का विश्वास न हुआ। पूछने पर महाबल ने अपना सम्पूर्ण परिचय बता दिया। नागकुमार देव द्वारा रानी और द्वारपाल की मृत्यु की घटना भी सुनाई और यह भी कह दिया कि वटवृक्ष पर लटकने से मृत्यु होने के भय से मैंने तापसी दीक्षा ले ली थी।

राजा तो कर्मफल, भाग्य और होनी को मानता ही न था। उसने महाबल को यह आश्वासन देकर अपने पास रख लिया कि मेरे रहते यमराज भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता और कुछ दिन बाद उसका विवाह भी कर दिया।

एक बार राजा मानमर्दन ने वन-भ्रमण का विचार किया। महाबल भी उसके साथ जाने वाला था। उसने वस्त्राभूषण पहले और गले में सोने की जंजीर विशेष रूप से पहनी। जब राजा और महाबल दोनों घोड़े पर सवार होकर महल से निकले तो महाबल की स्त्री ने उसे किसी कार्य से लौटाया। पत्नी से बात करके महाबल पुनः चला, तब तक राजा काफी आगे निकल गया था। राजा के पास जल्दी पहुँचने के लिए महाबल ने अपने घोड़े को दो-चार चाबुकें लगाईं। सरपट दौड़ता हुआ घोड़ा वटवृक्ष के नीचे आकर ऊपर की ओर जोर से उछला। उसके साथ ही महाबल भी उछला और उसके गले की सोने की जंजीर उलटकर वटवृक्ष की एक शाखा में उलझ गई। महाबल शाखा से लटका रह गया और घोड़ा आगे निकल गया। महाबल के सोने की जंजीर ही उसके लिए फांसी का फंदा बन गई। वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।

जब राजा को महाबल की मृत्यु का समाचार मिला तो वह बहुत दुःखी हुआ। उसका मान गलित हो गया। वह समझ गया कि भाग्य, कर्मफल और होनी अटल है। इनके अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

अब राजा मानमर्दन के हृदय में संवेग जागृत हो गया। वह चारित्र ग्रहण करने के लिए छटपटाने लगा। उसके भाग्य से नन्दनवन में दो जंघाचरण मुनियों का *शुभागमन हुआ। राजा ने उनकी देशना सुनी। वह प्रतिबुद्ध हुआ और* उसने श्रामणी-दीक्षा ले ली।

तप:साधना द्वारा उसने अपने समस्त कर्मों का क्षय किया और आयु पूर्ण होने पर मोक्ष प्राप्त किया।

—पार्श्वनाथ चरित्र

५५. कूणिक राजा

'कूणिक' राजगृह के अधिपति महाराज 'श्रेणिक' का पुत्र था। 'श्रेणिक' की प्रथम रानी 'नन्दा' का पुत्र 'अभयकुमार' था जो बहुत ही विलक्षण तथा बुद्धिमान था। अभयकुमार महाराज श्रेणिक के राज्यकार्य-संचालन में प्रमुख सलाहकार था। महाराज ने उसे प्रमुख मन्त्री का पद दे रखा था।

वैशाली के महाराज चेटक (जो भगवान् महावीर के मामा थे) की सात पुत्रियाँ थीं। उनकी छठी पुत्री सुज्येष्ठा के रूप पर मुग्ध होकर श्रेणिक ने उसकी याचना की। 'चेटक' जैन धर्मावलम्बी के सिवा किसी को अपनी पुत्री देना नहीं चाहता था और उस समय श्रेणिक बौद्धधर्मी था, अत: राजा चेटक ने उसे अपनी कन्या देने से इन्कार कर दिया। इस पर श्रेणिक निराश हो उठा। अभयकुमार ने ही अपने बुद्धिबल से सारा काम बनाया। स्वयं व्यापारी बनकर वैशाली गया। राजमहल की दासियों से सम्पर्क साधकर सुज्येष्ठा को आकर्षित करने में सफल हो गया। सुज्येष्ठा जब राजगृह से भाग चलने के लिए तैयार हो गई, तब राजगृह से 'सुज्येष्ठा' के महलों तक 'अभय' ने एक सुरंग खुदवाकर तैयार करवा दी तथा सुज्येष्ठा को समय का संकेत दे दिया। समय पर 'सुज्येष्ठा' और उसकी छोटी बहन 'चेलणा' दोनों ही भागने की तैयारी करके सुरंग द्वार पर आ डटीं। इतने में 'सुज्येष्टा' को याद आया कि वह अपने आभूषणों का डिब्बा भूल आयी है। वह आभूषणों का डिब्बा लाने गई। इधर महाराज 'श्रेणिक' वहाँ पहुँच गये और 'चेलणा' उनके साथ चली गई। 'सुज्येष्ठा' जब आभूषणों का डिब्बा लेकर आयी तो देखा 'चेलणा' वहाँ नहीं है। तब समझी, हो न हो मेरे साथ धोखा हुआ है। 'सुज्येष्ठा' ने शोर मचाया पर फिर क्या बनना था, 'चेलणा' महाराज श्रेणिक के महलों में पहुँच गई और उनकी पटरानी बन गई। उधर 'सुज्येष्ठा' साध्वी बन गई।

'चेलणा' के प्रयत्न तथा अनाथी मुनि के सम्पर्क से महाराज श्रेणिक जैन धर्मावलम्बी बन गये। महारानी 'चेलणा' गर्भवती हुई, तब उसे अपने पति राजा श्रेणिक के कलेजे का माँस खाने की मनोभावना (दोहद) पैदा हुई, लेकिन यह

दोहद इतना जघन्य और निंद्य था कि चेलणा किसी को बता भी न सकी। दोहद पूरा न होने से वह कृश होने लगी। शरीर की कृशता देखकर राजा ने सारा अन्तर्भेद जानना चाहा। रानी को शर्माते-सकुचाते हुए तथा दुःखी हृदय से अपनी सारी भावना बतानी पड़ी। अभय ने अपने बुद्धि-कौशल से ज्यों-त्यों यह सारी व्यवस्था जमाई। रानी की मनोभावना पूरी हुई। सवा नौ महीने बाद जब पुत्र का जन्म हुआ, तब रानी ने यों विचार कर उसे उकरड़ी पर फिंकवा दिया कि जो कुलांगार पेट में आते ही पिता के कलेजे का माँस खाने को ललचाया, उससे आगे जाकर क्या भला होना है?

संयोग की बात दासी ज्योंही नवजात शिशु को उकरड़ी पर फेंककर आयी उसे महाराज 'श्रेणिक' मिल गये। दासी को सारी बात सच-सच बतानी पड़ी। बात सुनकर राजा ने पितृ-प्रेम से अभिभूत होकर इसे उकरड़ी से उठाकर अपनी गोद में लिया पर बालक का क्रन्दन सुनकर देखा तो उसकी एक अंगुली किसी मुर्गे ने खा ली थी, उसमें से खून रिस रहा था। राजा ने उस रक्त-पीव को अपने मुँह से चूसकर निकाल फेंका। बच्चे को कुछ शान्ति मिली। राजा के उपचार से अंगुली ठीक तो हो गयी पर कुछ छोटी—अविकसित रह गयी, इसलिए इसका नाम कूणिक पड़ गया।

कूणिक बड़ा होने लगा और युवा होने पर आठ स्त्रियों के साथ उसका विवाह कर दिया गया। पटरानी का पुत्र होने के कारण वह युवराज था ही। इसके अतिरिक्त तब तक अभयकुमार दीक्षा भी ले चुका था। अतः कूणिक राज्यकार्य-संचालन का भी ध्यान रखने लगा।

एक दिन कूणिक के मन में आया—जब तक महाराज श्रेणिक जीवित रहेंगे, राजसिंहासन पर बैठे ही रहेंगे और तब तक मुझे राज्य करने का मौका मिलेगा नहीं। जब मैं बूढ़ा हो जाऊँगा तब फिर राजा बनने में आनन्द ही क्या है। यों विचार करके कालिककुमार आदि दस भाइयों से साठ-गांठ करके उसने श्रेणिक को कैद में डाल दिया और स्वयं राजा बन बैठा। सारे साम्राज्य में आतंक छा गया। महाराज श्रेणिक से किसी का मिलना-जुलना भी बन्द कर दिया, *यहाँ तक कि खाना-पीना भी बन्द कर दिया।* चेलणा को इस संवाद से बहुत दुःख हुआ। परन्तु इस क्रूर को समझाये कौन? अन्त में हिम्मत करके स्वयं रानी चेलणा कूणिक के पास गई और अपने पति राजा श्रेणिक से मिलने की आज्ञा चाही। माता को मनाही कर सके, इतना साहस

वह नहीं कर सका अतः माता को आज्ञा दे दी। रानी प्रतिदिन मिलने जाने लगी। वह अपने केशों के जूड़े में छिपाकर खाद्य-सामग्री ले जाती। यों श्रेणिक बन्द पिंजड़े में अपना समय गुजार रहा था।

एक दिन कूणिक भोजन करने बैठा था। चेलणा भी पास बैठी थी। कूणिक की गोदी में उसका पुत्र था। उसने भोजन के थाल में पेशाब कर दिया। कूणिक ने बहुत ही प्रेम से उस पेशाब को पोंछ दिया तथा मूत्र से भीगे भोजन को अलग रखकर शेष भोजन खाने लगा। वह माँ की ओर देखकर बोला—'माँ ! पुत्र के प्रति जितना मेरा प्रेम है उतना संसार में किसी भी पिता का शायद ही हो।' माता मौका देखकर सीधा बाण फेंकती हुई उकरड़ी की सारी बात सुनाते हुए बोली—'तेरे पिताजी ने यों अपने मुँह से सड़ी-गली अंगुली को चूसकर तेरा दर्द दूर किया और तू ऐसा निकला। ऐसे वात्सल्य-मूर्ति पिता को कैदखाने में डाला, तनिक भी विचार नहीं आया।'

कूणिक इस अकल्पित घटना को सुनकर चौंका। अपने किये हुए दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप करता हुआ माता के पैरों में गिर पड़ा। पश्चात्ताप भरे स्वर में बोला—'मैं अभी जाकर पिताजी के बन्धन खोलकर मुक्त करता हूँ'—यों कहकर सपाटे से चला बन्धन तोड़ने के लिए। हाथ में वहीं पास में पड़ी लोहे की तीक्ष्ण कुठार ले ली।

राजा श्रेणिक ने ज्योंही कूणिक को कुठार लिये अपनी ओर आते देखा तो सोचा—हो न हो मेरा किसी पूर्वजन्म का वैरी है, पूरा-पूरा वैर लिये बिना नहीं मानेगा। इसके हाथ से मरने की अपेक्षा अपने आप मरना अच्छा है। यों सोचकर हीरे की अंगुठी निगल गया और तत्क्षण ही उसकी मृत्यु हो गई।

कूणिक ने जब पिंजड़े में अपने पिता को मृत दशा में पाया, तब मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गया। होश में आकर भारी अनुताप करने लगा। पितृ-वियोग से व्यथित होकर उसने राजगृह का परित्याग कर दिया और चम्पापुरी में अपना निवास कर लिया। वहीं से चमरेन्द्र और सौधर्मेन्द्र की सहायता प्राप्त करके चेटक के साथ महाशिला कंटक संग्राम किया। उसमें महाभयंकर नरसंहार हुआ। फिर भी कहने के लिए कूणिक विजयी अवश्य हुआ।

वह भगवान् महावीर का अनन्य भक्त था। प्रभु के सुख-संवाद प्र

करके ही दातौन करता था। जब तेरहवां चक्रवर्ती बनने के लिए तमिस्रा गुफा के पास गया, तब वहाँ के संरक्षक देवों के टोकने पर भी नहीं मानो। ज्योंही उसने अपने कृत्रिम दण्डरत्न से गुफा के द्वारों पर प्रहार किया, सहसा अग्नि की ज्वाला निकली। उसी ज्वाला में कूणिक भस्म होकर छठी नरक में गया। प्रभु ने पहले ही इसे कहा था—'तू चक्रवर्ती नहीं है, इसलिए छठी नरक में जाएगा।' आखिर वही हुआ।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग १२

—निरयावलिया १

५६. कूरगडुक मुनि

'अमरपुर' नगर के महाराज 'कुम्भ' के राजकुमार का नाम 'ललितांगकुमार' था। 'ललितांग' अपने नाम के अनुरूप ही सुकोमल और सुन्दर था। सारे परिवार का उस पर अत्यधिक प्यार था।

एक बार नगर में 'धर्मघोष' नाम के आचार्य पधारे। उनके उपदेश का कुमार पर अचूक असर हुआ। माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर वह संयमी बन गया और आचार्य के साथ विहार करने लगा।

ललितांग मुनि ने इन्द्रिय-विजय का एक स्वतन्त्र पथ अपनाया। वे भिक्षा में सरस आहार छोड़कर अग्नि संस्कारित 'कूर' नाम के नीरस धान्य लाते और मधु घृत के समान प्रसन्नतापूर्वक उसे खा लेते। ऐसा भोजन करने के कारण अन्य साधु उन्हें कूरगडुक अर्थात् 'कूर के कवल से पेट भरने वाले' कहने लगे। निकेवल—निराहार तपस्या उनके लिए असाध्य थी।

एक बार चातुर्मासिक चतुर्दशी के प्रसंग पर आचार्य देव ने सारे संघ को तप के लिए बलवती प्रेरणा दी। संघ के मानस पर आचार्यश्री की वाणी का अचूक असर हुआ। किसी ने चार मास का तप प्रारम्भ किया, किसी ने दो मास का किया, किसी ने मासिक तो किसी ने पाक्षिक। यों चारों ओर तप की गंगा ही बहने लगी। चतुर्दशी के उपवास तो सबके ही थे। आचार्यदेव भी व्याख्यान लम्बा किये जा रहे थे।

उधर 'कूरगडुक' मुनि पर बुरी बीत रही थी। वे कब से प्रतीक्षा में खड़े थे। कब व्याख्यान समाप्त हो और कब भिक्षा के लिए जाऊँ। व्याख्यान समाप्त

न होते देखकर भूख से बेहाल बने कूरगडुक मुनि व्याख्यान के बीच में ही गुरुवर के पास आदेश लेने आ गये। आचार्य को यह बात बहुत ही अटपटी लगी कि इस तप के रस-भरे वातावरण में कोई भोजन की बात करे। अतः बोले—'अरे ! आज तो नन्हें मुन्नों ने भी व्रत रखा है। तुझे भी व्रत रखना चाहिए।'

मुनि कूरगडुक—'गुरुवर ! आप मेरे हित की बात ही फरमा रहे हैं, पर मैं व्रत रखने में असमर्थ हूँ। आप कृपा करिये।'

गुरुवर ने झिड़ककर कहा—'जा, ले आ पात्र भरकर कूर भोजन। भर ले अपना पेट।'

मुनि फिर भी शान्त थे। आचार्य की ओर से यों अहेतुक अपमान से तनिक भी उनका मन म्लान नहीं था। सहसा गये और कूर (निकृष्ट अन्न) से पात्र भर लाये, आकर गुरुजी को बताया। आचार्य ने कुपित होकर पात्र में थूक दिया।

कूरगडुक मुनि एक ओर गये। पात्र को सामने रखा। उन्हें अपने ही दोष दीख रहे थे—मेरे कारण आचार्यश्री को कष्ट हुआ। मुनि समता से भोजन कर रहे थे। भोजन करते-करते वे आत्म-ध्यान में लीन हो गये। हाथ वहीं का वहीं रुका रह गया। ध्यान की उज्ज्वलता तथा क्षमा की पराकाष्ठा थी।

इतने में ही जैन शासन की सेविका चक्रेश्वरी देवी आयी। सन्तों से पूछा—'कूरगडुक मुनि कहाँ हैं?'

सन्त—'क्यों, क्या बात है? पहले आचार्यदेव के दर्शन तो करो। उस भोजनभट्ट में तुमको क्या विशेषता नजर आयी?'

देवी—'मुझे तो उन्हीं के दर्शन करने हैं। सीमन्धर स्वामी ने बताया है, उन्हें केवलज्ञान होने वाला है। मैं उनके दर्शनार्थ ही आयी हूँ।'

सन्तों ने हँसते हुए कहा—'वह बैठा है तेरा केवली। प्रभु क्या कभी ऐसी बात फरमा सकते हैं?'

देवी वहाँ गई। मुनि के दर्शन किये। मुनि ध्यान में लीन थे। गुणस्थान चढ़ते-चढ़ते शुक्लध्यान में लीन मुनि कूरगडुक ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। देव-दुन्दुभियाँ बजने लगीं। देवता और देवेन्द्र कैवल्य महोत्सव मनाने उधर जाने लगे। आचार्य अवाक् रह गये। अपने आपको सँभाला। मन-ही-मन कूरगडुक

की क्षमा[1] का अंकन करते हुए अपने अकारण किये हुए क्रोध पर अनुताप किया।

अनुताप के भावों में विशुद्धि आयी। तत्क्षण उन्होंने भी केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

—आचारांग चूर्णि

५७. कूलबालुक मुनि

धर्मज्ञ और शुद्ध आचरण वाले एक मुनि थे। उनका एक क्षुल्लक शिष्य था। वह शिष्य बन्दर के समान अविनीत और चपल था। वह अपने गुरु की शिक्षा न मानता। इस कान से सुन उस कान से उड़ा देता।

एक बार विहार करते हुए गुरु-शिष्य—दोनों गिरिनगर आये और पर्वत पर साधना करते हुए श्रमणों की वंदना करने के लिए उज्जयंत गिरि पर चढ़े। वहाँ से लौटते समय गुरु आगे थे और शिष्य पीछे। उस चपल शिष्य ने पीछे से एक शिलाखण्ड लुढ़का दिया। शिला गिरने की आवाज से गुरु सावधान हो गये और उन्होंने अपने पैर फ़ैला दिये। पाषाण-खण्ड उनके पैरों के बीच से निकल गया। लेकिन गुरु के मुख से रोष-भरे वचन निकले—'पापी ! किसी स्त्री के संयोग से तेरा साधुव्रत भंग हो जायेगा।' लेकिन शिष्य भी पूरा ढीठ था, बोला—'मैं आपके कथन को सत्य न होने दूँगा। ऐसे निर्जन स्थान पर जाकर रहूँगा जहाँ स्त्री की परछाईं भी न पड़े।' यों कहकर वह क्षुल्लक शिष्य गुरु को छोड़कर एक निर्जन स्थान पर चला गया। वह स्थान पर्वतीय नदी का तट प्रदेश था। क्षुल्लक मुनि वहाँ रहता, महीने-पन्द्रह दिन में कोई यात्री वहाँ से निकलता तो पारणा कर लेता, अन्यथा कायोत्सर्ग में लीन रहता। बरसात के दिनों में वह पर्वतीय नदी जल के वेग से उफनने लगी। किसी जिनधर्मप्रेमी देवी ने यह सोचकर कि यदि नदी इसी प्रकार उफनती रही तो मुनि को लपेट

---

१. ऋषिमण्डल प्रकरण वृत्ति (विश्राम १, पत्र १००) के अनुसार राजकुमार का नाम नागदत्त था। पूर्वभव में किये गये क्रोध के कटु परिणाम का जाति स्मृति के बल पर अनुभव कर क्षमा की आराधना में संलग्न हुआ तथा दीक्षा ली। पूर्वभव की घटना चंडकौशिक के पूर्वभव से मिलती-जुलती है।

—सम्पादक

लेगी, नदी का प्रवाह मोड़ दिया। तभी से उस क्षुल्लक मुनि का नाम कूलबालुक (नदी-प्रवाह को मोड़ने वाला) प्रसिद्ध हो गया।

राजा श्रेणिक ने अपनी मृत्यु से पहले ही, जब वे सिंहासनासीन थे, एक पटरानी चेलणा के दोनों पुत्रों—हल्ल-विहल्ल को अठारहसरा हार तथा सेचनक हाथी दे दिया तथा कूणिक को मगध का साम्राज्य देने का निर्णय कर लिया। लेकिन कूणिक ने इन्तजार न किया और पिता श्रेणिक को बन्दीगृह में डालकर स्वयं मगध के सिंहासन पर बैठ गया। कूणिक की तृप्ति इतने बड़े साम्राज्य से भी नहीं हुई। अपनी पटरानी पद्मावती के भड़काने से उसने हल्ल-विहल्ल से अठारहसरा हार तथा सेचनक हाथी माँगा। उन दोनों ने ये वस्तुएं कूणिक को नहीं दीं और इन दोनों वस्तुओं को लेकर अपने नाना चेटक के पास चले गए।

चेटक वैशाली गणराज्य के अधिपति थे। कूणिक ने अपना दूत चेटक राजा के पास भेजा, लेकिन चेटक ने न्याय का पक्ष लिया—न उन्होंने हल्ल-विहल्ल ही वापस भेजे और न अठारहसरा हार तथा सेचनक हाथी ही दिये।

इस बात पर रुष्ट होकर कूणिक ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया और प्रतिज्ञा की कि मैं वैशाली में गधों से हल चलवा दूँगा।

राजा चेटक दृढ़ सम्यक्त्वी और द्वादशव्रती श्रावक थे। उनका यह अभिग्रह भी था कि वे रणक्षेत्र में एक दिन में केवल एक ही बाण छोड़ते थे, किंतु उनका बाण अमोघ होता था, निष्फल नहीं जाता था।

युद्ध के मैदान में चेटक राजा के अमोघ बाणों से दस दिन में कूणिक के दसों भाई मृत्यु की गोद में समा गये। तब कूणिक ने शकेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना की। उनके द्वारा दिये गये अमोघ दिव्य वस्त्र तथा कवच की सहायता से उसने संग्राम जीत लिया।

इतना होने पर भी वैशाली में 'गधों से हल चलवाने' की उसकी प्रतिज्ञा पूरी न हुई, क्योंकि वैशाली का प्राकार लाख प्रयत्न करने पर भी भंग न हो सका। वह अपने शिविर में इसी समस्या पर मंत्रियों के साथ विचार कर रहा था। तभी किसी मिथ्यादृष्टि व्यंतरी ने आकाश से कहा—'यदि मागधिका वेश्या कूलबालुक मुनि को वश में कर ले तो तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो सकती है, वैशाली का प्राकार भंग हो सकता है।'

कूणिक आधी सेना लेकर वापस अपनी राजधानी चम्पा को लौट आया

और वहाँ वेश्या मागधिका को बहुत-सा इनाम देकर मुनि कूलबालुक को वश में करने का आदेश दिया।

वेश्या मागधिका ने श्राविका के बारह व्रत अंगीकार किये और कपट-श्राविका बनकर वन में मुनि कूलबालुक के पास पहुँच गई। उसने मुनि कूलबालुक को ऐसे लड्डू बहराये कि मुनि अतिसार से पीड़ित हो गये। मुनि की सेवा-सुश्रुषा के बहाने कपट-श्राविका मागधिका भी वहीं रह गई। अपने हाव-भाव से मागधिका ने मुनि कूलबालुक को वश में कर लिया। स्त्री के संसर्ग से मुनि अपने साधुधर्म से पतित हो गये।

पूरी तरह वश में करने के बाद वेश्या मागधिका कूलबालुक मुनि को साथ लेकर चम्पा आयी और मुनि को कूणिक के सामने जा खड़ा किया। कूणिक ने उनसे वैशाली का प्राकार भंग कराने को कहा। मुनि ने कूणिक की बात स्वीकार कर ली।

मुनि कूलबालक वैशाली में सरलता से प्रवेश कर गये, क्योंकि साधुओं को कहीं भी आने-जाने में रोक नहीं होती। उन्होंने पूरी नगरी में घूमकर देख लिया कि वहाँ मुनि सुव्रत प्रभु का एक चैत्य बड़ा ही प्रभावशाली है। जब तक वह चैत्य सही-सलामत है, तब तक वैशाली के प्राकार की एक ईंट भी नहीं हिल सकती।

इधर वैशाली के नागरिक भी इस युद्ध से बहुत दुःखी थे। उन्होंने मुनि से युद्ध समाप्त होने का उपाय पूछा तो मुनि ने बताया—'इस चैत्य के टूटते ही युद्ध समाप्त हो जायेगा।'

आर्त मनुष्यों के हृदय में विवेक नहीं रहता। वैशाली के नागरिकों ने यह नहीं सोचा कि चैत्य टूटने से युद्ध कैसे बन्द हो जाएगा। उन्होंने चैत्य को तुरन्त ही भूमिसात् कर दिया।

चैत्य के टूटते ही मगध की सेना ने वैशाली का प्राकार भंग कर दिया। कूणिक ने गधों से हल चलवाकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

इस प्रकार मुनि कूलबालुक वैशाली के प्राकार-भंग के निमित्त बने।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १०।१२

—उत्तराध्ययन सूत्र, लक्ष्मीवल्लभकृत वृत्ति

५८. कृष्ण वासुदेव

वासुदेव कृष्ण 'वसुदेवजी' की महारानी 'देवकी' के पुत्र थे। इनका जन्म उनके मामा 'कंस' के यहाँ 'मथुरा' में हुआ। 'कंस' की पटरानी 'जीवयशा' ने अपने सांसारिक नाते के देवर मुनि अतिमुक्तक से उपहास किया था कि देवर, यों गौ के टल्ले मात्र से गलियों में क्यों गिरते फिर रहे हो। इस साधु वेश को छोड़ दो, महलों में आओ। अपनी बहन देवकी के विवाह में हम सब मिलकर गीत गायें। इस उपहास से तपस्वी अतिमुक्तक उद्विग्न हो उठे। रूखे स्वर में बोले—'तू गर्वोन्मत्ता होकर मेरे साथ गीत क्या गायेगी? गीत तो तब गाना जब वैधव्य प्राप्त कर ले। देख, इसी देवकी का सातवाँ पुत्र तेरे कुल का नाश करने वाला होगा।'

कंस को जब मुनि के इस भविष्य-कथन का पता चला तो वह भौंचक्का रह गया। चिकनी-चुपड़ी बातें करके वसुदेव को तब तक वहीं रहने के लिए राजी कर लिया, जब तक कि देवकी के सात सन्तान न हो जाएं।

देवकी के एक के बाद एक छः बालक देवता के योग से सुलसा के यहाँ पलने लगे। सुलसा के छः मृत बालकों को कंस ने पटक-पटककर मार दियां।

सातवें प्रसव की कंस प्रतीक्षा करने लगा। चौकीदारों को भी विशेष सतर्क रहने के लिए कह दिया। पर संयोग की बात, जिस दिन, भाद्रव कृष्णा अष्टमी की अर्धरात्रि में, श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, उस समय सारे पहरेदार गहरी नींद में निमग्न हो गये। वसुदेव इन्हें लेकर गोकुल में नन्द के यहाँ दे आये। वहाँ यशोदा के हाथों इनका लालन-पालन होने लगा। श्रीकृष्ण गोकुल में बड़े हुए और कंस का संहार किया। जरासंध के भय से समुद्रविजय आदि श्रीकृष्ण को लेकर सौरिपुर से चल पड़े। पश्चिम की ओर समुद्रतट पर श्रीकृष्ण के लिए देवों ने एक नगरी बसाई जिसका नाम 'द्वारिका' रखा। जरासंध भी वहाँ चढ़कर गया। दोनों में घोर संग्राम हुआ। उसमें जरासंध की मृत्यु श्रीकृष्ण के हाथ से हुई। यों श्रीकृष्ण तीन खण्ड के स्वामी बन गये। पाँचों पाण्डव श्रीकृष्ण के निकट के मित्र थे। समुद्रविजय के पुत्र अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) श्रीकृष्ण के भाई थे। सत्यभामा, रुक्मिणी, जांबवती, गौरी आदि श्रीकृष्ण की आठ पटरानियाँ थीं।

श्रीकृष्ण के छोटे भाई गज सुकुमाल मुनि के निर्वाण पर कृष्ण का दिल विदीर्ण हो उठा। भगवान् नेमिनाथ से अपनी मृत्यु और द्वारिका के भविष्य के

बारे में पूछा, तब भगवान् नेमिनाथ ने कहा—'श्रीकृष्ण ! मदिरा के योग से तुम्हारी यह द्वारिका नगरी देव के प्रकोप से अग्नि में जलेगी। तुम्हारी मृत्यु जराकुमार के हाथ से कौशाम्बी वन में होगी।'

यह सुनकर श्रीकृष्ण ने द्वारिका में घोषणा कराके कहा—'जिन्हें संयम लेना हो, वे ले लें। उनके पीछे की सारी व्यवस्था का भार मैं वहन करूँगा।' इस प्रकार उत्कृष्ट धर्म दलाली से तीर्थंकर गोत्र का बन्धन कर लिया।

आखिर में शाम्बकुमार के सताये जाने पर द्वैपायन ऋषि ने निदान करके प्राण त्यागे और मरकर अग्निकुमार देव हुआ। उसने यथासमय अग्नि की वर्षा की, जिससे सारी द्वारिका नगरी अग्निमय हो उठी। श्रीकृष्ण और बलभद्र ने वसुदेव और देवकी को बचाने का बहुत प्रयत्न किया। ज्योंही रथ में बैठकर बाहर निकालने लगे, त्योंही दरवाजे का पत्थर बीच में आ गिरा। ये दोनों बाहर ही रह गये। इनकी आँखों के सामने सारी द्वारिका जलकर खाक हो गई। छः महीनों तक नगरी सुलगती रही। पास में पानी का समुद्र भरा था, पर काम कुछ भी नहीं बना।

श्रीकृष्ण चलते-चलते कौशाम्बी वन में आ पहुँचे। वहाँ उन्हें प्यास लगने से बलभद्र पानी लाने के लिए गये हुए थे। श्रीकृष्ण एक वृक्ष की छाया में लेटे हुए थे। इतने में जराकुमार वहाँ आ पहुँचा। दूर से हरिण के भ्रम में बाण छोड़ा। वह श्रीकृष्ण के पैर में आकर लगा। इस भयंकर वेदना से उन्होंने प्राणों का परित्याग किया। अगली चौबीसी में वे अगम नाम के बारहवें तीर्थंकर भगवान् होंगे।

पीछे से जब बलभद्र पानी लेकर आये, तब श्रीकृष्ण की यह अकल्पित अवस्था देखकर कुछ समय तक किंकर्त्तव्यविमूढ़ से बने रहे। श्रीकृष्ण के शरीर पर आँसू बहाते रहे। छः महीनों तक उनका शव कँधे पर लिये घूमते रहे। देव ने प्रतिबोध देने के लिए काफी यत्न किया। छः महीनों के बाद श्रीकृष्ण के शरीर की अन्त-क्रिया करके स्वयं संयमी बने। कठोर तपश्चर्या की। संयम और तप के प्रभाव से पाँचवें स्वर्ग में देव बने। वहाँ से निकलकर वे आने वाली चौबीसी में चौदहवें निष्पुलाक नाम के तीर्थंकर होंगे।

—आवश्यक चूर्णि
—पाण्डव पुराण, पर्व २२
—हरिवंश पुराण, ६३

५६. केशरी (सामायिक)

कामपुर का शासक राजा विजयचन्द्र और वहाँ का प्रसिद्ध व्यापारी संघदत्त था। संघदत्त का पुत्र था केशरी।

बचप में केशरी सामान्य बालकों जैसा ही था। इसकी रुचि धर्म की ओर भी थी। गुरुदेव से उसने नवकार मन्त्र सीखा और नित्य एक सामायिक करने का नियम ले लिया। वह सविधि सामायिक करता। पहले भूमि का प्रमार्जन करता, फिर शुद्ध आसन लेता, घर के कपड़े उतारकर शुद्ध वस्त्र और उत्तरासन धारण कर, मुखवस्त्रिका बाँधकर, पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके नमस्कार सूत्र बोलता, सम्यक्त्व सूत्र बोलता, तिक्खुतो सूत्र से गुरुदेव को वंदन करता, आलोचना सूत्र से आलोचना करता, कायोत्सर्ग सूत्र बोलकर कायोत्सर्ग करता और फिर कायोत्सर्ग का दोषापहार करता। लोगस्स सूत्र से चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना के पश्चात् सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर प्रणिपात सूत्र से अरिहंत-सिद्ध भगवन्तों की स्तुति करता। उसके बाद नवकार मन्त्र की माला जपता। यों ४८ मिनट तक सामायिक यानि समभावों में लीन रहकर सामायिक पारता और तब गुरुदेव को वन्दन कर घर आता। उसकी इस प्रवृत्ति से पिता संघदत्त बहुत प्रसन्न थे। उसे अपना पुत्र होनहार दिखाई देता था। उसे विश्वास था कि उसका पुत्र उसके कुल की कीर्ति को फैलायेगा।

लेकिन पिता की यह प्रसन्नता स्थायी न रही। ज्यों-ज्यों केशरी बड़ा हुआ, उसमें कुसंगति के कारण दुर्गुण आने लगे। पिता ने उसे बहुत समझाया, गुरुदेव ने भी प्रेरणा दी, पर उसे किसी की बात न लगी। वह पक्का चोर बन गया।

चोर तो वह नामी हो गया, ऐसा कि एक दिन भी चोरी किये बिना उसे चैन नहीं पड़ता था। लेकिन उसमें एक अच्छाई यह बाकी रही कि उसने सामायिक नहीं छोड़ी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि लोगों की भर्त्सना और हेय दृष्टि से बचने के लिए वह किसी अन्य शांत-एकांत-निर्जन स्थान पर सामायिक का नित्य नियम पूरा कर लेता, पर करता अवश्य था। उसकी यह सामायिक गुप्त थी। इसके बारे में कोई नहीं जानता था। पिता संघदत्त भी यही समझता था कि इसने सामायिक का नियम भंग कर दिया है। चोर से सामायिक की आशा भी कैसे की जा सकती है !

जब संघदत्त ने समझ लिया कि उसका पुत्र केशरी उसके हाथ से निकल चुका है, तब उसने राजा विजयचन्द्र को सम्पूर्ण बात बताकर केशरी को मार्ग

पर लाने की प्रार्थना की। राजा ने उसे समझाया-बुझाया, प्रेरणा दी, दंड का भय दिखाया; लेकिन जब केशरी ने राजा की बात भी इस कान से सुन उस कान से निकाल दी तो रोष में भरकर राजा ने कहा—'तुझे शर्म नहीं आती ! धर्मनिष्ठ सेठ का पुत्र होकर चोरी जैसा निंद्य-कर्म करता है? या तो चोरी करना छोड़ अथवा मेरे राज्य को छोड़कर चला जा।'

कर्मों की कैसी विडम्बना अथवा व्यसनों का कैसा अद्‌भुत प्रभाव कि केशरी ने चोरी नहीं छोड़ी, अपितु राज्य छोड़कर चल दिया। वन में वह एक सरोवर के निकट पहुँचा। पानी पीकर प्यास शांत की। फिर सोचने लगा—आज का दिन कितना बुरा है कि मैंने बिना चोरी किये ही पानी पी लिया है। चौर्य कर्म उसके तन-मन पर कितना छा गया था ! किस बुरी तरह वह इस निंद्य-कर्म से जकड़ गया था !

वह इन विचारों में बैठा ही था कि एक पुरुष आकाश मार्ग से उतरा। वह केशरी को नहीं देख पाया, लेकिन केशरी ने उसे देख लिया। वह पैरों में चमत्कारी खड़ाऊँ पहने था। उन पादुकाओं द्वारा वह आकाश में उड़ता था। अपनी पादुकाओं को एक झाड़ी में छिपाकर वह सरोवर में स्नान करने के लिए उतर गया। केशरी ने मौका देखा और खड़ाऊँ लेकर चम्पत हो गया।

पादुका मिलने से केशरी के हाथ में बहुत बड़ा अस्त्र आ गया। वह आकाश-मार्ग से चाहे जहाँ चला जाता और इच्छानुसार निर्भय होकर चोरी करता तथा आकाश में उड़कर किसी भी जंगल में जा छिपता।

सबसे पहले वह अपने पिता के घर ही आया और उसे यमलोक पहुँचा दिया। उसके बाद उसकी चोरियों से नगर में हाहाकार मच गया। प्रजा ने राजा से पुकार की। राजा ने नगर-रक्षक से कहा तो उसने कह दिया—चोर आकाश-मार्ग से पक्षी के समान आता है और चोरी करके पक्षी के समान ही उड़ जाता है मैं और मेरा आरक्षी दल उसके सामने निरुपाय है।

अब राजा विजयचन्द्र ने स्वयं ही चोर को पकड़ने का निश्चय किया। वह अपने विश्वस्त सैनिकों के साथ निकल पड़ा। उसने सरोवर, पर्वत-गुफा, जीर्ण उद्यान, मठ आदि सबकुछ छान मारा, लेकिन चोर का कहीं पता न लगा।

निराश होकर राजा वन में एक वृक्ष के नीचे लेट गया और चोर को पकड़ने की योजना बनाने लगा। पवन धीरे-धीरे बह रहा था। राजा को केशर-कपूर आदि की सुगन्ध आयी। उसने सोचा—यह सुगन्ध वन में कहाँ से आ

रही है? वह सुगन्ध का पीछा करता हुआ एक मंदिर में पहुँच गया। मंदिर चंडिका देवी का था। वहाँ जाकर राजा ने देखा कि देवी की मूर्ति केशर, चंदन, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यों से चर्चित है और एक पुरुष कीमती वस्त्राभूषण पहनकर देवी की पूजा कर रहा है। राजा ने उससे उसका परिचय पूछा तो उसने बताया—मैं वणिक्-पुत्र हूँ। वर्षों से मेरी आर्थिक स्थिति कमजोर थी। अब देवी मेरी भक्ति से प्रसन्न हो गई है। प्रातःकाल जब मैं पूजा के लिए आता हूँ तो मुझे बहुमूल्य मणिमुक्ता आदि मिल जाते हैं।

राजा समझ गया कि चोर ही यहाँ धन चढ़ा जाता होगा। दूसरे दिन रात के समय राजा देवी के मंदिर में छिप गया। केशरी वहाँ आकाश-मार्ग से आया और बाएं हाथ में पादुका लेकर मंदिर में प्रविष्ट हुआ। राजा ने उसे पकड़ने की कोशिश की, लेकिन वह बलपूर्वक राजा की पकड़ से छूटकर वन की ओर भागा। इस संघर्ष में उसकी पादुकाएं मंदिर में ही गिर गईं। अब केशरी पैदल ही भाग रहा था और राजा तथा उसके विश्वस्त सैनिक उसका पीछा कर रहे थे। केशरी समझ गया कि प्राण बचने कठिन हैं।

भागते-भागते केशरी को एक ध्यानस्थ महामुनि के दर्शन हो गये। उसने उनसे उद्धार का उपाय पूछा। मुनिराज ने कहा—'राग-द्वेष-मुक्त होकर प्रवृत्ति करने से उद्धार हो सकता है।'

केशरी ने अपने पापों की आलोचना की और आत्मध्यान में लीन हो गया। जब तक राजा और उसके सैनिक आये, तब तक तो उसे कैवल्य की प्राप्ति हो गई। देव-दुन्दुभियाँ बजने लगीं। राजा चकित रह गया। वन्दन करके उसने पूछा—'आप तो चोरी जैसे घोर पाप में लीन थे, फिर आपको इतनी जल्दी केवलज्ञान कैसे हो गया?'

केवली मुनि केशरी ने कहा—'राजन ! बाल्यकाल में प्रतिदिन मैंने एक सामायिक करने का नियम लिया था। उस नियम को मैं आज तक निभाता आ रहा हूँ। यह सविधि शुद्ध भावों से सामायिक का ही चमत्कार है कि मेरे कर्म इतनी जल्दी क्षय हो गये। क्योंकि जो कर्म वर्षों के उग्र तप से भी नष्ट नहीं होते, वे समभावों से कुछ क्षणों में ही नष्ट हो जाते हैं।'

राजा केवली मुनि केशरी को वन्दन करके चला आया और केवली मुनि ग्रामानुग्राम विहार करते हुए धर्म का निर्मल प्रकाश फैलाते रहे।

—वर्धमान् देशना १/६

६०. केशी स्वामी

केशी स्वामी (केशीकुमार श्रमण) भगवान् 'पार्श्वनाथ' की परम्परा के एक महान् तेजस्वी आचार्य थे। तीन ज्ञान के धारक, चारित्र-सम्पन्न और महान् यशस्वी साधक थे। वे अपने शिष्यों सहित एक बार 'श्रावस्ती' नगरी के 'तिंदुकवन' में आकर विराजमान हुए। उन्हीं दिनों गणधर 'गौतम', जो भगवान् महावीर की परम्परा के सफल संवाहक थे, भी अपनी शिष्य-मंडली सहित उसी 'श्रावस्ती' नगरी के 'कोष्ठक' उद्यान में विराजमान थे। जब दोनों के शिष्यों ने भिक्षार्थ शहर में घूमते एक-दूसरे को देखा, तब उनके वेश की विभिन्नता देखकर शंकाशील होना सहज था। सबने अपने-अपने अधिशास्ता के सामने अपनी शंकाएं रखीं। शिष्यों को आश्वस्त करने हेतु गौतम स्वामी केशी स्वामी के कुल को ज्येष्ठ गिनते हुए उनके पास तिन्दुकवन में आये। केशी स्वामी ने भी आसन प्रदान करके उनका समादर किया। वहाँ विराजमान दोनों ही चन्द्र और सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे। उस समय अनेक कौतुहलप्रिय, जिज्ञासु तथा तमाशबीन लोग वहाँ इसलिए इकट्ठे हो गये कि देखें क्या होता है? केशी स्वामी ने अपने शिष्यों की शंकाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा—'गौतम ! पार्श्व प्रभु ने चार महाव्रतरूप धर्म तथा भगवान् महावीर ने पाँच महाव्रतरूप धर्म कहा, यह भेद क्यों?'

गौतम ने समाधान देते हुए कहा—'महात्मन् ! जहाँ प्रथम तीर्थंकर के साधु सरल और जड़ तथा अन्तिम तीर्थंकर के मुनि वक्र और जड़ होते हैं, वहाँ बीच वाले बाईस तीर्थंकर के साधु सरल और प्रज्ञ (बुद्धिमान) होते हैं। इसलिए प्रभु ने धर्म के दो रूप किये। आशय यह है कि प्रथम तीर्थंकर के साधु धर्म को जल्दी से समझ नहीं सकते, पर समझने के बाद उसकी आराधना अच्छी तरह से कर सकते हैं तथा अन्तिम तीर्थंकर के श्रमण धर्म की व्याख्या समझ तो जल्दी से लेते हैं, पर पालन करने में वे शिथिल हो जाते हैं। इसलिए उनके लिए पाँच महाव्रत रूप धर्म की प्ररूपणा की तथा बीच वाले बाईस तीर्थंकरों के साधुओं के लिए समझना और पालना दोनों ही आसान है, इसलिए चार महाव्रतरूप धर्म की प्ररूपणा की।

गौतम स्वामी के उत्तर से सबको समाधान मिला और सभी आश्वस्त हुए।

केशी स्वामी ने दूसरा प्रश्न किया—'महानुभाव ! ये वेश में विविधता क्यों, जब एक ही लक्ष्य को लेकर दोनों चल रहे हैं?' जहां पार्श्व प्रभु ने कीमती

और रंगीन वस्त्रों के प्रयोग की साधुओं को छूट दी, वहाँ भगवान् महावीर ने केवल अल्पमूल्य वाले श्वेत वस्त्रों की ही आज्ञा दी। इसका क्या कारण है?'

गौतम ने समाधान देते हुए कहा—'वक्र-जड़, ऋजु-जड़ तथा ऋजु-प्राज्ञ साधुओं के मन में आसक्ति के भाव पैदा न हों, संयम की यात्रा का सकुशल निर्वाह कर सकें, लोगों में प्रतीति हो तथा कोई भी अकार्य करते हुए वेश को देखकर मन में झिझक हो कि मैं साधु हूँ, यह काम मेरे लिए अनाचीर्ण है इसके वेशभूषा की उपयोगिता है। साधकों की मनोभूमिका को लक्ष्य करके ऐसा किया गया है।'

यों केशी स्वामी ने विविध विषयों पर गौतम से बारह प्रश्न किये और गौतम स्वामी ने सबका समुचित समाधान किया। इस समाधान से सम्पूर्ण परिषद् को सन्तोष हुआ। शिष्यों की जिज्ञासाएं समाप्त हुईं। स्वयं केशी स्वामी अपनी शिष्य-मण्डली सहित पाँच महाव्रतरूप धर्म का स्वीकरण करके गौतम स्वामी के गण में सम्मिलित हो गये। अन्त में केशी स्वामी केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में विराजमान हुए।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २३

६१. केसरिया मोदक

सुव्रत का जन्म एक धनी परिवार में हुआ था। उसे सभी प्रकार के सुख-साधन उपलब्ध थे। उसका लालन-पालन वैभवपूर्ण ढंग से हुआ था। घर में अनेक प्रकार के पकवान बनते रहते थे, लेकिन सुव्रत को केसरिया मोदक ही अधिक पसन्द थे। जब भी उसकी इच्छा होती, केसरिया मोदक तैयार हो जाते। इस प्रकार लाड़-प्यार और सुख-सुविधा में पलते हुए सुव्रत बड़ा हो गया।

एक बार उस नगर में आचार्य शुभंकर अपने संघ-सहित पधारे। उनके उपदेशों से प्रभावित होकर सुव्रंत प्रव्रजित हो गया। तप:साधना करते हुए अपनी प्रखर प्रतिभा से संपूर्ण आगम साहित्य का अभ्यास कर लिया। उसकी लगन, रुचि तथा तप:साधना की साथी मुनि भी प्रशंसा करते और आचार्य तो अपने सुयोग्य शिष्य को पाकर आनंदित थे ही।

अनेक जनपदों में विहार करते हुए आचार्य शुभंकर राजगृह नगरी में अपने संघ-सहित पधारे। उस दिन राजगृह में मोदकोत्सव था। सभी घरों में मोदक बन रहे थे। कहीं दाल के तो कहीं बेसन के और कहीं केसरिया मोदक।

आचार्यदेव के आगमन के कुछ समय बाद श्रावक समुदाय आया और क्षमा माँगते हुए आचार्यश्री से निवेदन किया—'क्षमा करें, गुरुदेव ! हम लोग आपके स्वागतार्थ उपस्थित न हो सके। आज मोदकोत्सव है, उसमें लगे रहे।'

आचार्य ने पूछा—मोदक किस वस्तु के बनते हैं?

श्रावकों ने बताया—यह तो अपनी आर्थिक स्थिति और रुचि पर निर्भर है—दाल, बेसन आदि कई प्रकार के मोदक बनते हैं और केसरिया मोदक भी बनते हैं। केसरिया मोदक स्वादिष्ट भी अधिक होते हैं, लेकिन उनमें खर्च अधिक पड़ता है।

आचार्यदेव ने सोचा कि मोदक गरिष्ठ भोजन है। इसको खाने से स्वाध्याय और ध्यान में चित्त एकाग्र नहीं हो सकेगा। इसलिए उन्होंने उपवास पच्चक्ख लिया और अन्य मुनियों को भी ऐसी ही प्रेरणा दी। उन सबने भी उपवास का नियम कर लिया।

लेकिन सुव्रत मुनि ने ज्योंही केसरिया मोदकों का नाम सुना, उनके सुप्त संस्कार जागृत हो गये। उन्होंने उपवास नहीं किया और गुरुदेव से आज्ञा लेकर गोचरी हेतु चल दिये।

मुनिश्री प्रत्येक घर में जाते और देखते कि केसरिया मोदक हैं या नहीं? दोपहर से संध्या तक घूमते रहे, लेकिन उन्हें केसरिया मोदकों का योग प्राप्त नहीं हुआ। अब तो सुव्रत मुनि विह्वल हो गये। रसासक्ति उनपर इतनी सवार हो गई कि उन्हें समय का भी ध्यान नहीं रहा। रात होने पर भी सड़कों पर चक्कर लगाते रहे। उनके मुँह से 'केसरिया मोदक—केसरिया मोदक' शब्द ऐसे निकल रहा था जैसे कोई बेभान दशा में उन्मत्त व्यक्ति प्रलाप कर रहा हो।

श्रावक जिनभद्र ने ये शब्द सुने तो उसने खिड़की से देखा। मुनिश्री को इस रूप में देखकर वह चौंका। वह समझ गया कि केसरिया मोदक न मिलने से मुनिश्री पर अप्रिय असर हुआ है और ये अपना संतुलन खो बैठे हैं। उसने अपना कर्त्तव्य निश्चित किया और मुनिश्री को आदर-सहित घर के भीतर बुला लाया तथा उन्हें केसरिया मोदक बहराए। जब मुनिश्री चलने लगे तो उसने विनम्र स्वर में पूछा—'मुनिप्रवर ! कितना समय हुआ है?

मुनि ने समय जानने के लिए ज्योंही आकाश की ओर दृष्टि उठाई तो तारों-भरी रात को देखकर वहीं जड़ हो गये—यह क्या? आधी रात का समय ! और मैं गोचरी हेतु भटक रहा हूँ। उनके मन में घोर पश्चात्ताप उभर आया।

श्रावक जिनभद्र ने विनय की—'भगवन् ! रात्रि मेरे उपासना-गृह में बितायें तो उचित रहेगा। इस आधी रात के समय गमन उचित नहीं है।'

मुनिश्री उपासना-गृह में ही ठहर गये। चिन्तन चला—मोदकों के चक्कर में मैं सब कुछ भूल गया। साधु मर्यादा में दोष लगाया। मुझे आत्म-साधना और आत्म-शुद्धि करनी चाहिए थी, मैं रसगृद्धता में कहाँ फँस गया?

चिन्तन ऊर्ध्वमुखी हुआ और सुव्रत मुनि को कैवल्य प्राप्त हो गया।

सभी आत्मदर्शी मुनि सुव्रत और विवेकी श्रावक जिनभद्र की प्रशंसा करने लगे।

६२. कैकेयी

कैकेयी उत्तरापथ के कौतुकमंगलनगर के राजा शुभमति और रानी पृथ्वीश्री की पुत्री थी। इसने स्वयंवर मंडप में उपस्थित सभी राजाओं को छोड़कर राजा दशरथ के गले में वरमाला डाल दी। राजा दशरथ उस समय साधारण वेशभूषा में थे। अत: अन्य राजाओं ने इन्हें सामान्य पुरुष ही समझा। इस कारण वे कैकेयी द्वारा सामान्य पुरुष के गले में वरमाला डालने को अपना अपमान समझ बैठे। वे युद्ध के लिए तैयार हो गये। उनकी योजना थी—दशरथ से जबरदस्ती कैकेयी को छीन ले जाने की।

दूसरे दिन नगर के बाहर खुले मैदान में युद्ध की योजना बनी। एक ओर हजारों राजा थे और दूसरी ओर अकेले दशरथ। कैकेयी ने उनके सारथी का भार सँभाला। कैकेयी के कुशल रथ-संचालन के कारण दशरथ ने उन सबको रणभूमि से भागने पर विवश कर दिया। दशरथ विजयी हुए। इस विजय में कैकेयी के अनुपम सहयोग के कारण राजा दशरथ ने उसे एक वर माँगने को कहा। कैकेयी ने कहा—'अभी इस वर को अपने पास धरोहर रूप में रहने दीजिए। जब समय आयेगा तब माँग लूंगी।'

काफी समय बाद जब चतुर्ज्ञानी महामुनि सत्यभूति संघ सहित अयोध्या में पधारे तो उनकी देशना से राजा दशरथ को वैराग्य हो गया। उन्होंने राम को अयोध्या का राज्य देकर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। श्रीराम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ होने लगीं। कैकेयी बहुत प्रसन्न हुई।

किन्तु विशेष बात यह हुई कि दशरथ के साथ ही कैकेयी के पुत्र भरत ने भी दीक्षा लेने की हठ पकड़ ली। कैकेयी का नारी सहज कोमल मातृहृदय

पति और पुत्र दोनों का एक साथ वियोग सहन करने में सक्षम न हो सका। उसने अपने हृदय को बहुत दृढ़ करने का प्रयास किया, लेकिन सफल न हो सकी। आखिर अपने पुत्र भरत को दीक्षा-ग्रहण करने से रोकने का एक उपाय सोचा। उसने राजा दशरथ से वर माँगा—'भरत को अयोध्या का राजतिलक कर दिया जाये।'

राजा दशरथ को इसमें कोई ऐतराज न था। उन्हें राम और भरत दोनों ही समान रूप से प्रिय थे। उन्होंने भरत का राजतिलक स्वीकार कर लिया। लेकिन भरत ने इस बात का विरोध कर दिया। उसने स्पष्ट कह दिया—'मैं बड़े भाई राम के रहते राजसिंहासन पर किसी भी दशा में न बैठूँगा।' बहुत समझाने पर भी भरत अपने निर्णय से न डिगे।

अब समस्या टेढ़ी हो गई। राजा दशरथ किसे राजसिंहासन पर बैठाकर दीक्षा ग्रहण करें? वचनबद्धता के कारण भरत का राजतिलक आवश्यक था और भरत किसी भी दशा में राजी नहीं हो रहे थे।

इस समस्या का उपाय सोचा श्रीराम ने। उन्होंने विचार किया—यदि मैं वन चला जाऊँगा तो भरत सिंहासन को सँभाल ही लेगा। उन्होंने वन जाने का निर्णय कर लिया। उनके इस निर्णय का अनुसरण उनकी धर्मपत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण ने भी किया। तीनों ही अयोध्या को छोड़कर वन की ओर चल दिये।

लेकिन श्रीराम के इस निर्णय का कैकेयी के जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ा। उसी को राम-लक्ष्मण-सीता के वन-गमन का कारण माना जाने लगा। राम-वन-गमन का कलंक उसके माथे पर लग गया। लोक में यह प्रचलित हो गया कि उसी ने राम को वनवास दिलाया है।

इस घटना से कैकेयी को बहुत पश्चात्ताप हुआ। उसने यह कलंक धोने का बहुत प्रयास किया। राम को मनाकर वापस लाने के लिए वह चित्रकूट भी गई। लेकिन राम वापस नहीं आये। कैकेयी का कलंक नहीं धुल सका। वह जीवन भर पश्चात्ताप करती रही।

जब श्रीराम लंका विजय करके वापस अयोध्या लौट आये, तब एक बार अयोध्या में केवली मुनि कुलभूषण-देशभूषण पधारे। उनकी देशना से भरत और कैकेयी दोनों प्रतिबुद्ध हो गये। भरत और कैकेयी दोनों ने संयम ग्रहण कर लिया।

कैकेयी ने घोर तप किया और आयुष्य पूर्ण कर अविनाशी मोक्षपद की अधिकारिणी बनी।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ७

६३. कौशल्या

'कौशल्या' 'कुशस्थल' के महाराज 'सुकौशल' की पुत्री थी। कौशल्या की माता का नाम 'अमृतप्रभा' था। राजा-रानी के दिल में सन्तान-प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा थी। प्रौढ़ावस्था में एक पुत्री हुई, जिसका नाम 'अपराजिता' रखा गया। कौशल राजा की पुत्री होने से इसका नाम 'कौशल्या' ही अधिक प्रसिद्ध हुआ।

अयोध्या के महाराज 'दशरथ' जब दिग्विजय करते कुशस्थलपुर आये, तब सुकौशल ऐसे कब आज्ञा मानने वाला था। युद्ध में सुकौशल पराजित हुआ। पर अपनी पराजय का जहाँ उसे शोक हुआ, वहाँ हर्ष इस बात का था कि पुत्री के लिए सुयोग्य वर सहज ही मिल गया। राजा ने अपनी इकलौती पुत्री का विवाह दशरथ के साथ कर दिया। कौशल्या महाराज दशरथ की पटरानी बनी।

महाराज दशरथ के सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा—ये तीन रानियाँ और भी थीं। कौशल्या का इन सबके प्रति कोई भी सौतभाव नहीं था।

कौशल्या के ही उदर से श्रीराम का जन्म हुआ। 'राम' की मर्यादा-पुरुषोत्तमता विश्वविदित है। पुत्र शुभ संस्कारी तब ही हो सकता है, जब उसे माता-पिता से शुभ संस्कार मिलें। देखा जाये तो पुत्र की सही शिक्षिका माँ ही हुआ करती है।

अपने पिता के वचन-पालन के लिए अयोध्या के शासन को ठुकराकर राम ने जब वनवास ले लिया और वन जाने लगे तब राम ने आकर कौशल्या को प्रणाम किया। कौशल्या ने अपने आँसू पोंछते हुए राम से कहा—'वत्स ! पिता को ऋण-मुक्त करने तुम वन जा रहे हो, सकुशल रहना। मैंने 'कैकेयी' के साथ इस जन्म में ऐसा कोई दुर्व्यवहार नहीं किया, जिससे मुझे तुम्हारा वियोग यों सहना पड़े। पर लगता है, मेरे ही किसी पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। अत: न तो मेरे मन में उसके प्रति तनिक भी दुर्भाव है और न ही तुम विमाता कैकेयी के प्रति दुर्भाव रखना। अन्य तो निमित्त मात्र ही हो सकते हैं। शुभाशुभ फल तो व्यक्ति को अपने किये हुए कर्मों का ही मिलता है।'

'कौशल्या' आदि माताओं का आशीर्वाद लेकर राम वन गए। 'रावण' के द्वारा 'सीता' का हरण भी हुआ। 'रावण' का नाश करने के बाद सीता को लेकर राघव पुन: लौट आये। 'भरत' के आग्रह से भी 'राम' ने राज्य स्वीकार नहीं किया। अपने अनुज लक्ष्मण को ही अयोध्या के सिंहासन पर बैठाया। रानी कौशल्या को विरक्ति आ गई, क्योंकि उसने राम को वनवासी वेश में देखा तो अयोध्या में राजसिंहासन का त्यागी रूप भी देख लिया। पति का सुख देखा तो पति-वियोग का दु:ख भी देखा। राजरानी बनी तो राजमाता से बढ़कर गौरव भी प्राप्त किया। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि कौशल्या ने संसार की रंगशाला के कई रंग देख लिये।

साध्वी बनकर सकल कर्मों को तोड़कर उसने निर्वाण प्राप्त किया। कौशल्या की गिनती सोलह सतियों में होती है।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष, पर्व ७

६४. कंस

'कंस' 'मथुरा' नगरी के महाराज 'उग्रसेन' का पुत्र था। जब यह उग्रसेन की महारानी 'धारिणी' के गर्भ में आया तब रानी धारिणी को अपने पति राजा उग्रसेन के कलेजे का माँस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। यह गर्भस्थ शिशु का ही प्रभाव था। इस दुर्भावना के कारण शिशु को जन्म के बाद रानी ने यह सोचकर काँसी की पेटी में डालकर नदी में बहा दिया कि ऐसे पेट के कीड़े से क्या हित होना है।

'शौरीपुर' में सेठ 'सुभद्र' ने उस तैरती हुई पेटी को निकाला। पुत्र को पाकर फूला न समाया। काँसी की पेटी में निकला था इसलिए इसका नाम 'कंस' रखा गया।

'कंस' बड़ा हुआ। इसकी नटखटता, उच्छृंखलता से परेशान होकर 'सुभद्र' ने महाराज 'वसुदेव' के यहाँ इसे नौकर रख दिया। वसुदेव ने इसे शस्त्र-कला म निष्णात बना दिया। अपने कर्त्तव्य के बल पर 'वसुदेव' के यहाँ इसने अपना अच्छा स्थान बना लिया। महाराज 'जरासन्ध' के आदेश से 'वसुदेव' 'कंस' को साथ लेकर 'सिंहरथ' राजा से युद्ध करने गये। वहाँ 'कंस' ने 'सिंहरथ' को पकड़ लिया। 'जरासन्ध' ने अपनी शर्त के अनुसार अपनी पुत्री 'जीवयशा' का पाणिग्रहण 'कंस' के साथ कर दिया। अपने जन्म का

भेद पाकर 'कंस' ने मथुरा का राज्य जरासन्ध से कर-मोचन में माँग लिया। राज्य प्राप्त करके उग्रसेन को पिंजरे में डालकर नगर के दरवाजे पर लटका दिया।

'कंस' ने अपनी चचेरी बहन 'देवकी' का विवाह 'वसुदेव' के साथ करा दिया। जीवयशा ने अपने देवर मुनि उग्र तपस्वी अतिमुक्तक से उपहास किया। उस उपहास से खिन्न होकर मुनि ने कहा—'जिसके विवाह में उन्मुक्त होकर मेरे साथ गीत गाने को ललचा रही है, पर ध्यान रखना, इसी देवकी का सातवाँ पुत्र तेरे कुल का नाश करने वाला होगा।'

कंस भी मुनि के कथन को सुनकर भौंचक्का-सा रह गया। मुनि की वाणी को असत्य सिद्ध करने के लिए 'देवकी' को वहीं रखा। देवकी के छः बालक पैदा हुए, उन्हें देवता 'सुलसा' के यहाँ रखता गया। 'सुलसा' के मरे हुए पुत्रों को कंस पटक-पटककर दूर फेंकता रहा। सातवीं बार श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। उसे वसुदेव गोकुल में नंद-यशोदा के यहाँ दे आये। नन्द की तत्काल पैदा हुई पुत्री लाकर कंस के सामने रख दी। कंस ने उसकी नासिका छिन्न करके छोड़ दिया।

'कंस' ने एक बार एक नैमित्तिक से अपनी मृत्यु के संबंध में पूछा तब नैमित्तिक ने कहा—'जो तुम्हारे बैल, गर्दभ, हाथी, अश्व, चाणूर-मल्ल आदि को मारेगा तथा सत्यभामा के स्वयंवर-मण्डप में धनुष को तोड़ेगा, वही तुम्हें मारेगा।'

एक-एक करके सब सामने आते गये और श्रीकृष्ण सबको मारते गये। अन्त में कंस को भी श्रीकृष्ण ने समाप्त कर दिया। कंस को मारकर मथुरा का राज्य, पिंजरे के बंधन से मुक्त करके, उग्रसेन को दिया। उग्रसेन ने अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह श्रीकृष्ण के साथ कर दिया। कंस मरकर नरक में गया।

—आवश्यक चूर्णि

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८

—वसुदेव हिंड़ी

६५. खंधक कुमार (स्कंदक)

सावत्थी (श्रावस्ती) नगरी के महाराज 'जितशत्रु' की पटरानी का नाम 'धारिणी' था। उसके एक पुत्र और पुत्री थी। पुत्र का नाम था 'खंधक कुमार'

(स्कंदक) तथा पुत्री का नाम था 'पुरन्दरयशा'। 'पुरन्दरयशा' का विवाह दण्डक देश की राजधानी 'कुंभकटकपुर' के स्वामी दण्डक राजा के साथ किया गया था। दण्डक राजा के मंत्री का नाम था 'पालक' जो महापापी, क्रूरकर्मी, अभव्य तथा जैनधर्म का द्वेषी था।

एक बार 'पालक' 'सावत्थी' नगरी में आया। प्रसंगवश 'खंधक कुमार' से धार्मिक चर्चा चल पड़ी। खंधक के तर्क-पुरस्सर विवेचन तथा जैनधर्म के गौरवपूर्ण प्रतिष्ठापन से पालक का खून खौल उठा। 'खंधक' द्वारा प्रस्तुत किये गये अकाट्य तर्कों के सामने पालक को बहुत ही बुरी तरह से मुँह की खानी पड़ी, पर उपाय क्या? मन-ही-मन तिलमिलाता 'कुंभकटकपुर' लौट आया। उसने खंधक के प्रति शत्रुता की गाँठ बाँध ली।

भगवान श्री मुनिसुव्रत स्वामी एक बार 'सावत्थी' नगरी में पधारे। राजकुमार खंधक ने भगवान का उपदेश सुना। विरक्त होकर पाँच सौ राजपुत्रों के साथ दीक्षित हो गया। 'खंधक' ज्ञान-चरित्र की साधना में निष्णात हुआ।

एकदा 'खंधक' के मन में आया 'कुंभकटकपुर' नगर जाकर अपनी सहोदरी 'पुरन्दरयशा' को अवश्य प्रतिबोध दूँ। वहाँ जाने के लिए जब प्रभु से आज्ञा चाही, तब प्रभु ने फरमाया—'वहाँ जाने में तुम्हें मरणान्तक कष्ट उपस्थित होगा।'

खंधक ने फिर पूछा—'*माना कि मरणान्तक कष्ट होगा, पर सारे आराधक होंगे या विराधक?*'

प्रभु ने फरमाया—'तुम्हारे सिवाय सभी आराधक होंगे। केवल एक तू ही विराधक होगा।'

खंधक मुनि फिर भी नहीं रुके। उन्होंने सोचा—मेरा एक अहित होकर भी यदि सबका हित सधता हो तो लाभ का ही सौदा है। ऐसा विचार करके वे अपने पाँच सौ शिष्यों सहित कुंभकटकपुर चले आये और नगर के बाहर उपवन में ठहर गये।

'पालक' को जब पता लगा कि पाँच सौ शिष्यों के साथ खंधक यहाँ आये हैं, तब उसने अपनी पराजय का बदला लेना चाहा। राजा को बरगलाने के लिए एक षड्यन्त्र रचा। उपवन में गुप्त रूप से शस्त्र गड़वाकर राजा से उसने कहा—'खंधक आपका राज्य छीनने आये हैं, मौके की ताक में हैं। अपने आवास-स्थान के आसपास गुप्त रूप से शस्त्र गाड़ रखे हैं। इसके साथ

जो पाँच सौ श्रमण हैं, वे साधु नहीं सुभट हैं।'

राजा लोग कान के कच्चे होते ही हैं। उसे भी खंधक मुनि के प्रति शंका हो उठी। उसने स्वयं जाकर उपवन की भूमि खुदवाई तो शस्त्र निकल आये। उन्हें देखते ही राजा दण्डक कुपित हो उठा। 'पालक' को यह काम यों कहकर सौंप दिया कि जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करना।

'पालक' को और क्या चाहिए था? बगीचे में एक बहुत बड़ा कोल्हू लगवाया। एक-एक करके साधुओं को उसमें पीलने लगा। जनता में हाहाकार मच गया, पर कोई क्या करे? उसने चार सौ निन्यानवे साधुओं को उस कोल्हू में पेल दिया। चारों ओर खून के नाले बहने लगे। माँस के लोथड़ों के ढेर पड़े हैं, पक्षीगण मँडरा रहे हैं, पर इस नृशंस को दया कहाँ !

महामुनि खंधक सभी सन्तों को समाधिस्थ रहने की बलवती प्रेरणा देते रहे। जब सबसे छोटे शिष्य को पीलने के लिए पालक ने पकड़ा तब खंधक मुनि का धैर्य डोल उठा। विचलित दिल खंधक ने पालक से कहा—'मुझे इस लघु शिष्य का अवसान तो मत दिखा। मुझे भी तो तू पीलना चाहेगा। तेरे लिए पहले-पीछे में क्या फर्क पड़ता है? पहले मुझे पील दे, बाद में इसे पीलना।'

यह सुनते ही पालक की बाँछे खिल उठीं। त्यौरियाँ बदलकर बोला—'मुझे पता ही नहीं था कि तुझे इसी का अधिक दुःख है। इसलिए इसे तो तेरी आँखों के सामने अवश्य पीलूंगा। यों कहकर उस लघु साधु को कोल्हू में डाल दिया।

खंधक अपने आपको सँभाले नहीं रख सके। कुपित होकर तीखे स्वर में बोले—'देख, मेरे त्याग और तप का यदि कुछ फल है तो मैं तुम्हारे लिए, तुम्हारे देश के लिए, तुम्हारे राजा के लिए नामोनिशान मिटाने वाला बनूँ।' यों बोलते हुए मुनि को पालक ने पकड़कर कोल्हू में डाल दिया।

खंधक मुनि दिवंगत होकर अग्निकुमार देव बने। अवधिज्ञान से जब उन्होंने अपना पूर्वजन्म देखा तब कुपित होना सहज ही था। अग्नि की विकुर्वणा करके सारे नगर को भस्म कर दिया। कुछ ही क्षणों में 'दण्डक' देश 'दण्डकारण्य' बन गया, कोई भी नहीं बचा। केवल पुरंदरयशा, जो खंधक की बहन थी, बची। बचने का एक कारण था। रानी ने खंधक मुनि को पहले एक रत्नकम्बल दिया था। मुनि ने उस कम्बल का रजोहरण बनाया था। मुनि के पीले जाने पर उस खून से सने रजोहरण को कोई पक्षी माँस की बोटी समझकर

चोंच में ले चला, पर भार अधिक होने से महारानी के सामने महलों में लाकर उसे गिरा दिया। रानी ने उसे पहचाना तब पता लगा—उसके भाई को, उनके पाँच सौ शिष्यों सहित पालक ने कोल्हू में पील दिया है। रानी बिसूर-बिसूरकर रोने लगी। विलाप करती हुई महारानी को देवता ने उठाकर प्रभु के समवसरण में पहुँचा दिया। वह वहाँ साध्वी बन गई। अवशेष सारे देश का खुरखोज ही नष्ट हो गया।

यह वही दण्डकारण्य है, जहाँ वनवास के समय राम, लक्ष्मण और सीता आये थे और लक्ष्मण के हाथों शम्बूक का अनायास ही वध हो गया था।

—निशीथचूर्णि

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ७

६६. खंधक (स्कंदक) परिव्राजक

'खंधक' सावत्थी (श्रावस्ती) नगरी में रहने वाले गर्दभालि परिव्राजक का शिष्य था। वैदिक परम्परा का सांगोपांग उसे परिज्ञान था। एक बार भगवान महावीर की परम्परा के एक 'पिंगल' नाम के निर्गन्थ से उसे मिलने का प्रसंग आया। पिंगल ने खंधक से कई प्रश्न पूछे—'खंधक ! लोक अन्त-सहित है या अन्त-रहित है? वैसे ही जीव, सिद्धिशिला तथा सिद्ध भी अन्त सहित हैं *या अन्त रहित हैं? तथा किस प्रकार की मृत्यु से मरने पर संसार घटता है तथा किस प्रकार की मृत्यु से संसार बढ़ता है?*

खंधक इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सका। दिल में एक प्रकार की अबूझ पैदा हुई।

इतने में सावत्थी नगरी में लोगों के मुँह से सुना—भगवान महावीर यहाँ से थोड़ी दूर ही कयंगला नगरी में पधारे हैं। यह संवाद पाकर खंधक भगवान महावीर के पास पहुँचने के लिए चल पड़ा।

उसके पहुँचने से पहले ही भगवान महावीर ने समवसरण में गौतम स्वामी को सम्बोधित करके कहा—'गौतम ! आज तुझे तेरा पूर्व-स्नेही खंधक मिलेगा और वह आने ही वाला है। पिंगल ने लोक आदि के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे थे। वह उत्तर नहीं दे सका, इसलिए वह यहाँ आ रहा है।'

गौतम ने जिज्ञासा प्रकट करते हुए भगवान से पूछा—'भन्ते ! खंधक आपके पास साधुत्व स्वीकार करेगा?'

भगवान महावीर ने फरमाया—हाँ, स्वीकार करेगा।

गौतम स्वामी खंधक के पास गये। भगवान की कही हुई सारी बात कही। खंधक बहुत ही प्रभावित हुआ।

भगवान महावीर के पास पहुँचकर सारी जिज्ञासाएं रखीं। भगवान ने समाधान देते हुए कहा—'खंधक ! लोक, जीव, सिद्धि और सिद्ध—इन चारों के चार-चार भेद हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। चारों ही द्रव्य से और क्षेत्र से सान्त हैं। काल से और भाव से चारों ही अनन्त हैं तथा बालमरण से मरने वाला संसार बढ़ाता है तथा पंडितमरण से मरने वाला संसार घटाता है। भगवान से सारी शंकाओं का समुचित समाधान पाकर बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। अपना परिव्राजक का वेश छोड़कर भगवान महावीर से पाँच महाव्रत स्वीकार किये। साधु बनने के बाद ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। भिक्षु की बारह प्रतिमाओं का वहन किया। दुष्कर 'गुणरत्न[1] संवत्सर' तप के द्वारा अपनी आत्मा को पूर्णतः भावित करके राजगृही के विपुलगिरि पर्वत पर अनशन कर लिया। एक महीने का अनशन कर, बारह वर्ष के संयम का परिपालन कर बारहवें स्वर्ग में पैदा हुआ। वहाँ से महाविदेह में जाकर मुक्त होगा।

—भगवती सूत्र, २।१

६७. खंधक मुनि

'सावत्थी' नगरी के महाराज 'कनककेतु' की महारानी का नाम था 'मलयासुन्दरी'। राजकुमार का नाम था खंधक तथा राजकुमारी का नाम था 'सुनन्दा'। 'खंधक कुमार' अनेक कार्य करने में कुशल तथा विचक्षण था तो कुमारी सुनन्दा भी परम विदुषी और शुभ संस्कार वाली थी। दोनों में अत्यधिक प्रेम था। 'सुनन्दा' का विवाह 'कुन्ती' नगर के महाराज 'पुरुषसिंह' के साथ किया गया।

एक बार 'सावत्थी' नगरी में 'विजयसेन' मुनि आये। राजकुमार 'खंधक' मुनि की वाणी सुनकर विरक्त हो गया। संयमी बन गया। संयम लेकर थोड़े ही दिनों में सुयोग्य बना।

---

१. इस तप में क्रमशः १/१६ २/१० ३/८ ४/६ ५/५ ६/४ ७/३ ८/३ ६/३ १०/३ ११/३ १२/२ १३/२ १४/२ १५/२ १६/२ करने होते हैं। एक परिपाटी में ४८२ दिन लगते हैं, जिसमें ४०८ दिन का तप तथा ७४ पारणे आते हैं।

साधना की विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं तो साधकों की विभिन्न रुचियाँ। कोई सामुदायिक साधना में रस लेता है तो कोई व्यक्तिगत साधना में। द्वन्द्व वहाँ नहीं होता है। द्वन्द्व वहाँ होता है, जहाँ एक-दूसरे को हीन मानकर अपने आपको श्रेष्ठ मानने का भाव उभरता है।

खंधक मुनि गुरु से स्वतन्त्र विहार का आदेश प्राप्त कर स्वतन्त्र विचरने लग। जब खंधक मुनि के पिता महाराज 'कनककेतु' को मुनि के पृथक् विहार का पता लगा तो पितृ-हृदयवश अपने पाँच सौ सुभटों को मुनि के अंगरक्षक के रूप में मुनि के साथ भेज दिया। 'खंधक' मुनि को इनकी कोई अपेक्षा नहीं थी। फिर भी वे पाँच सौ सुभट छाया की तरह मुनि के साथ-साथ रहते थे। कोई कितनी ही सजगता क्यों न रखे, परन्तु भवितव्यता के दरवाजे तो फिर भी खुले ही रहते हैं।

खंधक मुनि विहार करते-करते अपनी बहन की राजधानी कुन्ती नगर में आये। मास के तप का मुनि के पारणा था। सुभटों ने सोचा—यहाँ तो बहन का ही राज्य है, यहाँ मुनि को क्या भय होना है। इस प्रकार विचार कर नगर में इधर-उधर घूमने चले गए। मुनि भिक्षा के लिए जाते हुए राजमहल के नीचे से गुजरे। ऊपर गवाक्ष में बैठे राजा-रानी अर्थात् पुरुषसिंह और सुनन्दा चौपड़ खेल रहे थे।

मुनि को देखकर रानी सुनन्दा को अपने भाई की स्मृति हो गायी। खेल से दिल उचट गया। आँखों में आँसू आ गये। राजा ने सोचा, रानी मुनि को देखकर अन्यमनस्क क्यों हुई। उसे रानी के चरित्र पर सन्देह हुआ। खेल समाप्त कर सभा में आया। आव देखा न ताव, बिना विचारे ही जल्लाद को बुलाकर मुनि की चमड़ी उतारने का आदेश दे दिया। जल्लाद मुनि को पकड़कर श्मशान में ले गये। मुनि की नख से शिख तक सारी चमड़ी उतार दी। मुनिवर को भयंकर वेदना थी। फिर भी वे समाधिस्थ रहे। अद्भुत तितिक्षा से केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में पहुँचे।

मुनि के छीले जाने के बाद यह दुश्चर्चा नगर में हवा की भाँति फैल गई। जिसने भी सुना, उसने राजा की भर्त्सना की। सुभटों को जब पता लगा तब वे भी अपनी असावधानी पर बिसूर-बिसूरकर रोने लगे। भेद खुला तो अपने साले की इस भाँति निमर्म हत्या से राजा पुरुषसिंह भी शोकाकुल हो उठा। रानी

के दुःख का तो कोई ठिकाना ही नहीं था। किन्तु 'अब पछताय होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत।'

संयोग की बात थी कि 'धर्मघोष' मुनि उसी दिन वहाँ पधारे। राजा-रानी तथा सहस्रों नागरिक मन-ही-मन दुःख, ग्लानि, घृणा समेटे मुनि की सेवा में उपस्थित हुए। राजा ने अनुताप करते हुए मुनि से यही प्रश्न किया—'भगवन् ! मेरे से ऐसा जघन्यतम पाप क्यों हुआ?'

उत्तर देते हुए 'धर्मघोष' मुनि ने कहा—राजन् ! खंधक से अपने पूर्वभव में एक महापाप हुआ था। खंधक उस समय भी राजकुमार था। उसने उस समय एक काचर छीला था। छिलका उतारकर वह बहुत प्रसन्न हुआ कि बिना कहीं तोड़े मैंने पूरे काचर का छिलका एक साथ उतार दिया। उसी प्रसन्नता से कुमार के गाढ़ कर्मों का बन्धन हुआ। उसी घोर पाप-बन्ध के परिणामस्वरूप यहाँ उसकी चमड़ी उतारी गई। तू भी उसी काचर में उस समय एक बीज था। तूने अपना बदला यहाँ ले लिया।

सुनने वाले कर्मों के अनुबन्ध पर विस्मित थे।

—आवश्यक कथा

६८. गर्गाचार्य

गर्गाचार्य एक ऋद्धिसम्पन्न उत्कृष्टाचारी आचार्य थे। उनकी शिष्य-परम्परा में पाँच सौ शिष्य थे। परन्तु संयोग की बात थी कि सभी शिष्य अविनीत, उच्छृंखल और असमाधिकारक थे।

एक बार ऐसा प्रसंग आया कि गर्गाचार्य अस्वस्थ हो गये। किसी भी कार्य के लिए किसी शिष्य को कहा जाता तो सब टालमटोल कर देते। कोई कहता—वहाँ कोई मिलता ही नहीं है। कोई कहता—आप मुझे ही कहते हैं, इतने और बैठे हैं, इनसे तो आप कुछ कहते ही नहीं हैं। यों गर्गाचार्य की असमाधि प्रतिदिन बढ़ने लगी। गर्गाचार्य ने सोचा—ऐसे कुशिष्यों से क्या भला होने वाला है? साहस करके सभी शिष्यों का परित्याग करके एकल विहारी बन गये। पूर्णतः समाधिस्थ होकर क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

—उत्तराध्ययनसूत्रवृत्ति, अध्ययन २६

६६. गजसुकुमार

एक बार प्रत्यक्ष देवलोक जैसी 'द्वारिका' नगरी में भगवान अरिष्टनेमि पधारे। उनके साथ विशाल साधु समुदाय था। उन साधुओं में छः साधुओं का एक समूह दो-दो की टुकड़ी में भिक्षा के लिए नगर में आया। दो साधुओं का एक युगल महारानी 'देवकी' के महल में भिक्षार्थ पहुँचा। 'देवकी' मुनि युगल को देखकर पुलकित हो उठी। श्रीकृष्ण के प्रातराश करने के केसरिया मोदक रखे थे। उनमें से कुछ मोदक मुनि को दे दिये। वे गये, इतने में दूसरा युगल आया। वे मुनि भी मोदक लेकर गये, इतने में तीसरा युगल आया। देवकी ने उन्हें भी मोदक दिये, पर कौतुहल के साथ-साथ कुछ विषाद की रेखा मन में उभरी। विषाद को मन ही मन में समेटे देवकी ने मुनि-युगल से प्रश्न किया—"मुनिवर ! इतनी विशाल नगरी में आपको अन्यत्र शुद्ध आहार की उपलब्धि न हो सकी। इसलिए आपने तीसरी बार मेरे घर पधारने की कृपा की। कहा जाता है, राजा जैसी प्रजा होती है। श्रीकृष्ण कहीं धार्मिक कार्यों से अनपेक्ष तो नहीं हो गये हैं, जिससे नगर-जनों की भावना भी घट गई हो। साधु-संतों को पूरा आहार भी न मिलता हो?"

देवकी की मनोभावना समझने में मुनि-युगल को देर नहीं लगी। संशय का निवारण करते हुए मुनि बोले—"महारानीजी! हम तीसरी बार महलों में नहीं आये हैं, अपितु हम एक-जैसे छः भाई हैं। संभवतः वे चारों यहाँ आये होंगे। सुनो, हम 'भद्दिलपुर' के रहने वाले नाग गाथापति की धर्मपत्नी 'सुलसा' के पुत्र हैं। छः सहोदर भाई हैं। बत्तीस-बत्तीस पत्नियों को छोड़कर संयमी बने हैं, बेले-बेले की तपस्या करते हैं और आज साथ ही पारणा का दिन है, इसलिए वे आये होंगे।"

मुनिवर भिक्षा लेकर चले गये। देवकी शोकाकुल हो उठी। सोचा—'अतिमुक्तक' मुनि ने मुझसे कहा था—तेरे आठ पुत्र होंगे। तू नल-कूबर के समान स्वरूपवान पुत्रों को जन्म देगी। तेरे जैसे पुत्र भरतक्षेत्र में किसी के भी न होंगे। ये छः तो 'सुलसा' के हैं। मेरे भी छः पुत्र तो हुए थे, पर सारे-के-सारे मृत थे। मुनि का कहा हुआ असत्य कैसे हुआ?

यों शंकाओं में बुरी तरह से घिरी हुई देवकी प्रभु के दर्शनार्थ गई। भगवान ने देवकी की शंकाओं को मिटाते हुए सारी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—

'देवकी ! ये पुत्र तुम्हारे ही हैं, सुलसा के यहाँ बड़े हुए हैं; किन्तु ये हैं तुम्हारे ही। सुलसा के मृत-पुत्रों को लाकर देवता ने तुम्हारे यहाँ रख दिया था।'

देवकी ने पुनः उन मुनियों के दर्शन किये। ज्यों-ज्यों वह उन्हें देखती, त्यों-त्यों रोमांचित हो उठती थी। वन्दना करके महलों में आ बैठी। पर मन में एक नया दुःख उभर आया कि सात-सात पुत्र पैदा हुए थे। ये छः सुलसा के यहाँ पले और सातवें श्रीकृष्ण का लालन-पालन गोकुल में हुआ। मैंने सात पुत्रों क प्रसव करके भी लालन-पालन एक का भी नहीं किया। एक की भी बाल-क्रीड़ाओं से आनंदित नहीं हुई। मुझ जैसी अभागी कौन होगी?

यों मन-ही-मन वह झूर रही थी। इतने में चरण-वन्दन के लिए श्रीकृष्ण महलों में आये। देवकी ने अपनी मनोव्यथा श्रीहरि से स्पष्ट कह डाली। अपनी माँ की मनोव्यथा मिटाने के लिए श्रीकृष्ण ने पौधशाला में तीन दिन का व्रत किया। देवता ने उपस्थित होकर लघु बांधव होने का संकेत दिया, पर साथ में इतना अवश्य कहा—"वह अल्पायु में ही मुनि बन जायेगा।"

सवा नौ महीने में देवकी के पुत्र पैदा हुआ। गजतालु के समान कुमार का तन सुकोमल था अतः इसका नाम भी गजसुकुमार रखा गया। गजसुकुमार बड़ा होने लगा। श्रीकृष्ण ने सोमिल ब्राह्मण की पुत्री सोमश्री अपने लघु भाई के लिए अविवाहित ही अन्तःपुर में रखवा दी।

तीर्थंकर 'अरिष्टनेमि' द्वारिका में पधारे। 'गजसुकुमार' प्रभु के उपदेश से प्रबुद्ध हुआ। श्रीकृष्ण, वसुदेव और देवकी ने संयम नहीं लेने के लिए बहुत-बहुत कहा, परन्तु 'गजसुकुमार' कब रुकने वाले थे। जब पूर्णतः सज्जित हो उठे, तब माता ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"देख लाल ! अब दूसरी और माता न बनाना। बस, तेरी अन्तिम माँ मैं ही हूँ, इसी सजगता से संयम-पथ पर बढ़ना है।"

माँ की इस शिक्षा को साकार करने के लिए गजसुकुमार ने मुनि बनकर प्रभु की आज्ञा लेकर महाकाल श्मशान भूमि में जाकर भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा स्वीकार कर ली।

मुनि ध्यानस्थ खड़े थे। उधर से सोमिल आया। मुनि को देखते ही उसका क्रोध भभक उठा।। मन-ही-मन बड़बड़ाता हुआ कहने लगा—'ढोंगी कहीं का ! मेरी पुत्री का जन्म ही बिगाड़ दिया। अब यहाँ आकर साधु बन गया। आव देखा न ताव, गीली मिट्टी लाकर सिर पर पाल बाँध दी, फिर पास खड़े धधकते अंगारे उसमें भर दिये।

इधर धधकते अंगारों में मुनिवर का सिर और शरीर जल रहा है, उधर सोमिल का क्रोध बढ़ रहा है। मुनिश्री अपनी समत्व की साधना में क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जा विराजे। माता का दिया हुआ आशीर्वाद पूर्णतः साकार कर दिया।

प्रातःकाल श्रीकृष्ण भगवान के दर्शन करने आये। वहाँ गजसुकुमार नजर न आये। प्रभु से पूछने से पता लगा, वह तो जिस कार्य हेतु उद्यत हुआ था वह उसने प्राप्त कर लिया। अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया।

अपने छोटे भाई मुनि गजसुकुमार की मृत्यु का समाचार सुनकर श्रीकृष्ण स्तब्ध रह गये। व्यथित हृदय मृत्यु का कारण जानना चाहा। प्रभु ने भेद खोलते हुए कहा—"जैसे तुम अभी यहाँ आ रहे थे। मार्ग में उस बूढ़े की ईंटों का ढेर इधर से उधर करने में जैसे सहयोग बने अर्थात् तुम्हारे एक ईंट के इधर से उधर रखने में सारी सेना ने तुम्हारा अनुकरण किया, वह सारा ढेर कुछ ही क्षणों में इधर का उधर हो गया। वह बूढ़ा तुम्हारे इस सहयोग को कब भूलेगा? ठीक वैसे ही गज मुनि को भी एक सहयोगी मिल गया था, जिससे दीर्घकाल में प्राप्त करने वाली सिद्धि इसने सहज में शीघ्र प्राप्त कर ली।"

यह सारा दुःखद संवाद सुनकर श्रीकृष्ण कुपित, व्यथित और श्लथित हो उठे। बात को आगे बढ़ाते हुए पूछा—'प्रभो ! मैं उस पुरुष को कैसे पहचानूँगा?' प्रभु ने कहा—'तुम्हारे यहाँ से लौटते समय पथ में जो तुम्हें देखकर भयभीत होकर मूर्च्छित हो जाये, समझ लेना यह वही व्यक्ति है।'

प्रभु को नमस्कार कर, निःश्वास फेंकते हुए श्रीकृष्ण वहाँ से चले। मन में आया—जब मेरे सहोदर की यों अपमृत्यु हो गई, तब मुझे राजमार्ग से जाना शोभा नहीं देगा। अतः अन्य रास्ते से जाने लगा।

उधर सोमिल ने भी सोचा कि श्रीकृष्ण प्रभु के दर्शनार्थ जायेंगे। वहाँ मेरे काले कारनामों का भंडाफोड़ अवश्य होगा। फिर श्रीकृष्ण मेरे गुनाह को कब माफ करेंगे? अतः अच्छा होगा मैं इस पुर का परित्याग करके कहीं अन्यत्र चला जाऊँ, ताकि बच जाऊँ। यों विचार कर कहीं जाने लगा। रास्ते में श्रीकृष्ण सामने से आते हुए दिखाई दिये। सोमिल श्रीकृष्ण को देखते ही भयभीत हो उठा और सहसा मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर गया। भय से उसके प्राण-पखेरू उड़ गये।

श्रीकृष्ण ने उसे पहचान लिया। अपने बन्धु के हत्यारे को चाण्डालों को सौंपकर उसकी दुर्दशा करवा अपने क्रोध को शान्त किया।

अब तो सबके सामने इसके पापों का भंडाफोड़ हो चुका था। जिसने भी सुना, वह उसकी काली करतूतों की भर्त्सना किये बिना नहीं रह सका। सभी के मुँह पर एक ही चर्चा थी—धन्य है उस क्षमामूर्ति गजसुकुमार को, जिसका जीवन-वृत्त युग-युग तक संसार को क्षमा का आलोक प्रदान करता रहेगा।

—अन्तकृद्दशा ८

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८

७०. गर्दभाली मुनि

'गर्दभाली' मुनि एक महान् समर्थ आचार्य थे। एक बार वे पांचाल देश के 'कांपिलपुर' नगर के 'केशर' नाम के उद्यान में ध्यानस्थ खड़े थे। इतने में 'संयती' राजा वहाँ शिकार करने आया। मुनि झाड़ी की ओट में खड़े थे। दूर से राजा ने एक हरिण पर बाण छोड़ा। बाण ने हरिण को बींध डाला। तड़पता हुआ हरिण ध्यानस्थ 'गर्दभाली' की गोद में आ गिरा।

संयती राजा ने जब हरिण को मुनि की गोद में छटपटाता देखा, तब राजा यह सोचकर भयभीत हो उठा—हो न हो यह हरिण इन महामुनि का है। मैंने अनर्थ कर डाला। मुनिवर के हरिण को मार डाला। अवश्य मुनिवर मुझ पर कुपित होंगे और मुझे शाप देकर भस्म कर देंगे। इस प्रकार भय से काँपता हुआ संयती राजा मुनि के पैरों में आ गिरा। अपने अपराध की क्षमायाचना करता हुआ बोला—"मैंने अनजान में आपके इस हरिण का वध कर दिया, आप मुझे क्षमा कर दें। संत लोग सहज क्षमाशील होते हैं।"

यों पुनः-पुनः वन्दना करता हुआ, क्षमा माँगता हुआ संयती राजा मुनि के प्रति भक्ति दिखाने लगा।

मुनि ने ध्यान समाप्त किया। घबराते हुए राजा को आश्वस्त करते हुए बोले—'राजन् ! घबराओ मत ! मैं तुम्हें अभय देता हूँ और मैं चाहूँगा तुम भी इन मूक निरीह पशुओं को अभय दो। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता। जैसे तुम्हें अपने प्राण प्रिय हैं, वैसे ही सभी को अपने प्राण प्रिय हैं। तनिक से जिह्वा के स्वाद के लिए यों पशुओं का हत्यारा बन जाना कहाँ तक समुचित है?

मुनि के शान्त-प्रशान्त उपदेश से संयती राजा प्रबुद्ध हुआ। गर्दभाली मुनि के पास संयम स्वीकार किया।

गर्दभाली मुनि भी चरित्र की उत्कृष्ट आराधना करके मोक्ष पधारे।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १८

७१. गोशालक

'राजगृही' नगरी के पास 'श्रवण' नाम का एक गाँव था। वहाँ एक 'मंखली' नाम का चित्रकार था। उसकी पत्नी का नाम 'सुभद्रा' था। मंखली जैसे-तैसे अपनी आजीविका चलाता था। 'सुभद्रा' गर्भवती थी। 'मंखली' अपनी गर्भवती पत्नी को साथ लिये एक गाँव में पहुँचा। वहाँ गोबहुल नाम के एक धनाढ्य के यहाँ गोशाला में पैदा होने से इसका नाम 'गोशालक' पड़ गया। यह भी बड़ा होकर हाथ में एक चित्रपट लेकर भिक्षा करके अपनी आजीविका चलाने लगा।

उधर भगवान 'महावीर' ने प्रव्रजित होकर अपना प्रथम चातुर्मास 'अस्थिग्राम' में बिताया। दूसरा चातुर्मास 'राजगृह' में एक बुनकर की शाला में बिता रहे थे। संयोगवश घूमता-घुमता 'गोशालक' भी वहीं आ गया। अपना सामान भी उसी शाला के एक कोने में रखकर वहीं ठहर गया।

प्रभु ने प्रथम मासोपवास का पारणा 'विजय सेठ' के यहाँ किया। सुपात्र-दान के कारण विजय सेठ के यहाँ विपुल रत्नों की वर्षा हुई। सभी ने विजय सेठ के भाग्य की सराहना की। चारों ओर विजय सेठ की महिमा फैल गई।

गोशालक ने जब यह सारा चामत्कारिक वर्णन सुना तब मन में सोचा— मैं भी भगवान् महावीर का शिष्य बन जाऊँ तो निहाल हो जाऊँगा। इस प्रकार विचार कर 'महावीर' के पास आया और शिष्य बनने की प्रार्थना की। पर महावीर प्रभु मौन रहे। यों दूसरे महीने के पारणे के दिन, तीसरे महीने के पारणे के दिन भी शिष्य बनने की गोशालक ने प्रार्थना की; परन्तु प्रभु मौन रहे। चौथी बार स्वयं लुंचित होकर साधु के वेश में शिष्य बनने की प्रार्थना की, तब प्रभु ने इसे स्वीकार कर लिया। पर उसका बर्ताव सदा ही उच्छृंखलतापूर्ण रहा। प्रभु की जहाँ-जहाँ महिमा होती, वह उसे सुन जल-भुनकर खाक हो जाता। फिर भी भगवान् महावीर से अनुभव प्राप्त करने के लिए साथ-साथ रहता था।

एक बार 'गोशालक' भगवान महावीर के साथ 'कूर्मग्राम' की ओर जा रहा था। मार्ग में एक खेत में तिल का पौधा था, जिसके सात फूल आए हुए थे। 'गोशालक' ने प्रभु से पूछा—'प्रभु ! ये सात फूलों के जीव कहाँ पैदा होंगे?'

भगवान महावीर ने कहा—ये सात फूलों के जीव इसी तिल के पौधे में एक फली में पैदा होंगे।

महावीर आगे चले गये, तब 'गोशालक' ने प्रभु के कथन को असत्य करने के लिए उस पौधे को उखाड़कर एक ओर फेंक दिया।

संयोग की बात थी, वर्षा का मौसम था। उस पौधे को जहाँ फेंका था, मिट्टी और जल का योग पाकर वहीं पल्लवित हो गया।

कुछ समय के बाद जब प्रभु उधर आये तब गोशालक ने उसकी फली को तोड़कर देखा तो उसमें सात तिल थे। सात तिलों को देखकर 'गोशालक' मौन हो गया।

कूर्मग्राम के बाहर एक वैश्यायन नाम का तपस्वी तपस्या में रत था। वह बेले-बेले (दो दिन का उपवास) की तपस्या करता और सूर्य का आताप लिया करता। उसके सिर में जुएं अधिक थीं। धूप के कारण जुएं सिर से ज्यों-ज्यों नीचे गिरती थीं, त्यों-त्यों वह उन्हें उठाकर वापस सिर में डाल लेता। गोशालक उसे कुछ देर तक देखता रहा और उसे यों करते देखकर उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—'अरे, ओ जुओं के शय्यातर ! यह क्या ढोंग रचा रखा है?'

वैश्यायन को क्रोध आ गया। कुपित होकर उसने गोशालक को भस्म करने के लिए तेजोलेश्या का प्रयोग किया। तेजोलेश्या ज्यों ही गोशालक पर आक्रमण करने वाली थी कि भगवान् महावीर ने शीतलेश्या फेंककर गोशालक की रक्षा की।

वैश्यायन ने कहा—प्रभु ! मैंने पहचान लिया। आपके प्रताप से यह अधम बच निकला, अन्यथा यह आज यहाँ भस्म हो ही जाने वाला था।

चमत्कृत होकर 'गोशालक' ने तेजोलेश्या कैसे प्राप्त की जा सकती है, यह सारा भेद प्रभु से पूछा।

प्रभु ने कहा—छः महीने तक बेले-बेले का तप करके सूर्य की आतापना

ले तथा पारणे के दिन (व्रत खोलने के दिन) एक मुट्ठी उड़दों के बाकुलों का भोजन करे तो तेजोलेश्या प्राप्त की जा सकती है।

गोशालक दुस्साहसी तो था ही, लग गया तेजोलेश्या की साधना में। छः महीने की साधना करके तेजोलेश्या प्राप्त कर ली।

गोशालक छः वर्ष तक भगवान महावीर के साथ रहा, फिर उनसे पृथक् हो गया। उधर भगवान् 'पार्श्वनाथ' के छः साधु उसमें आ मिले। उनके संसर्ग से वह अष्टांग निमित्त का विशेषज्ञ हो गया। लोगों को हानि-लाभ, सुख-दुःख आदि की भविष्यवाणियाँ करने लगा। लोगों में अच्छा प्रभाव बढ़ गया। अब वह अपने आपको तीर्थंकर बताने लगा। भगवान् महावीर को असर्वज्ञ, अल्पज्ञ बताकर अपने आपको सर्वज्ञ की भाँति पुजवाने लगा।

एक बार 'सावत्थी' नगरी में भगवान् महावीर के पास समावसरण में आया। वहाँ ऊलज़लूल बातें करते देखकर सुनक्षत्र और सुर्वानुभूति मुनि ने उसे टोका। गोशालक ने कुपित होकर उन पर तेजोलेश्या का प्रयोग किया तथा दोनों सन्तों को भस्म कर दिया। प्रभु को भी तेजोलेश्या का प्रयोग करके भस्म करना चाहा, पर अनन्तबली प्रभु के शरीर में वह प्रविष्ट न हो सकी। लौटकर सारी तेजोलेश्या गोशालक के ही शरीर में प्रविष्ट हो गई। उसका सारा शरीर जलने लगा तो। अंट-संट बोलता हुआ, प्रभु से बोला—'आज के सातवें दिन तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी।' प्रभु ने कहा—'मैं तो अभी सोलह वर्ष तक पृथ्वी पर विचरूंगा। हाँ, तेरा आयुष्य अवश्य सात दिन का है।'

तेजोलेश्या के योग से गोशालक के शरीर में भयंकर गर्मी बढ़ गई। अन्तिम समय में जब मौत दीखने लगी, तब अपने श्रावकों के सामने अपनी आत्म-निन्दा करते हुए कहा—"मैं असत्यभाषी हूँ, दो सन्तों का संहारक हूँ, धर्मगुरु के साथ मिथ्याप्रवृत्ति करने वाला हूँ। मेरे मरने के बाद मेरे पैर में रस्सी बाँधकर 'सावत्थी' नगरी में मुझे घसीटना। मेरे सारे कुकृत्यों को सबके सामने प्रकट कर देना।" यों कहकर मृत्यु को प्राप्त कर बारहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। अन्तिम समय में की हुई आत्मालोचना का सुफल हाथोंहाथ पा लिया।

पीछे से श्रावकों ने मकान के भीतर ही 'सावत्थी' का नक्शा बनाकर गोशालक के कहे अनुसार सारी विधि आचरित की। किन्तु प्रकट रूप में खूब ही धूमधाम से दाह-क्रिया का कार्य सम्पन्न किया।

—भगवती सूत्र, शतक १५

७२. चण्डकौशिक

एक बार गुरु-शिष्य दोनों एक गाँव से दूसरे गाँव को जा रहे थे। मार्ग में गुरुजी के पैर से एक मृत मेंढक के कलेवर का स्पर्श हो गया। शिष्य ने सचेत किया। "वह तो मरा हुआ ही था"—गुरु ने शान्त स्वर में शिष्य से कहा।

स्वस्थान पर आकर शिष्य ने फिर उस पाप का प्रायश्चित करने के लिए कहा। गुरुजी मौन रहे। शिष्य ने सोचा—यह मेरी ही गलती है, मुझे अभी न कहकर सांध्य प्रतिक्रमण के समय कहना चाहिए। प्रतिक्रमण के समय फिर कहा, तब गुरुजी गुस्से से आग-बबूला हो उठे। गुस्से में तमतमाते हुए बोलने लगे—मेंढक कहते-कहते मेरे पीछे ही पड़ गया। ले, मैं तुझे अभी बता दूँ कि मेंढक कैसे मरता है? यों कहकर शिष्य को मारने दौड़े। शिष्य तो इधर-उधर छिप गया, अँधेरा अधिक था, अत: एक स्तम्भ से टक्कर खाकर गुरुजी वहीं गिर पड़े। चोट गहरी आयी, तत्काल प्राण-पखेरू उड़ गए। मरकर चण्डकौशिक सर्प बने। सर्प भी इतने भयंकर थे जिसकी दाढ़ में उग्र जहर था। यह चण्डकौशिक वही है जिसने भगवान् महावीर के डंक लगाये थे और वहीं पर भगवान् के संबोधन से जातिस्मरणज्ञान करके अनशन स्वीकार कर लिया और मरकर देवयोनि में पैदा हुआ।

—महावीर चरियं
—आवश्यक कथा
—आवश्यक चूर्णि
—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १०/१२

७३. चण्डप्रद्योत

'चण्डप्रद्योत' उज्जयिनी नगरी का एक प्रतापी राजा था। महाराज 'चेटक' की पुत्री 'शिवादेवी' इसकी पटरानी थी। बल, वैभव, ऐश्वर्य के साथ-साथ इसमें एक बहुत बड़ी अखरने वाली कमी थी कि यह रूप-लोलुप, विषयासक्त और पर-दारा-लम्पट था। जहाँ भी अच्छी चीज सुनता, उसे लेने लपकता पर लौटता प्राय: मुँह की खाकर। अधिक क्या, अपनी सगी साली 'मृगावती' को हथियाने के लिए 'कौशाम्बी' पर चढ़ आया। अकस्मात् आक्रमण का समाचार सुनकर महाराज 'शतानीक' भय से इतने संत्रस्त हो उठे कि उनका आकस्मिक निधन

हो गया। पीछे से महारानी 'मृगावती' ने अपनी सूझ-बूझ से काम लिया। इससे कहलाया कि आप मुझे दिल से चाहते हैं, यह मैं तब समझूंगी जब उज्जयिनी के किले को तुड़वाकर उसकी ईंटों से 'कौशाम्बी' का किला सँवरवायेंगे।

'प्रद्योत' कामान्ध बना हुआ था। चिन्तन की चिंगारी बुझ चुकी थी। फिर देरी क्या थी? उज्जयिनी के क़िले की ईंटों से 'कौशाम्बी' का किला बनवा दिया गया। इस अन्तराल में मृगावती अपने शरीर को तप के द्वारा कृश करने लगी। संयोग की बात भगवान् महावीर कौशाम्बी पधार गये। 'मृगावती' मौका देखकर अपने पुत्र उदयन को चण्डप्रद्योत की गोदी में बिठाकर और उसकी सुरक्षा का भार उसे सौंपकर स्वयं प्रद्योत की आज्ञा प्राप्त करके साध्वी बन गई। प्रद्योत एक अबला का चातुर्य देखता ही रह गया।

यों ही एक बार महाराजा श्रेणिक के सेचनक हाथी को हथियाने किसी भी प्रकार की बिना पूर्व सूचना के राजगृह पर चढ़ आया। 'श्रेणिक' नहीं चाहता था कि युद्ध करके निरर्थक जन-संहार किया जाय। पर युद्ध-विमुख भी कैसे हुआ जा सकता था ! 'अभयकुमार' ने बुद्धिमत्ता से काम लिया। 'प्रद्योत' के प्रमुख-प्रमुख सामन्तों के तम्बुओं के बाहर कुछ धन गड़वाकर 'प्रद्योत' के पास जाकर आत्मीयता दिखाकर सारा गुप्त भेद बता दिया। 'चण्डप्रद्योत' ने भी एक सामन्त के तम्बू के बाहर खुदवाकर देखा तो धन मिलना ही था। बस फिर क्या था—अभयकुमार की बातों को सत्य मानकर रात्रि के समय ही सभी को वहाँ छोड़कर उज्जयिनी भाग आया। प्रात: जब सामन्तों ने महाराज को वहाँ न देखा तब सबमें कुहराम मच गया। सारी सेना को लेकर सामन्त गण भी लौट आये। प्रद्योत से मिले। प्रद्योत ने उन्हें कटु उलाहना दिया। जब भेद खुला तो यह सारी 'अभयकुमार' की कुटिल चाल ही नजर आयी।

राजा ने बहुत भारी अनुताप करके 'अभयकुमार' को पकड़ लाने का दायित्व मदन-मंजरी वेश्या को सौंपा। वह भी धर्मनिष्ठा श्राविका के छल से वहाँ पहुँची। अभयकुमार भी साधर्मिकता के जाल में फँस गया। उसके यहाँ भोजन करने चला गया। 'अभय' को बेहोश करके वेश्या ने 'उज्जयिनी' लाकर 'प्रद्योत' को सौंपा। 'प्रद्योत' का प्रसन्न होना स्वाभाविक था। 'अभय' ने स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा—'आपने मुझे कपट करके यहाँ मँगवाया है, पर मैं आपको बन्धन में जकड़कर जूतों की मार मारता हुआ 'उज्जयिनी' के बाजार में मध्याह्न के समय न ले जाऊँ तो मेरा नाम 'अभयकुमार' नहीं है।'

राजा को अभय की यह घोषणा बचकानी-सी लगी। अपने पास में रख रहा है। यहाँ रहते कई बार[1] उसने राजा और उसकी प्रजा को मौत से बचाया। अन्त में एक बहुरूपिये (जो दिखने में चण्डप्रद्योत जैसा लगता था) की ओट में जूते मारता हुआ राजगृही लेकर आया। महाराज श्रेणिक को सौंपा। अभयकुमार ने यों अपना बदला लिया।

अधिक क्या, अपनी कामुक वृत्ति से 'मम दासीपति' भी कहलाया। वह घटना यों है—

सिन्धु सौवीर देश के 'वीतभय पाटन' के राजा 'उदायन' की राजा 'चेटक' की पुत्री 'प्रभावती' महारानी थी और एक कुब्जा दासी थी। एक समय उस दासी की परिचर्या पर प्रसन्न होकर गान्धार देश के एक श्रावक ने उसको दो गुटिकाएं दीं। एक गुटिका खाने से उसका रूप स्वर्ण जैसा सुन्दर हो गया। उसका नाम हो गया 'स्वर्ण गुटिका'। दूसरी गोली के प्रभाव से वह अपने इच्छित पुरुष को जहाँ-तहाँ से बुला सकती थी। उसने किया भी वैसा ही।

उज्जयिनी के स्वामी चण्डप्रद्योत के स्वभाव की कहानी से वह दासी परिचित थी ही। उसने उसे याद किया और वह कामान्ध अपने अनलगिरि हाथी पर चढ़कर आ गया। दासी को ले गया। जब 'उदायन' को इस घटना का पता लगा, तब प्रबल दल से सज्जित होकर लड़ने आया। लड़ाई में उसको पकड़कर ललाट पर तप्त शलाका से डाम लगाया—'मम दासीपति'—अर्थात् मेरी दासी का पति, दास है। बाद में संवत्सरी प्रतिक्रमण पर क्षमायाचना करके छोड़ दिया। जब वह उज्जयिनी चला गया, तो उस दाग पर सोने का पट्टा लगा लिया।

इतना ही नहीं, प्रत्येकबुद्ध द्विमुख से भी मुकुट के लिए जाकर अड़ा। मुकुट में विशेषता यह थी कि उसको धारण करने वाले व्यक्ति के दो मुँह दिखा करते थे। वहाँ पर भी बुरी तरह से परास्त हुआ।

यों प्रद्योत का जीवन विविध आयामों में बीता। अपनी वृद्धावस्था में भी महाराज श्रेणिक के पौत्र और महाराज कूणिक के आत्मज उदायी से बहुत बुरी तरह से मुँह की खायी। कामी होने से कहीं भी सफल न हो सका।

—आवश्यक मलयगिरी

---

१. विस्तृत वर्णन 'सम्राट श्रेणिक' प्रकरण में देखें।

७४. चण्डरुद्राचार्य

अवंती नगरी के उद्यान में चण्डरुद्र नामक आचार्य अपने शिष्य.परिवार के साथ विराजमान थे। उनका स्वभाव कुछ क्रोधी था। अपने शिष्यों के छोटे.छोटे क्रिया, दोषों पर भी क्रोधित हो जाते थे।

एक बार आचार्यदेव ने सोचा कि यह बार-बार क्रोध करना मेरे लिए उचित नहीं है। क्रोध से तो मुझे भी दुर्गति में जाना पड़ेगा; और यह भी दिखाई देता है कि ये शिष्यगण क्रिया-दोष लगाये बिना मानेंगे नहीं। इसलिए मुझे एकांत स्थान में साधना करनी चाहिए, जिससे मैं शांत रह सकूँ। यह सोचकर चण्डरुद्राचार्य अपने शिष्यों से दूर एकान्त में ध्यान करने लगे।

उसी समय उज्जयिनी नगरी के किसी सेठ का पुत्र अपने मित्रों के साथ वहाँ आया। श्रेष्ठि-पुत्र का हाल ही में विवाह हुआ था। अभी उसके हाथ में विवाह का चिह्न कंगन भी बँधा हुआ था। उसके मित्रों ने साधुओं से कहा—'हे साधुओ ! यह हमारा मित्र संसार से विरक्त होकर दीक्षा लेना चाहता है।'

साधुओं ने समझा कि ये लोग हँसी कर रहे हैं। परिस्थिति भी ऐसी ही थी। नव-विवाहित युवक दीक्षा लेने को तैयार होगा, इस बात पर सहसा विश्वास हो भी नहीं सकता। साधुओं ने उन्हें अपने गुरुदेव चण्डरुद्राचार्य के पास भेज दिया।

आचार्यदेव के पास जाकर भी मित्रों ने यही कहा। आचार्य ने कहा—'यदि इस युवक की वास्तविक इच्छा दीक्षा लेने की है तो केशलोंच करे, मैं दीक्षा दे दूँगा।'

वह युवक तैयार हो गया। गुरुदेव ने स्वयं अपने हाथों से उसका केशलोंच किया और दीक्षा दे दी।

दीक्षित होकर उस युवक ने सोचा—मैंने जिनेन्द्र भगवान् का वेश अपनाया है, अब मुझे वापस लौटना उचित नहीं। यह सोचकर उसने अपने मित्रों से कहा—'अब तुम लोग वापस घर जाओ। मैं तो संसार त्याग चुका। अब मैं तुम्हारे साथ नहीं जाऊँगा।' यह सुनकर उसके मित्र वापस नगरी को चले आये और वह वहीं गुरुदेव के पास रह गया।

उनके जाने के बाद उस नव-दीक्षित साधु ने गुरुदेव से कहा—'गुरुदेव ! हो सकता है मेरे स्वजन-संबंधी आयें और मुझे संयम से च्युत करने का प्रयत्न

करें। व्यर्थ का बखेड़ा होगा, इसलिए कहीं और चलें तो ठीक रहेगा।'

आचार्यश्री बोले—तुम्हारी बात ठीक है, लेकिन मुझे तो कम दिखाई देता है। तुम मार्ग शोध आओ, तब चले चलेंगे।

नव-दीक्षित साधु शीघ्र ही मार्ग शोध आया। तब तक संध्याकाल हो चुका था। शिष्य ने गुरु को अपने कंधे पर बैठाया और चल दिया।

वन का मार्ग ऊबड़-खाबड़ तो था ही, रात भी हो चुकी थी, अतः अँधेरे में शिष्य को ठोकर लग जाती। इससे गुरुदेव को तकलीफ होती। वे क्रोधी तो थे ही, शिष्य की भर्त्सना करते, बुरा-भला कहते और कभी-कभी डंडे से पीट भी देते। लेकिन शिष्य अत्यन्त विनयी था। वह गुरु के प्रति मन में तनिक भी रोष न लाता, वरन् अपनी ही आलोचना करता कि मैं गुरु की आशातना कर रहा हूँ, इन्हें कष्ट दे रहा हूँ। वह गुरु को परम उपकारी मानता कि इन्हीं की कृपा से मुझे रत्नत्रय की आराधना का अवसर मिला है।

इस प्रकार शिष्य शुभध्यान से शुक्लध्यान में पहुँच गया और उसकी आत्मा में छिपा कैवल्य प्रकट हो गया। अब उसके लिए सर्वत्र प्रकाश-ही-प्रकाश था। केवलज्ञान की ज्योति से उसकी आत्मा जगमगा उठी थी।

अब वह सही मार्ग पर चल रहा था, उसे कोई ठोकर नहीं लग रही थी। गुरुदेव को भी कोई कष्ट नहीं हो रहा था।

सुबह जब सूर्य उदय हुआ तो गुरु ने देखा कि शिष्य के सिर से खून बह रहा है। उन्होंने अपने क्रोध को धिक्कारा और शिष्य की विनम्रता की मन-ही-मन प्रशंसा की, फिर पूछा—'वत्स ! पहले तो तुझे ठोकरें लगती रहीं, उसके बाद नहीं लगीं। अंधकार में भी तू सरलतापूर्वक चलता रहा। क्या कारण है?'

शिष्य ने विनीत स्वर में बताया—गुरुदेव ! आपकी कृपा से मुझे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई है।

यह जानते ही चण्डरुद्राचार्य का पश्चात्ताप और गहरा हो गया। वे अपनी आत्मालोचना करने लगे। आत्मालोचना से आगे बढ़कर आत्म-ध्यान में डूबे और उन्हें भी कैवल्य की प्राप्ति हो गई।

सच है, विनीत शिष्य अपने महाक्रोधी गुरु के लिए भी मुक्ति का कारण बन सकता है।

—उत्तराध्ययन, अध्ययन १, वृत्ति

—उपदेश प्रासाद, भाग ४

७५. चन्दनबाला

भगवान् महावीर के साध्वी संघ में छत्तीस हजार साध्वियाँ थीं। उन सबकी अग्रणी का नाम था चन्दनबाला। महासती चन्दनबाला का साध्वीपूर्व-जीवन बहुत ही रोमांचक है, जो यों है—

चम्पानगरी के महाराज दधिवाहन की महारानी का नाम धारिणी और पुत्री का नाम चन्दनबाला था। चन्दनबाला अपने माता-पिता को बेहद प्यारी थी। अकस्मात् महाराज दधिवाहन पर कौशाम्बी के महाराज शतानीक ने आक्रमण कर दिया। दधिवाहन ने व्यर्थ का रक्त बहाना उचित नहीं समझा और शतानीक से युद्ध किये बिना ही स्वयं वन की ओर चले गये।

शतानीक की सेना ने बे-रोक-टोक नगर को लूटना शुरू किया। लूट-खसोट में एक सैनिक धारिणी और चन्दनबाला को उठाकर ले गया। उस नर-पिशाच ने ज्यों ही धारिणी का शील लूटना चाहा, त्योंही धारिणी ने अपनी जीभ खींचकर शील-रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग कर दिया।

उसे मरा देखकर चन्दनबाला का दुःखी होना स्वाभाविक था। इधर उस सैनिक की भावना ने भी मोड़ लिया। चन्दनबाला को अपनी पुत्री मानता हुआ घर ले आया। घर पर सैनिक की पत्नी ने जब देखा कि चम्पानगरी की लूट में उसका पति धन-माल कुछ नहीं लाकर इस कन्या को लाया है तब उसे आशंका हुई कि कुछ दिन बाद यह इसे अपनी पत्नी बना लेगा। इसी आशंका से उसने अपने पति को कड़े शब्दों में कहा—'इसे जल्दी-से-जल्दी अभी बाजार में बेचकर आओ और उससे जो कुछ प्राप्त हो, वह मुझे दो।'

सैनिक घबराया हुआ कौशाम्बी के बाजार में गया और उसे सौ मुहरों में एक सेठ को बेच दिया। वहाँ की वेश्या को जब पता लगा तब उसने रूप-लावण्य को देखकर मुँहमाँगी कीमत में खरीद लिया।

चन्दनबाला वेश्या के साथ जा रही थी। जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वहाँ मेरा शील सुरक्षित नहीं है, तब उसने वेश्या के सामने अपनी स्थिति साफ-साफ रख दी। पर भला वेश्या ऐसे कब मानने वाली थी। वेश्या ने उसे एक भद्र प्रकृति के जैन श्रावक सेठ धनावा को बेच दिया। अब वह सेठ के यहाँ छोटे-से-छोटा काम भी बहुत अपनत्व से करती थी।

सेठ का उसे बहुत प्यार भी मिला। फिर भी उसने अपना दुःख सेठ के सामने कभी नहीं कहा। मन-ही-मन दुःख समेटे सेठ के यहाँ वह अपने दिन काट रही थी, लेकिन दुःखों का अन्त आ गया हो ऐसा नहीं था। सेठानी के मन में भी वहम का भूत बोलने लगा कि हो न हो सेठजी इसे अपनी पत्नी बनायेंगे। तब मेरा निरादर और अपमान अवश्य ही होगा। हो सकता है, मुझे इस घर से निकलना भी पड़े।

एक दिन चन्दनबाला सेठ के पाँव धो रही थी। इसके मुँह पर आये केशों को सेठ ने सँभालकर इसकी पीठ पर रख दिया। अब तो सेठानी का विश्वास पक्का हो गया और वह इस व्याधि का मूल काटने पर ही उतारू हो गई।

दूसरे दिन सवेरे-सवेरे जब सेठ देहातों में कार्य करने चला गया और तीन दिन तक नहीं आने को कहकर गया तब सेठानी को मौका मिल गया। इस मौके का लाभ उठाती हुई सेठानी ने चन्दनबाला के सारे केश उतार दिये। सिर में घाव लगा दिये। हाथों में हथकड़ी, पैरों में बेड़ी पहना, घर के तहखाने में डालकर अपने पीहर चली गई।

तीसरे दिन जब सेठ आया तो उसने मकान को बन्द देखा। आस-पास घूमता हुआ 'चन्दना-चन्दना' पुकारने लगा। तहखाने में दुःखों से व्याकुल बनी चन्दना ने जब सुना तब उसने वहीं से आवाज दी। सेठ ने उसे तहखाने से निकाला और यह सारी स्थिति देख भौंचक्का रह गया। उसने दुःखी स्वर में पूछा—'बोल, तेरी यह दशा किसने की?'

चन्दना ने धैर्य धारण कर कहा—पिताजी ! किसी का भी दोष नहीं है, यह सारा मेरे कर्मों का दोष है। आप मुझे खाने को दीजिए।

सेठ ने उबले हुए उड़द वहीं पड़े देखकर एक सूप के कोने में डालकर उसे दे दिये और स्वयं हथकड़ी-बेड़ी तोड़ने के लिए लुहार को बुलाने गया।

उधर भगवान् महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में विहार करते-करते तेरह बातों का अभिग्रह किया। वे तेरह बातें ये थीं—

(१) राजकन्या, (२) बेची गई, (३) मुण्डित, (४) सिर में घाव हों, (५) हाथों में हथकड़ी, (६) पैरों में बेड़ी, (७) तीन दिन की भूखी, (८)

आँखों में आँसू, (९) दो पहर दिन बीतने के बाद, (१०-११) एक पैर दहलीज के अन्दर, एक बाहर, (१२) छाज में, (१३) बासी उड़द के बाकले लिये खड़ी हो तो उसके हाथ से भिक्षा लेकर पारणा करना, अन्यथा नहीं।

इस अभिग्रह को लिये पाँच मास पच्चीस दिन हो गये थे, पर कहीं योग न मिला। तब छः महीने में केवल पाँच दिन बाकी थे। फिर भी प्रतिदिन की भाँति भिक्षा की गवेषणा करते-करते भगवान वहाँ आये। अपने ज्ञान-बल से देखा तो बारह बातें मिल गईं, पर आँखों में आँसू नहीं थे। भगवान् वापस लौटने को ही थे कि तभी चन्दनबाला अपनी दुःख भरी वाणी से रोती हुई बोल पड़ी—"भगवन ! मेरे जैसे दुःखी व्यक्ति को कौन पूछता है। राज्य गया, पिता का वियोग हुआ, माता वन में मर गई। मुझे बाजार में बेचा गया, सेठानी 'मूला' ने मेरी यह दशा की—इन सबका मुझे कोई अफसोस नहीं है, पर आप भी आज यों ही छोड़कर जा रहे हैं, तब मेरा कौन है?"

भगवान् महावीर आँखों में आँसू देखकर वापस मुड़े। चन्दनबाला के हाथ से भिक्षा ली। बस, फिर क्या था? सारी स्थिति ही पलट गई। आकाश में 'अहोदानं, अहोदानं' की दुन्दुभियां बज उठीं। चन्दनबाला के हथकड़ियों और बेड़ियों के स्थान पर मणि-माणिक-जड़ित गहने हो गये। केश वापस आ गये। उसका रूप-लावण्य पहले से सौगुना निखर उठा। साढ़े बारह करोड़ सोनैयों की वर्षा हुई, जिसे लेने सेठानी मूला पीहर से दौड़ी-दौड़ी आयी पर देवताओं ने टोकते हुए कहा—'नहीं, ये सब इसकी दीक्षा में काम आयेंगे।'

चन्दनबाला के दुर्दिनों का अन्त हुआ। भगवान् महावीर को जब केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, तब वह उनके पास जाकर दीक्षित हुई। केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में पहुँची।

धन्य है महासती चन्दनबाला, जिसने इतने संकटों को सहकर भी अपना धीरज नहीं खोया।

—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ४२०

७६. चन्दन-मलयागिरि

कुसुमपुरनरेश चन्दनसिंह की रानी का नाम मलयागिरि था। उसके दो पुत्र थे—सायर तथा नीर। सायर अभी आठ वर्ष का था और नीर की आयु थी पाँच वर्ष।

बड़े सुख से दिन व्यतीत हो रहे थे कि एक रात्रि को उसकी कुलदेवी ने कहा—'राजन् ! तुम्हारे बुरे दिन आ रहे हैं। तुम्हारे कारण प्रजा भी दुःखी होगी। इसलिए अच्छा यही रहेगा कि तुम राजपाट छोड़कर सपरिवार कहीं चले जाओ।'

राजा ने कुलदेवी की आज्ञा का पालन किया और राज्य छोड़कर साधारण वेश में सपरिवार चल दिया। चलते-चलते ये लोग कनकपुरी पहुँचे। वहाँ एक सेठ के यहाँ चारों को काम मिल गया। राजा चन्दनसिंह सेठ के निजी काम करता। रानी मलया जो सेठानी की निजी दासी थी, उसके सभी काम करती और दोपहर को थोड़ा अवकाश का समय मिलता तो जंगल से लकड़ियाँ बीन लाती और उन्हें बाजार में बेच आती। सायर-नीर दिन-भर सेठ की गाएं चराते और शाम को लौटते। इन चारों के लिए सेठ ने एक कोठरी दे दी थी। उसमें ये भोजन बनाते और वहीं सो रहते। इस प्रकार ये अपने दुर्दिन व्यतीत कर रहे थे।

एक बार कनकपुरी में लक्खी बनजारा आया। उसके साथ बहुत बड़ा सार्थ था। नगर से बाहर विशाल मैदान में उसने अपने शिविर लगवाये और व्यापार करने लगा। एक दिन मलया अपनी लकड़ियाँ बेचने उधर ही निकल गयी। बनजारे ने उसे देखा तो उस पर रीझ गया। दुगुना मुल्य देकर लकड़ियाँ खरीदने लगा। मलया भी प्रतिदिन उसी को लकड़ियाँ बेचने चली जाती। उसे नगर में घूमना भी नहीं पड़ता और दुगुना मूल्य भी मिल जाता।

लेकिन मलया बनजारे के मनोभावों से अनभिज्ञ थी। यदि उसे बनजारे की नीयत पर थोड़ा भी सन्देह होता तो उसके शिविर में कभी नहीं जाती। अन्तिम दिन जब बनजारे के शिविर उखड़ चुके थे, तब मलया लकड़ियाँ लेकर पहुँची। उखड़े शिविर देखकर वह लौटने लगी तो बनजारे ने सहानुभूति दिखाते हुए कहा—'वापस क्यों लौटती हो? लकड़ियाँ गाड़ी में डाल दो, रास्ते में काम आ जायेंगी।'

लकड़ियाँ डालने जैसे ही मलया गाड़ी के पास पहुँची कि बनजारे के संकेत से उसके सेवकों ने मलया को बाँधकर गाड़ी में डाल दिया। मलया

चीखने लगी, लेकिन उसकी चीख-पुकार को सुनने वाला वहाँ कौन था? सार्थ तेजी से चल दिया।

रास्ते में बनजारे ने मलया को अपनी बनाने के सभी प्रयत्न कर लिये, लेकिन वह अपने सतीत्व पर अडिग रही। आखिर में बनजारे ने सोचा—अब यह मेरे चंगुल से निकल तो सकती नहीं, जाएगी कहाँ? एक-न-एक दिन इसे मेरी बात माननी ही पड़ेगी। कभी-न-कभी तो यह समर्पण करेगी ही। तब तक मैं प्रतीक्षा करूँगा।

रानी मलया ने भी मन में निर्णय कर लिया—परिणाम कुछ भी हो, मैं अपने सतीत्व से नहीं डिगूंगी। वह पंचपरमेष्ठी का ध्यान करते हुए सात्विक जीवन बिताने लगी तथा बनजारा उसके समर्पण की प्रतीक्षा करने लगा। दिन बीतते रहे।

इधर संध्या तक जब मलया घर नहीं पहुँची तो राजा चन्दन चिन्तित हो गया। दोनों बालक सायर-नीर तो माँ की याद में विह्वल हो गये। रात में ही तीनों मलया की तलाश में निकल पड़े। नगर पीछे रह गया और वे वन में आ गये। वन के फल-फूल खाते हुए मलया की खोज में आगे बढ़ते रहे।

लेकिन मार्ग में एक बाधा आ गयी। वे एक बरसाती पहाड़ी नदी के किनारे जा पहुँचे। आगे बढ़ने के लिए नदी को पार करना जरूरी था और नदी उस समय उफान पर थी। राजा चन्दन बहुत देर तक नदी पार करने के उपायों के बारे में सोचता रहा, पर उसे एक भी उपाय ऐसा न सूझा कि वह दोनों पुत्रों के साथ नदी पार कर सके। अन्त में उसने निर्णय किया कि एक-एक पुत्र को लेकर नदी पार करनी चाहिए। नदी में कहीं पानी अधिक न आ जाये और किनारे बैठे पुत्र को बहा न ले जाये, इसलिए उसने सायर को एक वृक्ष के तने से बाँधा और नीर को पीठ पर बिठा तैरकर नदी के दूसरे किनारे पर पहुँच गया। वहाँ नीर को भी एक वृक्ष से बाँधकर पुनः लौटा, लेकिन तब तक नदी का वेग बहुत बढ़ चुका था, राजा चन्दन थका हुआ भी था। इसलिए वह धारा के विपरीत न तैर सका और बहने लगा। उसने बहुत हाथ-पैर चलाए, पर नदी के तीव्र वेग के सम्मुख उसकी एक न चली। वह बहता ही चला गया। देवयोग से एक बहता हुआ तना उसके हाथ आ गया। राजा चन्दन ने उसे पकड़ लिया और उसके सहारे बहता रहा।

जब समतल भूमि आ गयी तो नदी का वेग कुछ कम हुआ। राजा चन्दन

ने देखा कि थोड़ी ही दूर कोई नगर है। उसके कंगूरे चमक रहे हैं। लट्ठे का सहारा छोड़कर वह नगर की ओर चल दिया। मार्ग में एक छोटा-सा गाँव मिला। हारा-थका तो था ही, साथ ही पत्नी और पुत्रों से बिछुड़ने का अत्यधिक दु:ख भी था। वह एक मकान के चबूतरे पर बैठ गया। उस घर मे रहने वाली गृहस्वामिनी उसके रूप पर मोहित हो गयी। उसने स्नानादि तथा भोजन कराया और फिर अपनी कुत्सित इच्छा प्रकट की। राजा चन्दन स्वदारासंतोषी था। किसी तरह उस स्त्री के चंगुल से निकल भागा और कई कोस तक भागता रहा। फिर उसे एक राजोद्यान मिला। वह वहाँ लेटकर थकान मिटाने लगा। थका हुआ तो था ही, बगीचे की ठंडी हवा में उसे नींद आ गयी।

वह बगीचा चम्पापुर नगर का राजोद्यान था। वहाँ का राजा निस्संतान मर गया था। नये राजा के चयन के लिए मंत्रियों ने पंचदिव्य (पट्टस्तिनी अश्व, कलश, छत्र, पंचवर्णी पुष्पमाला) सजाए। दिव्यों ने सोते हुए राजा चन्दन का चयन कर लिया। प्रजा ने जय-जयकार किया। इससे राजा चन्दन की नींद खुल गयी। वह वहाँ का राजा बन गया। राजा बनते ही सबसे पहले उसने कुछ खोजी सैनिक स्थान का संकेत करके अपने पुत्रों को लाने भेजे। लेकिन सैनिक खाली हाथ लौट आये। उन्होंने बताया—वहाँ कोई बालक नहीं मिले।

राजा चन्दन ने भाग्य की विडम्बना मानकर संतोष किया, किन्तु उसे विश्वास था कि एक दिन उसके पत्नी और पुत्र मिलेंगे अवश्य। इसी विश्वास को मन में संजोए राजा चन्दन चम्पापुर का शासन संचालन करने लगा।

इधर सायर-नीर नदी के दोनों किनारों पर दो वृक्षों से बँधे थे। उन्हें बँधे दो दिन हो गये थे। तभी एक दयालु सेठ का सार्थ वहाँ आया। सेठ उन दोनों को अपने साथ ले गया। उसने परिचय पूछा तो उसे ज्ञात हो गया कि ये दोनों क्षत्रिय-पुत्र हैं। उसने उन्हें क्षत्रियोचित शिक्षा दिलवाई। कुछ ही वर्षों में वे दोनों सभी विद्याओं में निपुण हो गये और युवा भी हो गये।

अब सायर और नीर दोनों ही श्रेष्ठी की आज्ञा लेकर माता-पिता की खोज में निकल पड़े और घूमते-घूमते चम्पापुर में आये। वहाँ उन्होंने राजा के आरक्षी दल में नौकरी कर ली। शूरवीरता और कर्त्तव्यपरायणता से वे काम करने लगे।

लक्खी बनजारा भी अनेक नगरों में व्यापार करता हुआ चम्पापुर में आ

पहुँचा। उसने राजा चन्दन को भेंट देकर सार्थ की सुरक्षा की माँग की। राजा के आदेश से आरक्षी-प्रमुख ने सायर-नीर को बनजारे के शिविर की रक्षा पर नियुक्त कर दिया।

सायर-नीर रात के समय जागकर पहरा दे रहे थे। रात के समय नींद न आ जाये, इसलिए दोनों आपबीती कहने लगे। रानी मलया शिविर के अन्दर नवकार मंत्र जप रही थी। उसे जब इनकी आपबीती सुनाई पड़ी तो वह बाहर निकल आयी। पुत्रों ने तुरन्त ही माता को पहचान लिया और माता ने पुत्रों को। तीनों का मिलन हो गया।

इस मिलन से बनजारा भी अनजान न रहा। वह समझ गया कि वह स्त्री इन दोनों आरक्षी युवकों की माता है। ये मुझे राजा के सामने पेश किए बिना मानेंगे नहीं और स्त्रीहरण के आरोप में मुझे कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा। अतः राजा पर अपनी सदाशयता की छाप लगाने के लिए प्रातःकाल ही राजसभा में पहुँचा और बोला—'महाराज ! मुझे वन में एक निराश्रित स्त्री मिली थी। मैंने उसे अपने सार्थ के साथ रख लिया था। अब आप उसे अपने महल में स्थान दे दीजिये, जिससे मेरा भार हट जाये।'

राजा ने स्वीकृति दे दी और लक्खी बनजारा रानी मलया को लेने चल दिया।

इधर सायर-नीर ने आकर राजा से न्याय माँगा और कहा कि इस बनजारे ने बारह वर्ष पहले हमारी माता का अपहरण कर लिया था। रात को ही हमारा उनसे मिलन हुआ है।

तब तक बनजारा रानी मलया को लेकर आ गया। राजा ने अपनी रानी को पहचान लिया और रानी ने अपने पति को। सबका मिलन हो गया।

उदारतापूर्वक राजा चन्दन ने लक्खी बनजारे को क्षमा कर दिया और अपने पुत्रों का पालन-पोषण करने वाले श्रेष्ठी तथा शिक्षा देने वाले गुरु को यथेष्ट धन तथा सम्मान देकर पुरस्कृत किया।

राजा चन्दन के बुरे दिन समाप्त हो चुके थे। कुसुमपुरवासियों को भी मालूम हो गया कि राजा चंदन चम्पापुर के राजा बने हुए हैं। वहाँ के मंत्री आदि आये और राजा से वहाँ चलने की प्रार्थना करने लगे। राजा चंदन ने दोनों नगरों में थोड़े-थोड़े दिन रहना स्वीकार कर लिया। अब वे दो राज्यों के स्वामी थे। राज्यकार्य में सायर-नीर उनका पूरा-पूरा हाथ बँटाते थे।

राजा चन्दन उस समय कुसुमपुर नगर में थे तभी आचार्यप्रवर सुस्थित संघ सहित वहाँ पधारे। उनकी देशना से राजा चन्दन और रानी मलया प्रतिबुद्ध हो गये। बड़े पुत्र सायर को कुसुमपुर तथा छोटे पुत्र नीर को चम्पापुर का राज्य देकर दोनों ने दीक्षा ले ली। निरतिचार संयम का पालन करते हुए दोनों ने काल-धर्म प्राप्त किया और उत्तम गति पायी।

—चन्दन-मलयगिरी रास

७७. चन्द्रप्रभु भगवान

सारिणी

जन्म-स्थान	चद्रानना नगरी (चन्द्रपुरी)	जन्म-तिथि	पौष बदी १२
		कुमार अवथा	२।। लाख पूर्व
पिता	महासेन	राज्यकाल	६।। लाख पूर्व
माता	लक्ष्मणा		२४ पूर्वांग
दीक्षा तिथि	पौष बदी १३	चिह्न	चन्द्रमा
केवलज्ञान	फाल्गुन बदी ७	सम्पूर्ण आयु	१० लाख पूर्व
चारित्र पर्याय	२४ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	निर्वाण तिथि	भाद्रपद बदी ७ (सम्मेदशिखर पर)

धातकी खण्ड द्वीप के प्राग्विदेह क्षेत्र मंगलावती विजय में रत्नसंचया नाम की नगरी थी। वहाँ पद्म नाम के राजा शासन करते थे। पद्म ने युगन्धर मुनि के पास दीक्षा ग्रहण की और तप करके वैजयन्त नाम के अनुत्तर विमान में देव बने। मुनि पद्म का जीव वैजयन्त नामक दूसरे अनुत्तर विमान से च्यवकर माता लक्ष्मणा के गर्भ में आया था। लक्ष्मणा चन्द्रानना (चन्द्रपुरी) के राजा महासेन की रानी थी। माता ने चौदह स्वपनों के साथ.साथ चन्द्रमा को पीने का स्वप्न देखा था इसलिए पुत्र का नाम दियां—चन्द्रप्रभु।

युवावस्था में अनेक राजकन्याओं के साथ इनका विवाह हुआ था। पिता के दिवंगत होने पर लम्बे समय तक शासन का संचालन किया। लोकान्तिक देवों के प्रतिबोध देने के बाद वर्षीदान देकर मुनित्व स्वीकार किया। मात्र तीन महीने ही छद्मस्थ रहे और उसके बाद केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थ की स्थापना की। प्रभु के तीर्थ में ९३ गणधर थे। सबसे बड़े गणधर का नाम था—दत्त।

एक हजार मुनियों के साथ एक महीने के अनशन में सम्मेदशिखर पर्वत पर मोक्ष प्राप्त किया। चन्द्रप्रभु इस वर्तमान चौबीसी में आठवें तीर्थंकर हैं।

धर्म-परिवार

गणधर	६३	बादलब्धिधारी	७६००
केवली साधु	१०,०००	वैक्रिलब्धिधारी	१४,०००
केवली साध्वी	२०,०००	साधु	२,५०,०००
मन:पर्यवज्ञानी	८०००	साध्वी	३,८०,०००
अवधिज्ञानी	८०००	श्रावक	२,५०,०००
पूर्वधर	२०००	श्राविका	४,९१,०००

—त्रिशष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ३/५

७८. चिलातीपुत्र

मगध देश में राजगृह नगर में वैभव-सम्पन्न धन्ना सार्थवाह रहता था। उसकी पुत्री का नाम भद्रा था। उसके पाँच पुत्र थे। उसके चिलाती नाम की एक दासी भी थी। दासी का भी एक पुत्र था, जिसका नाम अपनी माता के नाम पर चिलातीपुत्र पड़ गया था।

पाँच पुत्रों के बाद सेठ धन्ना के एक पुत्री हुई, उसका नाम सुषमा रखा गया। सुषमा को खिलाने का काम चिलातीपुत्र को सौंपा गया। चिलातीपुत्र सुषमा को खिलाते-खिलाते कभी-कभी एकान्त में काम-कुचेष्टा भी कर लिया करता था। एक दिन सेठ ने ऐसा करते उसे देख लिया तो उन्होंने उसे डाँट-फटकारकर घर से बाहर निकाल दिया।

आवारा घूमता हुआ चिलातीपुत्र नगर से बाहर सिंहपल्ली नामक चोरों की पल्ली में पहुँच गया। चोरपल्ली के स्वामी विजय का पुत्र मर चुका था। अत: उसने चिलातीपुत्र को अपना पुत्र मानकर रख लिया और उसे चौर्य-कर्म की शिक्षा देने लगा। कुछ वर्षों में चिलातीपुत्र इस विद्या में कुशल हो गया और विजय के मरने के बाद चोरों का सरदार बन गया। उसके अधीन पाँच सौ चोर थे। वह निस्संकोच होकर चोरी करता। जनता उससे भयभीत रहती। वह दुर्दान्त और क्रूर हो चुका था। लाख प्रयत्न करने पर भी राजकर्मचारी उसे पकड़ न पाये थे। उसका आतंक संपूर्ण राजगृह में व्याप्त हो गया था।

एक बार पल्ली के किसी आदमी ने सुषमा के रूप की प्रशंसा की। चिलातीपुत्र का सोया अनुराग जाग उठा। उसने अपने साथियों से कहा—'धन्ना सेठ के यहाँ चोरी करेंगें। धन-माल तुम्हारा और अकेली सुषमा मेरी।'

योजना बनी और सब मिलकर धन्ना सेठ के यहाँ पहुँच गये। साथी चोरों ने धन के गट्ठर बाँध लिये और चिलातीपुत्र ने सुषमा को उठा लिया तथा सब-के-सब चल दिये। इतने में सेठ की नींद टूट गई। यह जानकर कि धन के साथ सुषमा को भी चिलातीपुत्र ले गया है, उसके क्रोध का पारावार न रहा। उसने अपने पाँचों पुत्रों को जगाया, कुछ राजकर्मचारी भी साथ लिये और चोरों का पीछा करने लगा। राजकर्मचारियों से उसने कह दिया—'सारा धन तुम्हारा और अकेली सुषमा मेरी।'

इस प्रकार उत्साह में भरकर सभी चोरों का पीछा करने लगे। धीरे-धीरे उनके और चोरों के बीच की दूरी कम होने लगी। अन्तत: चोर साफ दिखाई देने लगे। सेठ और आरक्षी दल को देखकर चोर घबरा गये। वे धन के गट्ठर छोड़कर इधर-उधर भाग खड़े हुए। आरक्षियों ने धन की गठरियां उठा लीं।

इस स्थिति को देखकर चिलातीपुत्र बहुत निराश हुआ। उसे अपने साथियों पर क्रोध भी बहुत आया, पर वह इस समय कर ही क्या सकता था। सुषमा को कँधे पर लादे भागता ही रहा।

इधर राजकर्मचारियों की इच्छा भी पूरी हो चुकी थी। धन उन्हें मिल ही चुका था। अब उन्हें भी चिलातीपुत्र को पकड़ने और सुषमा को उसके चंगुल से मुक्त कराने का कोई उत्साह न रहा। सेठ ने उन्हें बहुत प्रेरणा दी, कर्त्तव्य की याद दिलाई, पर वे आगे न बढ़े। निराश सेठ अपने पाँचों पुत्रों सहित ही चिलातीपुत्र का पीछा करने लगा।

चिलातीपुत्र भागते-भागते थक चुका था। सुषमा का बोझ अब उसे भारी लगने लगा। जब उसने देखा कि सेठ और उसके पुत्र बहुत समीप आ गये हैं और इनकी पकड़ से बचना अत्यन्त कठिन है तो अपना बोझ कम करने के लिए उसने सुषमा का सिर काट दिया, धड़ को वहीं पड़ा छोड़ा और एक हाथ में सुषमा का सिर तथा दूसरे हाथ में नंगी तलवार लिये भाग छूटा।

जब सेठ और उसके पुत्रों ने सुषमा का धड़ देखा तो उन्हें घोर दु:ख हुआ। उनका उद्देश्य भग्न हो चुका था। जिस सुषमा के लिए उन्होंने इतना

प्रयत्न किया, जब वह ही नहीं रही तो चिलातीपुत्र का पीछा करने से अब क्या लाभ था? वे घोर निराशा में डूब गये। आगे बढ़ने से उनके पाँवों ने जवाब दे दिया। सब-के-सब वहीं एक वृक्ष के नीचे बैठ गये और वापस घर लौटने का विचार करने लगे।

इधर भागते-भागते चिलातीपुत्र भी बहुत थक गया था। चलते-चलते उसके मन में अनेक प्रकार के विचार आने लगे—यह भी कोई जीवन है? हर वक्त भागना, आठों पहर का भय, एक क्षण को शांति नहीं; मानसिक कष्ट और पीड़ा ही में जीवन गुजर रहा है। जो दूसरों को दु:ख देता है, उसे भी बदले में दु:ख ही मिलता है। मेरा यह चौर्य-कर्म निन्दनीय है, हर समय चित्त में उद्विग्नता और अशान्ति रहती है।

इन्हीं विचारों में खोया वह आगे बढ़ता चला जा रहा था। एकाएक उसकी दृष्टि एक मुनि पर पड़ी। मुनिश्री उस बीहड़ और भयानक जंगल में एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे। उनके मुखमण्डल पर अनुपम शांति और अद्‌भुत तप:तेज दमक रहा था।

चिलातीपुत्र ने मुनि को देखकर मन-ही-मन सोचा—वास्तविक जीवन तो इन्हीं का है—कितनी शान्ति है ! इनसे शान्ति पाने का उपाय जानना चाहिए।

वह मुनिश्री के पास आया और उनसे शान्ति पाने का उपाय पूछा। मुनिश्री ने उसे देखा तो जान लिया कि पापकर्म में इस समय लिप्त होते हुए भी इस पुरुष में भव्य आत्मा का निवास है। उन्होंने संक्षेप में कहा—'उपशम, विवेक और संवर को स्वीकार करो। इससे तुम्हें शांति प्राप्त होगी।'

चिलातीपुत्र एकान्त में जाकर बैठ गया और मुनिश्री द्वारा बताये गये उपशम, विवेक और संवर—इन तीनों पदों पर चिन्तन करने लगा। चिन्तन की धारा में बहते हुए उसने समझ लिया कि उपशम का अभिप्राय क्रोध की अग्नि को शांत करना है, विवेक का अर्थ परिग्रह और पर-वस्तुओं का त्याग है तथा संवर का आशय मन और इन्द्रियों का निग्रह करना है। इन्हीं तीनों से अपनी आत्मा को भावित करना चाहिए, यही शांति का राजमार्ग है।

बस, वह इन तीनों पदों के चिन्तन में डूब गया। उसके पास ही रक्तरंजित तलवार और सुषमा का कटा सिर पड़ा था। रक्त की गंध से वज्रमुखी चींटियाँ आकर्षित हो गई। उसके शरीर पर चढ़ने लगीं, उसे नोंचने लगीं। उन चीटियों

ने उसके शरीर को छलनी कर दिया; लेकिन उसने इन पर क्रोध नहीं किया अपितु उपशम, विवेक और संवर के चिंतन में ही डूबा रहा।

अन्त में समभावपूर्वक प्राण त्यागकर वह देवलोक में उत्पन्न हुआ।

—ज्ञातासूत्र, अध्ययन १८
आख्यानक मणिकोष, १२।६७
—भत्तपइन्ना प्रकीर्णक, गाथा ८८
—उपदेश प्रासाद, भाग १।१०
—उपदेशमाला

७६. चित्त-ब्रह्मदत्त

'वाराणसी' नगरी के महाराज का नाम था 'शंख'। उसके प्रधान का नाम था नमुचि। नमुचि अनेक कलाओं में पारंगत था, परन्तु था, आचारहीन। महाराज शंख की पटरानी से भी नमुचि का अनुचित संबंध हो गया। एक दिन नमुचि को रंगे हाथों महाराज ने पकड़ लिया। कुपित होना स्वाभाविक ही था। तत्क्षण भूतदत्त नाम के चाण्डाल को बुलाकर उसके सिर को काटने का आदेश दे दिया। 'भूतदत्त' उसे मारने के लिए ले चला।

'नमुचि' ने जीवन-दान देने की चाण्डाल से याचना की। चाण्डाल ने कहा—'आप यदि मेरे पुत्रों को संगीत का अभ्यास करा दें तो मैं आपको जीवित छोड़ सकता हूँ।'

उन दिनों चाण्डालों को विद्या-दान देना महापाप समझा जाता था। फिर भी जीवित रहने के लिए 'नमुचि' ने यह बात स्वीकार कर ली।

चाण्डाल ने अपने यहाँ भौंयरे (तलघर) में उसे गुप्त रख दिया। वहाँ रहकर नमुचि ने भूतदत्त चाण्डाल के पुत्र चित्त और संभूति को संगीत विद्या में पारंगत बना दिया।

चाण्डाल की पत्नी भौंयरे में नमुचि के पास भोजन आदि के लिए आती-जाती थी। धीरे-धीरे सम्पर्क बढ़ा। नमुचि ने उसको अपने प्रेमपाश में बाँध लिया। इनके इस गुप्त प्रेम का जब भूतदत्त को पता लगा तब वह 'नमुचि' को मारने की ठान बैठा।

अपने पिता के इस विचार का उसके पुत्रों को पता लगा। उन्होंने 'नमुचि' को अपना विद्यागुरु मानकर उसकी रक्षा करनी चाही। 'नमुचि' को सारा गुप्त

भेद बता दिया।

'नमुचि' मौका देखकर वहाँ से भगा खड़ा हुआ। वहाँ से चलकर नमुचि हास्तिनापुर में पहुँचकर चक्रवर्ती 'सनत्कुमार' के यहाँ नौकरी करने लगा। प्रारम्भ में साधारण-सी ही नौकरी मिली थी, पर अपने प्रतिभा-बल से वह चक्रवर्ती का प्रिय-पात्र बन गया।

संगीतकला में निष्णात बने चित्त-संभूति ने किसी विशेष प्रसंग पर संगीत कला का प्रदर्शन राजा के समक्ष किया। इनका संगीत सुनकर सभी झूम उठे। सुनने वालों ने जब पहचाना कि ये चाण्डाल हैं, तब उन्हें बुरी तरह से पीटने लगे। चाण्डाल-पुत्रों को विद्या-प्राप्ति का अधिकार ही कब और कैसे मिल सकता है? वे भी अपने प्राण बचाने वन की ओर भाग गये। जीवित तो बच गये, पर उनके मन में ग्लानि उभर आयी—उफ ! जाति की अधमता से हमारी सारी कलाएं भी बेकार हैं। धिक्कार है ऐसे जीवन को ! इस प्रकार विचार कर आत्महत्या करने को उतारू हो गये। पर्वत से झंपापात लेना ही चाहते थे, इतने में ही ध्यानस्थ खड़े मुनि ने उन्हें देख लिया। आत्महत्या को एक जघन्यतम कृत्य बताते हुए उन्होंने इन्हें मुनि बनने की प्रेरणा दी। दोनों भाई संयमी बनकर विचरने लगे।

एक बार वे दोनों मुनि हस्तिनापुर में आये। महलों से 'नमुचि' ने इन्हें देखकर पहचान लिया। नमुचि ने सोचा—मेरे सारे हथकण्डों का इन्हें पता है, कहीं भण्डाफोड़ न कर दें।

तत्क्षण अपने पास बुलाकर मुनियों को मारने लगा। उन तपस्वी मुनियों के पास में शस्त्र कहाँ थे? मार पड़ते ही संभूति मुनि कुपित हो उठे और अपने मुँह से तेजोलेश्या का धुआँ निकाला।

जब चारों ओर धुआँ-ही-धुआँ हो गया, तब चक्रवर्ती चौंका। सोचा कि हो-न-हो किसी ने मुनि को संतापित किया है और उसी कारण यह सबकुछ हुआ है। मुनि को प्रशान्त करने चक्रवर्ती सपरिवार वहाँ आया। 'नमुचि' के द्वारा किये गये कृत्यों की माफी चाही। 'चित्त' मुनि ने भी संभूति मुनि को शान्त करने के लिए उपदेश दिया। मुनि ने अपनी लेश्या का संहरण किया।

पद-वन्दन करते चक्रवर्ती की रानी 'सुनन्दा' के केशराशि में लगा हुआ बावना चन्दन के तेल का एक बिन्दु मुनि के पैरों में गिर गया।[1] उसकी ठंडक

---

१. कहते हैं कि मुनि संभूति के चरणों से रानी के कोमल केशों का स्पर्श हो गया था।

और सुगन्ध से मुनि विह्वल हो उठे और आँख खोलकर 'सुनन्दा' को देखा। संभूति मुनि अपने आपको भूल बैठे। तत्क्षण निदान की भाषा में बोल उठे—"मेरे तप और संयम का यदि कुछ फल हो तो मैं ऐसा स्त्री-रत्न और ऐसा ही वैभव प्राप्त करूँ।"

चक्रवर्ती अपने स्थान पर आकर नमुचि पर बहुत कुपित हुआ और उसे अपने राज्य से निष्कासित कर दिया।

'चित्त' और 'संभूति' मुनि प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न हुए। 'चित्त' मुनि का जीव वहाँ से च्यवकर 'पुरिमताल' नगर में एक धनाढ्य सेठ के यहाँ पैदा हुआ। बड़ा होकर साधु बना। संभूति मुनि का जीव 'कपिलपुर' नगर के राजा ब्रह्मभूति की रानी 'चूलनी' के गर्भ में आया। माता ने चौदह स्वप्न देखे। चौदह स्वप्नों से सूचित ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में पैदा हुआ।

ब्रह्मदत्त अभी अवस्था से लघु ही था कि 'ब्रह्मभूति' राजा की मृत्यु हो गई। मरते समय कुमार की बाल्यावस्था देखकर राजा ने राज्य का सारा कार्यभार-संचालन का दायित्व अपने मित्र दीर्घराजा[1] को सौंप दिया था। दीर्घराजा का महारानी चूलना के साथ अनुचित सम्बध हो गया।

कुमार 'ब्रह्मदत्त' को जब इसका पता लगा तब उसने कोयल और कौओं को एक पिंजड़े में बन्द करके रखा। अपने मित्र के पूछे जाने पर 'चूलनी' को सुनाकर व्यंग्योक्ति में कहा—'कोई भी अनुचित सम्बन्ध करेगा, उसे मेरे राज्य में यही सजा मिलेगी, भले ही कोई पुरुष हो या पशु।'

रानी मन-ही-मन समझ गई कि हो-न-हो इस अनुचित सम्बन्ध का पता इसे लग गया है। 'दीर्घ' से सांठ-गांठ करके कुमार को मारने का षड्यन्त्र रच लिया। नगर के बाहर एक लाक्षागृह में कुमार को रखकर जलाने की योजना बना डाली। पर मंत्री को पता लगने से उसने वहाँ पहले से ही सुरंग खुदवा रखी थी। जब महल जलाया गया तब कुमार को सकुशल वहाँ से निकाल लिया गया। कुमार प्रधान-पुत्र के साथ गुप्त रूप से वहाँ से चल पड़ा। अनेक राज्यों को जीतकर विशाल सेना के साथ 'दीर्घ' पर चढ़ आया। युद्ध में दीर्घ

१. महाराज ब्रह्मभूति की चार राजाओं के साथ घनिष्ठ मित्रता थी—(१) काशी का शासक 'कटक', (२) राजपुर का राजा 'कणेर[illegible]', (३) कौशल देश का शासक 'दीर्घ', (४) चम्पा नगरी का राजा 'पुष्पचूल'।

मारा गया। 'ब्रह्मदत्त' सिंहासन पर बैठा। आयुधशाला में चक्र उत्पन्न होने के बाद चक्रवर्ती बन गया।

एक दिन नट-मण्डली ने आकर चक्रवर्ती के सामने नाटक किया। नाटक इतना भावपूर्ण और सजीव था कि चक्रवर्ती को उसे देखकर स्वर्ग में देखे नाटकों की स्मृति हो आयी। जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया। जब अपना पूर्वजन्म देखा तब चित्त मुनि के साथ अनुबन्धित कई भव देखे। उन्हें खोज निकालने के लिए एक आधा श्लोक बनाकर प्रसारित कर दिया। सबसे कहा गया कि जो इस श्लोक की पूर्ति सही-सही कर देगा, उसे चक्रवर्ती आधा राज्य देगा।

आधे राज्य के प्रलोभन में मुँह-मुँह वही श्लोक सुनाई देने लगा—पर पूर्ति करे कौन? वह श्लोकार्ध यों था—

आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगा वामरौ तथा......।[1]

उधर चित्त मुनि को भी जातिस्मरणज्ञान हुआ। वे संयम ग्रहण करके मुनि बन गये। फिर अपने पूर्वजन्म के बन्धु को प्रतिबोधित करने की भावना से उसकी खोज करते हुए इसी 'कंपिलपुर' के बगीचे में आकर ठहरे। उधर एक ग्वाला उस श्लोक के पद को गुनगुना रहा था। मुनि ने ज्योंही सुना, सहसा चौंके। अगला श्लोकार्ध बनाकर उस ग्वाले को सिखा दिया, वह यों था—

एषा नौ षष्ठिका जातिः, अन्योन्याभ्यां वियुक्तयोः।[2]

ग्वाला राज्य-प्राप्ति के लोभ में वह पद याद करता हुआ चक्रवर्ती के पास आया। सहसा सारा पद सुना दिया। पद सुनकर चक्रवर्ती मूर्च्छित हो गया। सभासदों ने उस व्यक्ति को ही चक्रवर्ती के मूर्च्छित होने का कारण माना, अतः

---

१. दासा दसण्णे आसी मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयंगतीरे य सोवागा कासिभूमिए।
देवा य देवलोगम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।
दशार्ण देश में वास हुए, फिर कालिंजर पर्वत पर मृग बने, मृतगंगा नदी के तीर पर हंस, वहाँ से काशी में चाण्डाल-पुत्र और वहाँ से देवलोक में महर्द्धिक देव बने।
—उत्तराध्ययन १३/६

२. इमा नो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा।
—यह हमारा आठवाँ जन्म है, हम एक-दूसरे से बिछुड़ गये हैं।
—उत्तराध्ययन १३/७

सब उसे पीटने लगे। अपनी यह दुर्दशा देखी तो उसके राज्य का लोभ कपूर की तरह काफूर हो गया। बिसूर-बिसूरकर रोता हुआ बोला—'मुझे मत मारिये, श्लोकपूर्ति मैंने नहीं की। नगर के बाहर बैठे मुनि ने श्लोक की पूर्ति की है, मैं उसी पंक्ति को लेकर यहाँ आया हूँ।'

राजा को जब होश आया तब मुनि द्वारा रचित यह पद्य है, इस प्रकार सुनकर स्वयं मुनि के चरणों में उपस्थित हुआ। उसके रोम-रोम नाच उठे। पद-वन्दन करके बोला—'मुनिवर ! हम दोनों पाँच जन्मों से साथ-साथ उत्पन्न होते आ रहे थे। पहले जन्म में हम दोनों दास थे, दूसरे जन्म में हम मृग थे, तीसरे जन्म में हम हंस थे, चौथे जन्म में हम चाण्डाल-पुत्र थे तथा पाँचवें जन्म में हम दोनों देव बने थे, परन्तु हमारा छठा जन्म अलग-अलग क्यों हुआ? हम दोनों बिछुड़ कैसे गये? इसका क्या कारण है?'

चित्त—ब्रह्मदत्त ! 'सनतकुमार' चक्रवर्ती की महारानी 'सुनन्दा' को देखकर तूने निदान कर लिया था, उसी के परिणामस्वरूप हम दोनों एक-दूसरे से बिछुड गये—कृतकर्म विफल नहीं होते।

ब्रह्मदत्त—मैंने पूर्वजन्म में चारित्र का पालन किया था उसका शुभ फल प्रत्यक्ष भोग रहा हूँ। पर चारित्र का पालन तो आपने भी किया था। आप पिछले जन्म में भी भिक्षुक थे और इस जन्म में भी भिक्षुक ही रहे। आपको उस शुभ अनुष्ठान का फल क्यों नहीं मिला?

चित्त—ब्रह्मदत्त ! किये हुए कर्मों का फल तो अवश्य मिलता है। तू यह मत समझ कि तू सुखी है और मैं दुःखी हूँ। मेरे पास ऋद्धि की कमी नहीं थी, परन्तु ये पुद्गलजन्य सभी सुख नाशवान हैं। ये किंपाकफल की तरह दीखने में सुहावने लगते हुए भी परिणाम में बहुत दुःखप्रद हैं। अतः मोह का बन्धन तोड़कर जिन धर्म में मन लगाकर आत्मोद्धार कर। ये जितने भी गीत-गान हैं, विलाप-तुल्य हैं। नाच-गान विडम्बना मात्र हैं। सभी आभूषण भार-रूप हैं। सभी काम दुःखप्रद हैं।

ब्रह्मदत्त—जो कुछ आपने कहा वह मैं भी जानता हूँ, परन्तु मेरे जैसों के लिए विरक्त होना सहज नहीं लगता। जैसे दलदल में फँसा हाथी दूर से सूखी धरती को देखता है और दलदल से निकलकर सूखी धरती पर आना भी चाहता है, लेकिन कीचड़ में फँसे होने के कारण आ नहीं पाता, वैसे ही सब कुछ जानते हुए भी मैं श्रमणधर्म का अनुसरण करने में अपने आपको

असमर्थ पा रहा हूँ। यही कारण है कि आपका उपदेश मेरे गले नहीं उतर रहा है।

चित्त—तू श्रमणधर्म स्वीकार करने में अपने आपको असमर्थ पा रहा है, फिर भी तू धर्मस्थित होकर आर्य कर्म करने वाला बन। इससे परलोक में वैक्रिय शरीरधारी देव तो बन ही सकता है।

यों कहकर चित्त मुनि वहाँ से अन्यत्र विहार कर गये। अत्युत्कट साधना के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके वे मोक्ष में विराजमान हुए।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती राज्य संचालन करने लगा। एक ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त की दोनों आँखें फोड़ दीं। इससे ब्राह्मण जाति पर ही चक्रवर्ती कुपित हो उठा और अनेक ब्राह्मणों का संहार करवाया। यहाँ तक आदेश दिया कि सभी ब्राह्मणों को मारकर उनकी आँखें निकालकर मेरे सामने थाल में भरकर उपस्थित करो। मंत्रियों ने इस नृशंसतापूर्ण आदेश का पालन करते हुए सोचा—पाप एक का, दण्ड अनेक को; किन्तु करें क्या? अत: कुछ सोच-विचारकर श्लेष्मांतक फलों (एक ऐसा फल जो आँख के आकार का, मुलायम, मृदु और चिपचिपा होता है) से थाल भरकर चक्रवर्ती के सामने रख दिया। चक्रवर्ती उस पर हाथ फेर-फेरकर मन में सन्तुष्टि का अनुभव करने लगा।

एक दिन-दो दिन नहीं, यों सोलह वर्ष रौद्रध्यान में बिताये। रौद्रध्यान के परिणाम प्रतिदिन बढ़ते गये। उन्हीं परिणामों में मरकर वह सात सौ वर्ष की आयु पूरी करके सातवें नरक में पैदा हुआ।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १३
—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ६

८०. चुलनीपिता

'चुलनीपिता' वाराणसी नगरी में रहने वाला एक वैभव-सम्पन्न गाथापति था। उसकी पत्नी का नाम था 'श्यामा'। वह चौबीस कोटि सोनैयों का स्वामी कहलाता था। उसने अपनी सारी सम्पत्ति अर्थ-नीति के अनुसार तीन भागों में विभक्त कर रखी थी। आठ कोटि सोनैये व्यापार में, आठ कोटि सोनैये उपकरणों में तथा आठ कोटि सोनैये निधि रूप में सुरक्षित रखे थे। इतना ही नहीं, दस-दस हजार गायों के इसके पास आठ गोकुल थे। इसके यहाँ सोने के ही नहीं, अन्न के भी भण्डार भरे रहते थे, दूध की नदी बहती थी अर्थात्

वह पूर्णत: सुखी और वैभव से सम्पन्न गृहस्थ था।

भगवान् महावीर के पास इसने भी श्रावकधर्म स्वीकार किया था। बारह व्रतों की स्वीकृति के साथ जीवन को भी इसने मोड़ दिया। गृहभार अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंपकर धर्मध्यान में ही अपना अधिक समय बिताने लगा। एक दिन पौषधशाला में बैठा धर्मध्यान में अवस्थित था। इतने में देव का भयंकर उपसर्ग उपस्थित हुआ। हाथ में चमचमाती तलवार लेकर चुलनीपिता की ओर लपका। डरावनी-सी सूरत बनाये अट्टहास करता हुआ बोला—'अरे ढोंगी ! छोड़ जल्दी-से-जल्दी अपने इस पाखण्ड को; अन्यथा अभी एक ही वार में दो टुकड़े कर देता हूँ।'

श्रावक चुलनीपिता अविचल रहा। देवता ने उसे धर्म से विचलित करने के लिए फिर कहा—'देख, तू अपनी जिद पर अड़ा हुआ है, और नहीं मानता है, तो चख इस हठ के फल को,—यों कहकर उसके बड़े पुत्र को वहाँ लाया—उसके टुकड़े-टुकड़े करके तेल के कड़ाहे में तलकर खून के छींटे चुलनीपिता के शरीर पर लगाये। फिर भी चुलनीपिता अडोल रहे।

देव फिर भी नहीं मान रहा है। दूसरे पुत्र को, तीसरे पुत्र को भी लाकर उसी भाँति काट-काटकर गर्म लहू के छीटों को उसके शरीर पर फेंका। चुलनीपिता के प्रत्येक बार भयंकर वेदना होती है, पर बिल्कुल ही अविचल रहा। रोममात्र में किंचित् भी कहीं कमजोरी नहीं आयी।

चौथी बार देव ने उसकी माँ भद्रा को सामने लाकर खड़ा किया और धमकी दी कि अभी तेरे सामने ही तेरी माँ के टुकड़े किये देता हूँ। तब माता के प्रति अत्यन्त आदर और श्रद्धा के कारण चुलनीपिता विचलित हो उठा। कोलाहल करता हुआ माँ को पकड़ने दौड़ा। देव गगन में चला गया। इसके हाथ में पास वाला एक स्तम्भ आया। कोलाहल सुनकर अन्दर से माँ दौड़कर आयी। कोलाहल करने का कारण पूछा। चुलनीपिता ने सारी बात कह डाली।

माँ ने धैर्य बँधाते हुए कहा—पुत्र ! न तो तुम्हारे पुत्र को कोई ले गया है और न ही मुझे। वे तीनों यहाँ सकुशल हैं, मैं तेरे सामने खड़ी हूँ। लगता है कोई देव छलिया बनकर तेरी परीक्षा करने आया था। ऐसा करने से तेरा व्रत भंग हुआ है, अत: तू इसका प्रायश्चित करके व्रतों में पुन: दृढ़ हो।

चुलनीपिता ने अपने मन में ममत्व की ग्रन्थि को शिथिल करने का

संकल्प कर लिया। भविष्य में और अधिक दृढ़ रहने की भावना सुस्थिर की। श्रावक प्रतिमाओं का सविधि पालन कर तप के द्वारा शरीर को कृश किया। अन्त में समाधिमरण प्राप्त करके प्रथम स्वर्ग के अरुणप्रभ विमान में दिव्यऋद्धि वाला देव बना। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।

—उपासकदशा ३

८१. चुल्लशतक

'चुल्लशतक' आलंभिका नगरी में रहने वाला एक ऋद्धिसम्पन्न गाथापति था। अठारह कोटि सोनैयों का वह स्वामी था। छः कोटि सोनैये व्यापार में, छः कोटि सोनैये घरेलू उपकरणों में तथा छः कोटि सोनैये भूमि में संस्थापित थे। दस-दस हजार गायों के छः गोकुल भी उसके पास थे। उसकी धर्म-सहायिका धर्मपत्नी का नाम था 'बहुला'। भगवान् महावीर के पास बारह व्रतों को स्वीकार करके वह अपने जीवन को समता और सादगी के साथ बिताने लगा।

पौषधशाला में धर्मध्यान में अवस्थित चुल्लशतक की दृढ़ता की परीक्षा करने एक देव आया और बोला—चुल्लशतक ! तूने संकल्प किया है कि मैं अपने शीलव्रत पौषध में सभी उपसर्गों में अविचल रहूँगा, पर मैं तुझे आज निश्चित ही चलित करके छोड़ूंगा। मेरा कहना मान जा। उठ, अपना काम कर, अन्यथा दुष्परिणाम भोगना पड़ेगा।

इस प्रकार कहकर देवता उसके ज्येष्ठ पुत्र को उसके सामने ले गया। उसकी घात करके शरीर के सात टुकड़े किये। उसके खून से कड़ाह भरकर फिर उसमें तेल डाला, उसे उबाला और उस रक्त-मिश्रित तेल में उसके माँस के शूले बनाये। उन शूलों को 'चुल्लशतक' के शरीर पर मला। उस खौलते हुए तेल से उसके शरीर को सींचा।

शरीर में भयंकर ताप होने लगा। पुत्र की चिल्लाहट भी उसे साफ सुनाई पड़ी। महावीभत्स दृश्य सामने है, फिर भी चुल्लशतक तिलमात्र भी विचलित नहीं हुआ। आत्मस्थ बैठा रहा। समताशील बना उस दारुण उपसर्ग को सहता रहा।

देव ने दूसरे पुत्र का, तीसरे पुत्र का भी वैसा किया पर चुल्लशतक बहुत ही दृढ़ रहा।

तब देव ने यह सोचकर पैंतरा बदला कि कई मनुष्य सन्तान से भी अधिक मोह अपने शरीर से करते हैं, और कई शरीर से भी अधिक महत्त्व धन को देते हैं। इसीलिए धन ग्यारहवाँ प्राण कहलाता है। इस माध्यम से उसे फुसलाने के लिए देव ने कहा—'ओ महामूर्ख श्रमणोपासक ! तीन सन्तानों की मृत्यु से भी तेरे रोमांच नहीं हुआ, पर अब मैं पसीने से अर्जित तेरे सारे धन को 'आलंभिका' नगरी में चारों ओर फेंकता हूँ। एक फूटी कौड़ी भी तेरे भण्डार में नहीं रहने दूँगा। घर में रोटी के लाले पड़ जायेंगे, दर-दर की खाक छानता फिरेगा, तब तुझे पता चलेगा।' यों कहकर देवता भण्डार की ओर जाने लगा।

अब चुल्लुशतक अपने आपको सँभाले नहीं रख सका। कलेजा धक्-धक् करने लगा। 'पकड़ो-पकड़ो' कहता हुआ उस देव को पकड़ने उठा।

'चुल्लुशतक' का कोलाहल सुनकर अपने शयनकक्ष से उसकी धर्मपत्नी 'बहुला' दौड़कर आयी और कोलाहल का कारण जानना चाहा। चुल्लुशतक ने सारी आपबीती बताई। तब बहुला ने सांत्वना देते हुए कहा—ऐसा कुछ नहीं हुआ है। तीनों पुत्र आराम से सो रहे हैं। लगता है किसी देव ने आपकी परीक्षा करने के लिए यह सब कुछ किया है। आप अपने संकल्प में दृढ़ नहीं रह सके। खैर, जो हुआ सो हुआ। अब भी आप आलोचना कर धर्मध्यान में तल्लीन बनिये।

पत्नी की बातों से 'चुल्लुशतक' आश्वस्त हुआ। अपनी धनासक्ति पर मन-ही-मन ग्लानि हुई। मन के कोने में छिपी दुर्बलता को दूर फेंकने का दृढ़ संकल्प किया।

चुल्लुशतक ने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का सकुशल पालन किया। बीस वर्ष तक श्रावकधर्म का पालन कर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया। सौधर्मकल्प में अरुणसिद्ध विमान में पैदा हुआ। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेगा।

—उपासकदशा, अध्ययन ५

८२. चेटक

महाराज चेटक वैशाली के एक कुशल शास्ता थे। वैशाली गणतन्त्र में ९ मल्ली, ९ लिच्छवी जाति के १८ राजा थे। उन सबके प्रमुख थे महाराज 'चेटक'। भगवान् महावीर के ये मामा थे। ये केवल जैनधर्मी ही नहीं, अपितु

बारह व्रतधारी श्रावक भी थे। उन्हें अनेक राजाओं के साथ युद्ध में उतरना पड़ा। इनका संकल्प था कि निरपराधी पर ये प्रहार नहीं करते थे तथा एक दिन में एक बार ही एक बाण छोड़ते। इनका निशाना अचूक रहता। कूणिक के साथ किये गये महाभयंकर युद्ध में कालिककुमार आदि दस भाइयों को इन्होंने प्रतिदिन एक बाण छोड़कर दस दिन में समाप्त कर दिया था। इतिहासप्रसिद्ध चेटक-कूणिक युद्ध को देवेन्द्रों की सहायता से कूणिक ने जीत लिया। वहाँ इन्हें विजित होना पड़ा। फिर भी अपनी नीतिमत्ता से पीछे नहीं हटे। विरक्त होकर इन्होंने समाधिमरण किया और बारहवें स्वर्ग में गये।

महाराजा चेटक के सात पुत्रियाँ थीं, जिनका वैवाहिक सम्बन्ध जैनधर्मावलंबी बड़े.बड़े नरेशों के साथ किया गया था, जो यों है—

(१) प्रभावती—वीतभयनगर के स्वामी 'उदायन' के साथ।
(२) पद्मावती—चम्पापुरपति 'दधिवाहन' के साथ।
(३) मृगावती—कौशाम्बीपति 'शतानीक' के साथ।
(४) ज्येष्ठा—कुंडनपुर पति 'नन्दीवर्धन' के साथ।
(५) शिवा—उज्जयिनी पति 'चण्डप्रद्योत' के साथ।
(६) सुज्येष्ठा—साध्वी बनी।
(७) चेलना—राजगृहीपति 'श्रेणिक' के साथ।

—आवश्यक कथा

८३. चेलना

'चेलना' वैशाली के महाराज 'चेटक' की सबसे छोटी पुत्री थी। यह बहुत ही लाड़-प्यार से पली-पुसी एक सुशील कन्या थी। 'चेलना' की बड़ी बहन 'सुज्येष्ठा' के रूप पर मुग्ध बने महाराज 'श्रेणिक' उसके साथ विवाह करना चाहते थे। पर विधर्मी होने से महाराज चेटक ने श्रेणिक के प्रस्ताव को साफ *अस्वीकार कर दिया; क्योंकि तब तक राजा श्रेणिक बौद्धधर्मानुयायी थे।* 'श्रेणिक' की इस चिन्ता को मिटाने के लिए 'अभयकुमार' ने सारा काज सजाया। स्वयं व्यापारी बनकर वहाँ गया। दासियों के माध्यम से 'सुज्येष्ठा' को राजा श्रेणिक के प्रति आकर्षित किया। सुज्येष्ठा चेलना को लेकर सुरंगद्वार से आने को उतावली हो उठी। जेवरों के डिब्बे के मोह में फंसकर 'सुज्येष्ठा' अपनी आभूषण-मंजूषा को लेने गई और पीछे रह गई। 'चेलना' श्रेणिक के

साथ चली गई। 'श्रेणिक' ने इसके साथ पाणिग्रहण करके अपनी पटरानी का पद दिया।

रानी 'चेलना' पतिभक्ता और जैनधर्मानुरक्ता थी। यहाँ आने के बाद उसे पता लगा कि महाराज श्रेणिक बौद्धधर्मावलम्बी हैं। दोनों के जीवन में कुछ ऐसे प्रसंग भी आये जिससे विधर्मिता के कारण परस्पर में तनावपूर्ण स्थिति हो गई पर प्रयत्न दोनों का यही रहा कि जीवन सरस रहे।

अनाथी मुनि के सम्पर्क से राजा श्रेणिक जैनधर्मी बना, दृढ़धर्मी बना, भगवान् महावीर का परम भक्त बना। तब चेलना का सिरदर्द सदा-सदा के लिए समाप्त हो गया।

एक बार शिशिर ऋतु में भगवान् महावीर राजगृह में पधारे। राजा श्रेणिक अपनी पटरानी चेलना सहित उसके दर्शनार्थ समवसरण में पहुँचे। वापस लौटते समय एक मुनि वहाँ जंगल में वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े थे। उस कड़ाके की सर्दी में मुनि को ध्यानस्थ खड़े देखकर चेलना ने सोचा—कहाँ तो मैं इतने ऊनी वस्त्रों में लिपटी हुई ठिठुर रही हूँ, कहाँ ये महामुनि जो यों अल्प वस्त्रों में भी प्रसन्न खड़े हैं।

रानी महलों में आकर सो गई। रात्रि को रजाई के बाहर उसका एक हाथ रह गया। जब कड़ाके की सर्दी में वह हाथ ठिठुर गया तब आँख खुली। उस मुनि की स्मृति हो आई, मुँह से सहसा निकला—'वह क्या करता होगा?'

राजा के कान में ये शब्द पड़े। बस, फिर क्या था ! राजा इस निर्णय पर पहुँचा—हो न हो, चेलना किसी अन्य पुरुष पर आसक्त है। इसका मन उधर दौड़ रहा है। इसीलिए बड़बड़ा रही है। हाय ! मैंने इसे इतना प्याार दिया। फिर भी यह अन्य पुरुष के प्रति आसक्त है। नारी का क्या भरोसा? क्रोध, रोष और आक्रोश मन-ही-मन बटोरे राजा प्रातःकाल महलों के नीचे आया। आव देखा न ताव, अभयकुमार को चेलना का महल जलाने का आदेश दे डाला। स्वयं चलकर भगवान् महावीर के समवसरण में पहुँचा। प्रभु ने राजा की मनोव्यथा को लक्ष्य करते हुए महारानी चेलना की पत रखने के लिए फरमाया—'महाराज चेटक की सातों पुत्रियाँ सच्ची सती हैं।'

राजा चौंका, चेलना के मुँह से निकले रात वाले शब्द कहकर उनका रहस्य जानना चाहा। प्रभु ने ध्यानस्थ मुनि की सारी घटना सुनाकर राजा का

सारा भ्रम मिटाया। राजा उद्विग्न हो उठा—कहीं 'अभय' महल न जला दे। जल्दी से वहाँ से चलकर आया। दूर से महलों से धुआँ निकलता देखकर एक बार हत्प्रभ हो गया, पर जब पता लगा कि 'अभय' ने बहुत ही बुद्धिमता का परिचय दिया है—महलों को न जलाकर महलों के पास वाली फूस की खाली झोपड़ियाँ जलाकर मेरे आदेश का पालन किया है, महारानी सुरक्षित हैं, तब उसे संतोष हुआ।

श्रेणिक ने महारानी के पास जाकर अपनी भ्रम-भरी भूल का अनुताप करते हुए क्षमा माँगी। पुनः-पुनः चेलना की सराहना करने लगा—तुम्हें धन्य है, तुम्हारा जीवन धन्य है। भगवान् महावीर ने अपने श्रीमुख से तुम्हारी प्रशंसा की है। धन्य है महासती ! चारों ओर सती चेलना का जयनाद गूँज रहा था।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

८४. जमाली

जमाली क्षत्रियकुंडनगर में रहने वाला एक क्षत्रिय राजकुमार था। वह भगवान् महावीर का संसार-पक्षीय जामाता था। वैसे भानजा भी था। भगवान् महावीर एक बार जनपद में विहार करते हुए कुंडनगर में पधारे। परिषद् वन्दन करने गई। प्रभु की देशना सुनकर जमाली प्रतिबुद्ध हुआ। माता-पिता की आज्ञा लेकर पाँच सौ क्षत्रियकुमारों के साथ प्रव्रजित हुआ और श्रमणधर्म का पालन करता हुआ भगवान् के संघ के साथ विचरण करने लगा।

एकदा जमाली ने प्रभु से जनपद में विहार करने की आज्ञा चाही। प्रभु जानते थे कि जनपद में विचारों का परिपक्व व्यक्ति ही अविचल रह सकता है, अन्यथा विभिन्न विचारों को सुनकर व्यक्ति दिग्भ्रान्त हो सकता है। यह सोचकर प्रभु मौन रहे।

जमाली अणगार प्रभु के आदेश की अवगणना करके मौन को ही सहमति मानकर अपने पाँच सौ शिष्यों को साथ लेकर चल पड़ा।

विहार करते-करते जमाली सावत्थी के कोष्ठक उपवन में आकर ठहरा। उन दिनों अरस-विरस आहार के कारण जमाली मुनि कुछ अस्वस्थ था। उसके शरीर में असह्य वेदना थी। अपने शिष्यों से बिछौना करने के लिए कहा। शिष्यगण बिछौना करने लगे। बीच-बीच में जमाली ने दो-तीन बार पूछा—बिछौना कर दिया?

शिष्यों ने कहा—किया नहीं, कर रहे हैं।

शिष्यों का उत्तर सुनकर जमाली इस निर्णय पर पहुँचा कि महावीर का, जो क्रियमाण को कृत कहते हैं अर्थात् किये जाने वाले कार्य को किया हुआ कहते हैं, यह सिद्धान्त गलत है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, शिष्य मुझे बता रहे हैं—बिछौना किया नहीं है।

जमाली अणगार ने अपने विचार शिष्यों के सम्मुख रखे। उसके विचार कइयों को अच्छे लगे और कइयों को नहीं रुचे। जिन्हें रुचे, वे जमाली के साथ रहे, शेष भगवान् महावीर के पास लौट आये।

जमाली अब अपने इस सिद्धान्त की खुलकर पुष्टि करने लगा। अल्पज्ञ में अहं की अधिक अकड़ता होती है। मुझे केवलज्ञान हो गया, मैं जिन हूँ, केवली हूँ—यह कहता हुआ प्रभु महावीर के पास आया।

गौतम स्वामी ने उसके अहमं को दूर करने के लिए पूछा—अगर तुम केवलज्ञानी हो तो बताओ कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत? जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

गौतम स्वामी के इन छोटे-छोटे प्रश्नों को सुनकर ही जमाली निरुत्तर हो गया। निरुत्तर बना मूक खड़ा रहा। कुछ भी उत्तर न दे सका। तब भगवान् महावीर ने कहा—जमाली ! इन प्रश्नों के उत्तर देने में तो मेरे अनेक छद्मस्थ मुनि भी समर्थ हैं, तब तुम अपने आपको सर्वज्ञ कहकर भी मौन कैसे खड़े रह गये?

भगवान् महावीर ने लोक और जीव की शाश्वतता-अशाश्वतता का विशद् विवेचन करते हुए कहा—'द्रव्य से लोक और जीव शाश्वत है तथा पर्याय से अशाश्वत है,' पर जमाली प्रभु की वाणी को न मानता हुआ वहाँ से चला गया।

कई वर्ष तक श्रमण पर्याय का पालन करके भी अभिनिवेशिक मिथ्यात्व के कारण मृत्यु को प्राप्त होकर लांतक नामक छठे किल्विषी में पैदा हुआ।

जमाली की पत्नी भगवान् महावीर की पुत्री प्रियदर्शना भी जमाली के विचारों से प्रभावित होकर एक हजार साध्वियों के साथ जमाली से मिल गई थी और उसके इस नवीन मिथ्या सिद्धान्त को मानने लगी थी। एक बार वह ढंक गाथापति के मकान में ठहरी। आहार करने के लिए चादर का परदा लगा

रखा था। ढंक श्रावक ने उसे समझाने के लिए उस चादर के एक कोने को जला दिया। जब चादर जलने लगी, तब साध्वी अन्दर से आकर बोली—चादर जल गई।

ढंक ने टोकते हुए कहा—जल कहाँ गई? आपके सिद्धान्तानुसार तो ऐसे कहिये कि जल रही है।

साध्वी की समझ में बात आ गई कि व्यवहार में भाषा का प्रयोग वैसे ही होता है, जैसे महावीर करते हैं। जितना काम कर लिया वह तो हो ही गया। अत: क्रियामाणकृत का सिद्धान्त महावीर का समीचीन है। यदि पहले हिस्से को हुआ नहीं मानेंगे तो सौवें हिस्से को हुआ कैसे मानेंगे। ढंक के यों समझाने से साध्वी प्रियदर्शना महावीर के संघ में पुन: प्रविष्ट हो गईं।

—भगवती ६/३३

८५. जम्बूस्वामी

'जम्बू' स्वामी 'राजगृह' में रहने वाले सेठ 'ऋषभदत्त' की सेठानी 'धारिणी' के पुत्र थे। जम्बू वृक्ष के स्वप्न से संसूचित पुत्र पैदा हुआ, इसलिए पुत्र का नाम जम्बूकुमार रखा गया। युवावस्था को प्राप्त होने पर सम्पन्न सेठों की आठ कन्याओं के साथ कुमार का सम्बन्ध कर दिया गया।

उन्हीं दिनों भगवान् महावीर के पाँचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी राजगृह में पधारे। जम्बूकुमार उपदेश सुनने के लिए वहाँ आये। उपदेश का अचूक असर हुआ। जम्बू विरक्त बन गया और संयम ग्रहण करने के लिए अपने माता-पिता से आज्ञा चाही। माता-पिता ने इसे येन-केन-प्रकारेण विवाह करने का आग्रह किया। 'जम्बूकुमार' इस शर्त पर तैयार हुआ कि मैं विवाह कर लूँगा, पर दूसरे दिन प्रात:काल ही साधु बन जाऊँगा, यह बात उन कन्याओं को पहले ही बता दी जाये। वे कहीं अपने साथ धोखा हुआ न समझ लें। सेठ ने कन्याओं को कहला दिया।

कन्याएं भी यही सोचकर तैयार हो गईं कि हम सब नहीं पहुँचतीं तब तक वे संयम लेने की बात कर रहे हैं। हमारे पहुँचते ही संयम लेने की बात हवा में उड़ जाएगी, अन्यथा उनकी गति सो हमारी गति।

धूमधाम से आठों के साथ जम्बूकुमार का विवाह हो गया। दहेज में विपुल द्रव्य आया। सुहागरात मनाने आठों पत्नियाँ जम्बूकुमार के साथ महल में चढ़

गईं। चारों ओर से 'जम्बूकुमार' को घेरकर आठों बैठ गईं। 'जम्बू' ने पत्नियों को अपनी ओर खींचना चाहा। संयम-पथ पर ले चलने का प्रयत्न किया। आठों अप्सरा-सी ललनाएं हाव-भाव करके अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करने लगीं।

संयोग ऐसा बना कि उस समय 'प्रभव' नाम का तस्करराज अपने पाँच सौ साथियों को लेकर दहेज में आयी धन सामग्री चुराने वहाँ आया। 'प्रभव' के पास दो चमत्कारी विद्याएँ थीं—एक 'अवस्वापिनी' और दूसरी 'तालोद्घाटिनी'। पहली से जहाँ सबको निद्राधीन किया जा सकता है, वहाँ दूसरी से ताले खोले जा सकते हैं। 'प्रभव' ने यहाँ पर भी 'अवस्वापिनी' विद्या का प्रयोग किया। सभी निद्रालीन हो गये, किन्तु जम्बूकुमार और उसकी पत्नियों पर इसका कोई असर न हुआ।

पाँच सौ चोरों ने मनचाहा धन बटोरकर बड़े-बड़े गट्ठर बाँध लिये। लेकिन ज्यों ही चलने लगे, देखा कि सभी के पैर जमीन से चिपक गये हैं। हिलना-डुलना भी सब का बन्द है। 'प्रभव' घबराया। उसे महलों में कुछ घुस-पुस सुनाई दी। महल के बाहर खड़ा हो अन्दर हो रहे वार्तालाप को सुनने लगा।

एक-एक उदाहरण के माध्यम से आठों पत्नियों ने जम्बूकुमार को समझाना चाहा। 'जम्बूकुमार' ने उस सब के दृष्टान्तों का क्रमशः खण्डन करके अपनी बात की पुष्टि के लिए एक-एक दृष्टान्त देकर उन सबको संयम-पथ पर आने के लिए तैयार कर लिया। आठों पत्नियाँ अपने लक्ष्य में पराजित रहीं—जम्बू विजयी रहे।

वह सारा संवाद सुनकर प्रभव भी प्रतिबुद्ध हो उठा। सोचा—मुझे धिक्कार है ! जम्बूकुमार तो इन नवेलियों को छोड़कर और अपरिमित द्रव्य को ठुकराकर जा रहा है और मैंने क्षत्रिय-पुत्र होकर भी यह नीच धन्धा पकड़ रखा है। 'जम्बूकुमार' के पास जाकर उसने अपने साथियों को मुक्त करने की प्रार्थना की। सभी के हाथ-पैर खुल गये। प्रभव के प्रबोध से पाँच सौ चोर भी संयम लेने के लिए तैयार हो गये। जम्बूकुमार के माता-पिता, उन आठों पत्नियों के माता-पिता—इस प्रकार पाँच सौ अट्ठाईस व्यक्तियों ने सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षा ली।

जम्बूकुमार सोलह वर्ष घर में रहे। छत्तीसवें वर्ष में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त

हो गया। चवालीस वर्ष तक कैवल्यावस्था में रहकर अस्सी वर्ष की अवस्था में मोक्ष पधारे। इस युग के ये अन्तिम केवली और अन्तिम मोक्षगामी थे। इनके मोक्ष-गमन के बाद भरतक्षेत्र में निम्न दस बातों का लोप हो गया—(१) मनःपर्यवज्ञान, (२) परमावधिज्ञान, (३) पुलाकलब्धि, (४) आहारक शरीर, (५) केवलज्ञान, (६) क्षायिक सम्यक्त्व, (७) जिनकल्प, (८) परिहारविशुद्धि चारित्र, (६) सूक्ष्मसंपराय चारित्र और (१०) यथाख्यात चारित्र।

इनके पाट पर प्रभव स्वामी विराजमान हुए।

—नंदी वृत्ति
—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, परिशिष्ट पर्व
—वसुदेव हिंडी
—जम्बूकुमार चरियं

८६. जयघोष

'जयघोष' वाराणसी नगरी में रहने वाले एक कर्मकाण्डी ब्राह्मणप थे। वे जैन-धर्म की विशेषताओं से प्रभावित होकर पंचमहाव्रतधारी मुनि बने।

'जयघोष' मुनि एक बार विहार करते हुए 'वाराणसी' नगरी में आये और नगर के बाहर मनोरम उद्यान में ठहरे। उसी नगरी में विजयघोष नाम का एक ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। उसके यज्ञस्थल में 'जयघोष' मुनि अपने एक मासी तप की समाप्ति पर भोजन के लिए पहुँचे।

'जयघोष' मुनि को देखकर 'विजयघोष' ब्राह्मण ने घृणा से घूरते हुए कहा—मुनिवर ! यह एक ब्राह्मण का घर है। यहाँ भिक्षा उसे ही मिल सकती है, जो यज्ञार्थी हो, वेदों का वेत्ता हो, ज्योतिष विद्या में निष्णात हो तथा संसार-समुद्र से औरों को तैराने में समर्थ हो। ऐसे के लिए ही यहाँ भोज्य सामग्री बनी है, तुम्हारे जैसे के लिए नहीं। इसलिए भिक्षार्थ कहीं अन्यत्र जाओ।

'विजयघोष' की बात सुनकर 'जयघोष' मुनि शान्त रहे। उसका अज्ञान मिटाने के लिए 'विजयघोष' को यज्ञ, वेद, ब्राह्मण आदि का वास्तविक अर्थ बताया—जितेन्द्रिय, संयमवान्, सद्गुणों के धारक ही सच्चे ब्राह्मण हैं, न कि कषाय से कलुषित दिल वाले, दुर्गुणों के दलदल में धँसे व्यक्ति ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी हैं। देखो ! सिर मुंडाने मात्र से कोई श्रमण, ऊँकार कह देने मात्र से ब्राह्मण, वन में रहने मात्र से मुनि तथा भगवा वस्त्रों को धारण करने

मात्र से कोई तापस नहीं होता है। वास्तव में समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि तथा तप से तपस्वी होता—ऐसा आत्मद्रष्टाओं का प्रतिपादन है।

'जयघोष' मुनि के प्रत्युत्तर से 'विजयघोष' परम प्रसन्न हुआ और विम्रतापूर्वक जयघोष मुनि से आहार की प्रार्थना की।

मुनि ने कहा—मुझे आहार की ऐसी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। मैं तो चाहता हूँ कि तुम भी यही मार्ग स्वीकार करो। देखो, विषयासक्त व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है और विषयों से विरक्त कभी कर्म-रजों से लिप्त नहीं होता है। तुमने देखा होगा मिट्टी के सूखे गोले को यदि दीवार पर फेंकते हैं, वह वहाँ नहीं चिपकता, नीचे गिर जाता है। वस्तुतः आसक्ति मात्र ही बन्धन का कारण है। अतः उससे विरक्त बनो।

'जयघोष' मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर विजयघोष ब्राह्मण ने मुनित्व स्वीकार कर लिया। दोनों ही मुनि अपनी उत्कृष्ट तप संयम की साधना से सकल कर्मों का क्षय करके मोक्ष गये।

—उत्तराध्ययन, अध्ययन २५

८७. जय चक्रवर्ती

इक्कीसवें तीर्थंकर श्री 'नेमिनाथ' के शासनकाल में ग्यारहवाँ चक्रवर्ती हुआ, जिसका नाम था 'जय'। चक्रवर्ती जय राजगृही के महाराज विजय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'विप्रा' था। चौदह स्वप्नों से सूचित पुत्र होने से चक्रवर्ती होगा, ऐसा सबका अनुमान था।

पिता के बाद ये राजगद्दी पर बैठे। जब आयुधशाला में चक्र उत्पन्न हो गया, तब छः खण्डों पर इन्होंने अपना आधिपत्य जमाया। अन्त में तीन हजार वर्ष का सर्वायु भोगकर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में विराजमान हुए।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ७

८८. जयन्ती श्रविका

'जयन्ती' श्रमणोपासिका 'कौशाम्बी' नगरी के महाराज 'शतानीक' की बहन तथा महाराज 'उदयन' की बुआ थी। वह भगवान् महावीर के साधुओं की

प्रथम शय्यातर तथा तत्त्व की मर्मज्ञा थी। जैन इतिहास में जिज्ञासामूलक प्रश्न करने वाली स्त्रियों में 'जयन्ती' का प्रमुख स्थान है।

एक बार भगवान् महावीर 'कौशाम्बी' पधारे। 'जयन्ती' प्रभु के समवसरण में पहुँची। अपने मन की जिज्ञासाएं प्रभु के सामने रखते हुए विनम्र भाव से उन सबका समाधान चाहा। प्रश्न बहुत उपयोगी तथा पैने थे।

जयन्ती—जीव भारी कैसे होता है?

भगवान् महावीर—प्राणातिपात आदि पापस्थानों में प्रवृत्ति करने के कारण।

जयन्ती—जीव हल्का कैसे होता है?

भगवान् महावीर—पापस्थानों से विरमण होने से।

जयन्ती—जीव दुर्बल, आलसी व प्रसुप्त अच्छे हैं या बलवान, उद्यमी व जागृत अच्छे हैं?

भगवान् महावीर—जो व्यक्ति अधर्मनिष्ठ हैं, वे दुर्बल, आलसी और प्रसुप्त अच्छे हैं तथा जो व्यक्ति धर्मनिष्ठ हैं, वे बलवान, उद्यमी तथा जागृत अच्छे हैं।

जयन्ती—जीव भवि स्वभाव से होते हैं या परिणाम से?

भगवान् महावीर—स्वभाव से होता है। अभवि का भवि या भवि का अभवि रूप में कभी परिणमन नहीं हो सकता।

जयन्ती ने अनेकानेक ऐसे प्रश्न किये, जिन्हें सुनकर सारे लोग चमत्कृत हो उठे। उस समय तो वह अपने महलों में चली गई। कुछ समय के बाद भगवान् महावीर के पास दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में पहुँची।

—भगवती, १२/२

८६. जशोभद्र

'जशोभद्र' नलिनीगुल्म विमान से च्यवकर 'ईक्षुकार' नगर में 'भृगु' नाम के पुरोहित की पत्नी 'जसा' की कुक्षी से पैदा हुआ। एक भाई और था जिसका नाम था 'देवभद्र'। दोनों भाई देवलोक में भी साथ थे तो यहाँ भी दोनों में घनिष्ठ प्रेम था।

भृगु पुरोहित को पहले ही यह बता दिया गया था कि तुम्हारे पुत्र तो हो सकते हैं, पर वे बाल्यावस्था में ही मुनि बन जायेंगे। पुत्र साधु न बन जाएं, इसलिए पुरोहित नगर को छोड़कर जंगल (एकान्तवास) में मकान बनाकर रहने लगा। वह इसलिए कि कहीं साधु इनके नजर ही न चढ़ सकें। अपने पुत्रों

के दिलों में भी साधुओं के प्रति भय बैठाते हुए यहाँ तक कह रखा था—इन साधुओं के पास कभी नहीं जाना चाहिए। ये अपनी झोली में चाकू-कैंचियाँ रखते हैं और एकान्त में छोटे-छोटे बच्चों के प्राण लूट लेते हैं।

एक दिन ऐसा प्रसंग आया कि आत्मसाधक मुनिवर पथ से भटककर उस ओर आये, जहाँ पुरोहित रहता था। बच्चों ने दूर से देखा—घबराए। सोचा न हो आज ये हमें मारने के लिए यहाँ आये हैं। दोनों भाई दौड़े। संयोगवश मुनि भी उधर आने लगे। वे और भी अधिक घबरा गये और अपने प्राण बचाने हेतु एक वृक्ष पर चढ़ गये। मुनिवर भी चलते-चलते उसी वृक्ष के नीचे ठहरे। रजोहरण से भूमि का प्रमार्जन करके अपनी झोली वहाँ रखी। झोली खोलकर पात्र में से जो रूखी-सूखी रोटी थी, निकाल खाने लगे।

वृक्ष पर बैठे और पत्तों में छिपे दोनों भाई मुनियों की सारी गतिविधि देख रहे थे। मन में कुछ उथल-पुथल मची कि पिताजी ने हमें ऐसे क्यों बरगलाया। इनके पात्रों में कहाँ हैं छुरी और कैंचियाँ? यों चिन्तन करते-करते उन दोनों को जाति-स्मरण-ज्ञान हो गया। अपने पूर्वजन्म को देखा। नीचे आकर मुनि की पदवन्दना की। माता-पिता से आज्ञा लेकर साधु बनने के लिए उद्यत हो उठे।

माता-पिता ने उन्हें संसार में रखने के लिए बहुत-बहुत प्रयत्न किये, पर वे उन्हें संसार में रखने में असफल रहे। प्रत्युत कुमारों की विरक्ति से 'भृगु' पुरोहित भी अपनी पत्नी 'जसा' के साथ संयम लेने को तैयार हो गया। पुरोहित का धन लावारिस होने से राजभण्डार में जाने लगा। तब रानी कमलावती के समझाने से राजा और रानी भी संयम लेने को तैयार हो गये।

यों छहों व्यक्ति राजा-रानी, पुरोहित और उसकी पत्नी तथा दोनों पुत्र संयमी बने। चारित्र की उत्कृष्ट आराधना करके मोक्ष में विराजमान हुए।

—उत्तराध्ययन, अध्ययन १४

६०. जितशत्रु राजा और सुबुद्धि मंत्री

महाराजा 'जितशत्रु' 'चम्पानगरी' के अधिशास्ता थे। इनके प्रधान का नाम था सुबुद्धि। 'सुबुद्धि' बुद्धिमान था। महाराज का कृपापात्र, एक अच्छा तत्त्वज्ञ और धर्मनिष्ठ व्यक्ति था। धर्मनिष्ठता तो उसकी इससे ही परिलक्षित होती थी कि वह हर परिस्थिति में अपने आपको सम रखना चाहता था। अनुकूलता-प्रतिकूलता, अरस-विरस सामग्री उसकी मनोभावना को तनिक भी विचलित

नहीं कर सकती थी।

एक दिन महाराज के यहाँ किसी विशेष प्रसंग के कारण भोज था। विविध प्रकार की सुस्वादु सामग्री तैयार की गयी। खाने वाले सभी मुक्त कण्ठ से भोज्य सामग्री की सराहना कर रहे थे। महाराज ने जब 'सुबुद्धि' के मुँह से भोज्य सामग्री की प्रशंसा सुननी चाही तब उसका एक ही उत्तर था—'इसमें ऐसा क्या है, महाराज ! यह तो पुद्‌गलों का स्वभाव ही है। इसमें प्रसन्न-अप्रसन्न होने की कोई ऐसी खास बात नहीं है।' महाराज जितशत्रु को यह उत्तर समुचित न लगा और मन मसोसकर रह गया।

एक दिन महाराज मन्त्री सहित एक खाई के पास से गुजरे। खाई में बहुत गन्दा पानी भारा था। उसकी दुर्गन्ध पास से गुजरने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए सिरदर्द का कारण बनी हुई थी। राजा नाक-भौं सिकोड़ते हुए और कपड़े से मुँह को ढककर खाई के पास से गुजरे। आगे निकलकर मन्त्री से कहा—'कितनी दुर्गन्ध आ रही थी?' मन्त्री ने अपनी उसी सहजता से कहा—'इसमें ऐसी क्या बात है? पुद्‌गलों का स्वभाव ही ऐसा है। अच्छे पुद्‌गल बुरे रूप में तथा बुरे पुद्‌गल अच्छे रूप में बदले जा सकते हैं।'

महाराज ने इसका प्रत्यक्ष परिवर्तन देखना चाहा। मन्त्री ने यथासमय बताने का वादा किया। खाई के उस गन्दे पानी को अनेक प्रयत्नों द्वारा साफ किया। सुगन्धित पदार्थों से उसे सुस्वादु, सुपाच्य और सुवासित बनाकर राजा को भोजन के समय पिलाने के लिए सेवक को आदेश दिया। महाराज ने भी उसे पीकर बहुत प्रसन्नता व्यक्त की और कहा—ऐसा पानी आज से पहले क्यों नहीं पिलाया गया?

मन्त्री ने बात का सारा रहस्योद्‌घाटन किया, तब महाराज विस्मित रह गये। मन्त्री का कहना सही जँचा। मन्त्री ने धीरे-धीरे धर्म का मर्म समझाया। राजा ने श्रावकधर्म स्वीकार किया। यथासमय मुनित्व स्वीकार करके लम्बे समय तक उसकी निरतिचार आराधना कर निर्वाण को प्राप्त किया।

—ज्ञाता सूत्र १२

—उपदेश प्रासाद, भाग ४

६१. जिनरक्षित-जिनपाल

'जिनरक्षित-जिनपाल' महाराज 'कूणिक' की 'चम्पानगरी' में रहने वाले

माकन्दी नामक सार्थवाह की पत्नी 'भद्रा' के आत्मज थे। दोनों ही बहुत बुद्धिमान तथा सुन्दर थे। युवावस्था में ग्यारह बार इन्होंने व्यापार-हेतु लवणसमुद्र की यात्रा की और अच्छा लाभ कमाया। पर आशा के इस पुतले को सन्तोष कहाँ? यह तो नित्य नये सुनहरे स्वप्न संजोये रहता है।

बारहवीं बार लवणसमुद्र की यात्रा के लिए दोनों भाई फिर तैयार हुए। माता-पिता ने कहा—अब तक की तुम्हारी यात्राएं सब विधि सुखद रहीं, लाभप्रद रहीं। अब अधिक लोभ में न फँसकर यहीं रहो। किसी भी बात में अति नहीं होनी चाहिए।

दोनों भाई माता-पिता की बात को नहीं मानते हुए यात्रा के लिए निकल पड़े। संयोग ऐसा बना कि इनकी नाव तूफान में बुरी तरह फँस गयी। पानी के थपेड़ों से नाव भंग होकर पानी में डूब गयी। नाव में बैठे अनेक व्यक्ति डूब गए। वे दोनों काठ के पट्टे के सहारे तैरते-तैरते एक द्वीप में पहुँचे गये, जिसका नाम रत्नद्वीप था। वहाँ बैठकर वे दोनों कुछ-कुछ स्वस्थ हुए। इतने में ही उसी द्वीप की रहने वाली रत्नद्वीपा देवी जो वहीं उस द्वीप के मध्य भाग में महलों में रहती थी, अपने अवधिज्ञान से उनके आने का पता जानकर हाथ में चमचमाती तलवार लेकर वहाँ आकर बोली—'अगर तुम दोनों मेरे साथ रहकर मेरी भावना की पूर्ति करो तो तुम्हें जीवित रख सकती हूँ' अन्यथा अभी इसी तलवार से तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े करती हूँ। बोलो, क्या कहना है?' उन दोनों ने भयभीत होकर उसकी बात स्वीकार कर ली। उसके साथ भोगोपभोग करते हुए वहाँ रहने लगे।

एक बार रत्नद्वीपा देवी को लवणसमुद्र की सफाई करने का आदेश लवणसमुद्र के स्वामी सुस्थित देव ने दिया। जब देवी वहाँ जाने लगी तब देवी ने उन दोनों से कहा—'आप यहाँ बैठे-बैठे यदि ऊब जाएं, मन उचट जाए तो अपने महल के चारों ओर बगीचे हैं, उनमें घूम आना। पर इतना ध्यान अवश्य रखना कि दक्षिण दिशा के उपवन में नहीं जाना। मैं भी काम निपटाकर जल्दी आने का यत्न करूँगी।'

देवी के चले जाने के बाद इन दोनों के मन में आया—देखें तो सही उस दक्षिण दिशा में क्या है? देवी ने वहाँ जाने को मना क्यों किया है?

मनुष्य की प्रवृत्ति होती है जिसके लिए निषेध किया जाता है, उसे देखने की ही उसे अधिक उत्सुकता हो जाती है। वे दोनों भी दक्षिण दिशा के

उपवन में घुसे। अन्दर घुसते ही मरे हुए साँप के कलेवर की दुर्गन्ध से भी अधिक घिनौनी दुर्गन्ध वहाँ आ रही थी। कुछ आगे बढ़े तो देखा, एक अर्धमृत व्यक्ति शूली पर लटक रहा था। पूछे जाने पर शूली पर लटके व्यक्ति ने आपबीती सुनाते हुए कहा—तुम कहाँ फँस गये? मैं काकंदी का रहने वाला, घोड़ों का व्यापारी हूँ। लवणसमुद्र में जहाज के भंग हो जाने से यहाँ आ गया और इसके जाल में फँस गया। जब इसे तुम मिल गये तो मुझे शूली पर लटका दिया। दूसरा कोई नहीं आता तब तक ही तुम्हारे से प्रेम करती है। दूसरा कोई आते ही इस वधस्थान पर मारकर इस शूली पर तुम्हें लटका देगी।

उसकी बात सुनकर दोनों घबरा उठे। अपने बचाव का रास्ता पूछा, तब वह बोला—पूर्व दिशा के उपवन में सेलक यक्ष का आयतन है। वहाँ जाकर तुम लोग उसे स्तुति द्वारा प्रसन्न करो। वह शायद तुम लोगों की सुरक्षा कर सकता है।

वे दोनों सेलक के आयतन में आये। उसकी पूजा-अर्चना करके उसे प्रसन्न किया। वह घोड़े के रूप में प्रकट होकर बोला—'मेरी पीठ पर तुम दोनों बैठ जाओ। पर ध्यान रखना, वह दुष्टा पीछे आयेगी। तुम्हें फुसलाने को, अपने चंगुल में फँसाने को वह सभी तरह की पैंतरेबाजी करे। यदि मन से किंचित् भी उसके प्रति आकृष्ट हो गए तो मैं वहीं समुद्र में फेंक दूँगा। जो उसके प्रति निस्पृह रहेगा, उसे मैं अवश्य यथोचित स्थान पर पहुँचा दूँगा।'

दोनों उसकी पीठ पर चढ़ गये। सेलक पवन वेग से उड़ने लगा। पीछे से रत्नद्वीपा आयी। जब वे दोनों वहाँ नहीं मिले, तब अपने ज्ञानबल से सारा भेद पाकर उनकी ओर आयी और बहुत-बहुत दीनता दिखाने लगी। खुशामद करती हुई यहाँ तक कहने लगी—एक बार प्रेम-भरी नजर से मेरी ओर देख तो लो। जिनपाल तो बिल्कुल ही अविचल रहा, पर जिनरक्षित थोड़ा-सा मुग्ध हुआ और उसकी ओर झाँकने लगा। बस, फिर क्या था! सेलक ने उसे वहीं समुद्र में फेंक दिया। गिरते हुए जिनरक्षित को रत्नद्वीपा देवी ने हाथ में दबोच लिया। उसे फटकारते हुए आकाश में उछाला और शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके मार दिया।

'जिनपाल' अडिग रहा। सेलक ने उसे सकुशल लाकर 'चम्पापुर' में छोड़

दिया। उसने अपने माता-पिता से मिलकर सारी बात कही। बड़े भाई के वियोग का दिल में दुःख था, पर करे क्या? कुछ समय के बाद उसने जिन-दीक्षा स्वीकार की और आगे मोक्ष को प्राप्त करेगा।

—ज्ञातासूत्र ६

६२. जीर्ण सेठ

विशाला नगरी में रहने वाला एक ऋद्धिसम्पन्न, विवेकवान तथा साधु-संतों का भक्त जिनदत्त नाम का सेठ रहता था। कालान्तर में उसकी सम्पत्ति क्षीण हो गयी तो लोग उसे जीर्ण सेठ कहने लगे। अब वह जीर्ण सेठ के नाम से ही प्रसिद्ध हो गया।

भगवान् महावीर अपनी छद्मावस्था में एक बार विशाला नगरी में चातुर्मासार्थ रहे। जीर्ण बार-बार प्रभु के दर्शन करता और कहता—'प्रभुवर ! कभी मौका हो तो पारणे के दिन भिक्षा का लाभ देकर कृतार्थ करें।' प्रभु ध्यान में रहते, कोई उत्तर नहीं मिलता।

जीर्ण प्रतिदिन यही भावना भाता। यही प्रतीक्षा करता कि प्रभु भिक्षा के लिए सम्भवतः आज पधार जायें, आज तो अवश्य ही पधारेंगे।

यों करते-करते मृगसिर कृष्णा १ दिन आया। जीर्ण प्रतीक्षारत है। वह तीव्र भाव से प्रतीक्षा कर रहा है। प्रभु महावीर भी भिक्षार्थ नगर में पधारे। संयोगवश पूर्ण सेठ के यहाँ पहुँचे। 'पूर्ण' साधु-सन्तों का कोई खास भक्त नहीं था। अपने घर के प्रांगण में एक भिक्षुक को देखकर दासी से कहा—जा, घर में जो कुछ भी हो, इस भिखमंगे को दे दे।

सेठ के कहने से दासी अन्दर गयी। और कुछ तो मिला नहीं, सिर्फ उड़द के बाकुले पड़े थे। वे उसने इस अनूठे भिक्षुक को दे दिये।

भगवान् ने आहार ग्रहण किया। सुपात्र-दान के योग से सहसा वहीं—'अहोदानम्, अहोदानम्' की ध्वनि चारों ओर फूट पड़ी। पाँच दिव्यों की मूसलाधार वर्षा हुई।

दुन्दुभि का नाद ज्योंही जीर्ण के कानों में पड़ा, सहसा चौंका। पता लगा, भगवान् ने पूर्ण सेठ के यहाँ आहार ग्रहण कर लिया है। अपने आपको कोसता हुआ मन-ही-मन सोचने लगा—'मेरे भाग्य ऐसे कहाँ जो अपने हाथों से भगवान् को भिक्षा दे सकूँ।'

सोनैया की वर्षा देखकर लोग दौड़े। पूर्ण भी चौंका। अब उसे यह कहने में संकोच होने लगा कि मैंने भगवान् को बाकुलों की भिक्षा दी है। अहं में अकड़कर लोगों से कहने लगा—'मैंने प्रभु को खीर का दान दिया है।' पर यह रहस्य भी अधिक दिनों तक रहस्य बना नहीं रह सका। विमल नाम के केवली मुनि वहाँ आये। उन्होंने एक प्रश्न के उत्तर में जीर्ण को उत्कृष्ट दान-दाता बताया।

लोगों ने विस्मय के साथ कहा—दान तो पूर्ण ने दिया.....।'

तब केवली मुनि ने सारी बात बताते हुए कहा—यदि थोड़ी देर और जीर्ण सेठ दुन्दुभि का नाद नहीं सुनता तो उसे केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती, वह भावना में इतना तल्लीन हो गया था।

जीर्ण सेठ मात्र दान की भावना के बल पर बारहवें स्वर्ग में गया। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष में जाएगा।

—धर्मरत्नप्रकरण

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

६३. जुट्ठल श्रावक

'जुट्ठल' श्रावक भगवान् 'नेमिनाथ' के समय में 'भद्दिलपुर' नगर में रहने वाला एक धनाढ्य गाथापति था। उसके यहाँ विपुल धन-धान्य था। सोलह कोटि सोनैये व्यापार में, सोलह कोटि सोनैये कृषि में तथा सोलह कोटि सोनैये जमीन में सुरक्षित थे। गायों के सोलह गोकुल थे तथा बत्तीस स्त्रियाँ थीं।

प्रभु नेमिनाथ के उपदेश से उसके मन में वैराग्य जगा। श्रावकधर्म स्वीकार किया। खान-पान का बहुत अधिक संयम किया। चावल, चने की दाल तथा पानी—इन तीन द्रव्यों के उपरान्त उसने सभी खाद्य-पदार्थों का परित्याग कर दिया। आभूषणों में एक मुद्रिका के सिवा सभी आभूषणों का त्याग कर दिया। पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करके बेले-बेले आदि की तपश्चर्या द्वारा अपनी साधना में लीन रहने लगा।

उसकी स्त्रियों ने इसकी साधना, कायिक कृशता और भोगपराङ्मुखता देखकर अपनी ओर आकर्षित करने के अनेक प्रयत्न किये। भोग-प्रार्थना भी की, पर वह अपनी साधना में उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। अपने नियमों में दृढ़ रहा।

स्त्री-संसर्ग न हो इसलिए उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं स्वीकार कर

लीं। दस प्रतिमाओं की साधना पूर्ण कर ली। ग्यारहवीं प्रतिमा के १६ दिन व्यतीत हो गये, तब उसे अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

अवधिज्ञान से उसने देखा—उसको अग्नि का उपसर्ग होने वाला है। उसी उपसर्ग में उसकी मृत्यु होगी। ज्ञान से यों जानकर जुट्ठल अनशन में समाधिस्थ बैठ गया है। इतने में उसकी पत्नियों ने अपने स्वार्थ की पूर्ति न होते देखकर पौषधशाला में अग्नि लगा दी।

पाँच सौ वर्ष के आयुष्य में तीस वर्ष तक श्रावकधर्म का पालन किया। दो महीने के अनशनपर्वूक जुट्ठल श्रावक अग्नि के उस उपसर्ग से मरकर ईशान देवलोक में देव हुआ। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष जायेगा।

—आवश्यक कथा

६४. ढंढण मुनि

'ढंढणकुमार' श्रीकृष्ण की 'ढंढणा' नामक रानी के पुत्र थे। वे भगवान् नेमिनाथ के उपदेश से प्रभावित होकर संसार से विरक्त हो उठे और पिताश्री की आज्ञा लेकर साधु बने। परन्तु पता नहीं कैसा गहन अन्तराय कर्म का बन्धन था कि उन्हें आहार-पानी की प्राप्ति नहीं होती थी। किसी दूसरे साधु के साथ चले जाते तो उन्हें भी नहीं मिलता था।

एक बार ढंढण मुनि ने अभिग्रह कर लिया कि मुझे मेरी लब्धि का आहार मिलेगा तो आहार लूँगा अन्यथा नहीं। भिक्षा के लिए प्रतिदिन जाते, पर आहार का सुयोग नहीं मिलता। छः माह बीत गये। शरीर दुर्बल हो गया।

एक बार ढंढण मुनि भिक्षार्थ गये हुए थे। श्रीकृष्ण ने भगवान् 'नेमिनाथ' से प्रश्न किया—भगवन् ! आपके १८००० साधुओं में कौन-सा मुनि साधना में सर्वश्रेष्ठ है? भगवान नेमिनाथ ने ढंढण मुनि का नाम बताया और उनकी समता की सराहना की तथा कहा कि उसने (ढंढण मुनि ने) अलाभ परीषह को जीत लिया।

श्रीकृष्ण उनके दर्शन करने को उत्सुक हो उठे। भिक्षार्थ भ्रमण करते ढंढण मुनि के दर्शन किये, पुनः-पुनः स्तवना की।

महाराज श्रीकृष्ण को यों स्तवना करते पास वाले मकान में बैठे एक कंदोई ने देखा और सोचा—हो न हो ये पहुँचे हुए साधक हैं, जिनकी श्रीहरि जैसे सम्राट् भी यों स्तवना करते हैं। मुझे इन्हें भोजन देना चाहिए। यों विचारकर

भक्ति-भाव से अपने घर ले गया।

मुनि ने पूछा—तू जानता है मैं किसका शिष्य हूँ? किसका पुत्र हूँ?

कंदोई ने कहा—मुझे कुछ भी पता नहीं है। मैं तो केवल इतना ही जानता हूँ कि आप साधु हैं।

मुनि ने अपनी लब्धि की ही जानकर भिक्षा ले ली। भिक्षा लेकर मुनि भगवान् के पास आये। भगवान् ने रहस्योद्घाटन करते हुए फरमाया—'भद्र ! यह भिक्षा तुम्हारी लब्धि की नहीं, अपितु श्रीकृष्ण की लब्धि की है। अतः यह भिक्षा तेरे अभिग्रह के अनुसार तो तेरे लिए अग्राह्य है।'

ढंढण मुनि फिर भी समाधिस्थ रहे। प्रभु से पूछा—'प्रभो ! मैंने ऐसे कौन से कर्मों का बंधन किया था, जिससे मेरे अन्तराय का उदय रहता है?' भगवान् ने फरमाया—

"तू पूर्वजन्म में मगधदेश के 'पूर्वार्ध' नगर में 'पाराशर' नामक एक सुखी और सम्पन्न किसान था। खेत में छः सौ हल चलते थे। एक बार ऐसा प्रसंग आया—छः सौ हल खेत में चल रहे थे। भोजन के समय सबके लिए भोजन आया। परन्तु तू लालच में फँसकर 'थोड़ा और चलाओ—थोड़ा और' कहकर हल चलवाता रहा। बारह सौ बैल और छः सौ हल चलाने वाले व्यक्ति भूख-प्यास से परेशान थे। तू उन सबके लिए अन्तरायदाता (बाधा) बना। उस कार्य से निकाचित कर्मों का बन्ध हुआ। वे यहाँ उदयावस्था में आये हैं, अतः तुम्हें आहार नहीं मिलता है।"

अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त सुनकर ढंढण मुनि और अधिक संवेग-रस में तल्लीन हो उठे। उन लाये हुए मोदकों का व्युत्सर्ग करने प्रासुक भूमि में गये। एक-एक करके मोदकों को चूरने लगे। मोदकों के साथ-साथ भावना-बल से अपने कर्मों का चूर्ण करके केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष में जा पहुँचे।

—भरतेश्वरवृत्ति

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८

६५. तामली तापस

'तामली' ताम्रलिप्ति नगरी में रहने वाला एक ऋद्धि-सम्पन्न गाथापति था। भरा-पूरा परिवार, नगर में प्रतिष्ठा और सम्मान—कुल मिलाकर वह अपना

सुखी और सफल जीवन व्यतीत कर रहा था।

एक दिन मध्यरात्रि में उसके चिन्तन ने मोड़ लिया। उसने सोचा—पूर्वजन्म में समाचरित शुभ कार्यों के साथ बँधने वाले पुण्यों की परिणतिस्वरूप बल, वैभव, सम्पत्ति आदि सबकुछ यहाँ मिले हैं। मेरे लिए यह समुचित होगा कि मैं इनमें आसक्त न होकर इस जन्म में और भी अधिक साधना करूँ।

यों विचारकर अपने ज्येष्ठ पुत्र को घर का सारा भार सौंपकर स्वयं तापसी दीक्षा स्वीकार कर ली। गेरुए वस्त्र, पैरों में खड़ाऊँ, हाथ में कमण्डल और केशलुंचन करके प्रणामा प्रव्रज्या स्वीकार की और वन की ओर चला गया। बेले-बेले की तपस्या, सूर्य के सम्मुख आतापना लेना आदि घोर तप प्रारम्भ किया, जिसमें कठिनतम कार्य यह किया कि पारणे के दिन पकाए हुए चावलों के अतिरिक्त कुछ नहीं लेना। उन चावलों को भी इक्कीस बार पानी में धोकर खाना। पके हुए चावलों को इक्कीस बार पानी में धोने के कारण बचना तो क्या था—नाममात्र का सत्त्व। फिर उसी आहार से काम चलाना।

यों तामली तापस ने यह तप लम्बे समय तक चालू रखा। इस तप से शरीर अस्थि-कंकाल मात्र रह गया। जब उसे लगने लगा कि अब मेरा शरीर अधिक दिन नहीं टिक सकेगा, तब पादपोपगमन अनशन स्वीकार कर लिया।

उन दिनों उत्तर दिशा के असुरकुमारों की राजधानी बलिचंचा नगरी में कोई इन्द्र नहीं था। पहले वाला इन्द्र च्यवित हो गया था। वहाँ के देव तामली तापस को निदान कराके अपने यहाँ उत्पन्न होने को ललचाये। अत: विशाल रूप में वहाँ आये। हाव-भाव, भक्तियुत विविध नाटकों का प्रदर्शन किया और अपने यहाँ इन्द्ररूप में उत्पन्न होने के लिए निदान करने की भावभीनी प्रार्थना की। परन्तु तामली तापस उनकी प्रार्थना को सुनी-अनसुनी करके निष्काम तप में लीन रहा। देवगण निराश होकर अपने-अपने स्थान पर चले गये। इधर तामली तापस आठ हजार वर्ष की आयु को पूर्ण करके दूसरे स्वर्ग में इन्द्र के रूप में पैदा हुआ।

जब असुरकुमार देवों को यह पता लगा कि 'तामली' तापस यहाँ न आकर दूसरे स्वर्ग में पैदा हुआ है, तब कुपित हो उठे। 'तामली' के शव की भर्त्सना करने पर उतारू हो गये। रस्सी से उसके शव को बाँधकर नगरी में घसीटा, शरीर पर थूका। हमारी बात न मानकर हठी बना हुआ अज्ञान तप से दूसरे स्वर्ग में गया, यों निन्दा करके चले गये।

अब दूसरे स्वर्ग के देवों ने अपने स्वामी के पूर्वजन्म के शव की यों अवमानना देखी तो उनका कुपित होना सहज ही था। अपने स्वामी को यह सम्पूर्ण घटना बताई। ईशानेन्द्र भी कुपित हो उठा। शय्या में लेटे-लेटे ही क्रूर दृष्टि से बलिचंचा नगरी को घूरकर देखने लगा।

फिर क्या था, सारी नगरी अंगारों की तरह सुलगने लगी और सभी झुलसने लगे। सभी देव-देवियाँ भयभीत होकर काँपने लगे। ईशानेन्द्र के क्रोध को शान्त करने की प्रार्थना करने लगे। अपने अकृत्य पर क्षमा चाही और भविष्य में ऐसा कार्य न करने के लिए वचनबद्ध हो गये। ईशानेन्द्र ने अपनी तेजोलेश्या खींच ली, तब से बलिचंचा नगरी के देव ईशानेन्द्र के अधीन रहने लगे और उसकी आज्ञा का पालन करने लगे।

—भगवती श. ३/१

६६. तेतली-पुत्र

'तेतली-पुत्र' 'तेतलीपुर' नगर के महाराज 'कनकरथ' का महाबुद्धिशाली प्रधान था। एक दिन वह अनेक सेवकों के साथ घोड़े पर घूमने गया। रास्ते में एक समुन्नत महल के ऊपर बैठी रूप-लावण्यवती कन्या को देखा। प्रधान का मन उसे पाने को ललचा उठा। खोज करने पर पता लगा कि यह 'कलाद' नामक स्वर्णकार की पत्नी 'भद्रा' की पुत्री है और इसका नाम 'पोट्टिला' है। प्रधान ने उसके साथ पाणिग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। स्वर्णकार ने अपने सम्मान को बढ़ते देखकर अपनी पुत्री 'पोट्टिला' का विवाह प्रधान के साथ कर दिया। प्रधान उसके साथ सानन्द रहने लगा।

राजा 'कनकरथ' में अन्य गुणों के होते हुए भी दो दुर्गुण विशेष थे। एक तो वह कामुक अधिक था। महारानियों के साथ अन्तःपुर में ही अधिक रहता और दूसरे उसको राज्यलिप्सा अधिक थी। वह नहीं चाहता था कि उसका कोई योग्य उत्तराधिकारी उत्पन्न हो जाये, जिसे राज्य देना पड़े। इसी कारण किसी भी रानी के पुत्र होता तो वह उसे अच्छा नहीं लगता। उत्पन्न होने वाले पुत्र को वह अंगहीन कर देता था, जिससे आगे जाकर वह राज्यपद के योग्य न रहे। फलस्वरूप नाक, कान, होंठ, पैर का अंगूठा, हाथ की अंगुली आदि किसी के कुछ, किसी के कुछ अंग काट दिये जाते।

एक बार उसकी रानी पद्मावती गर्भवती हुई। रानी ने सोचा, राजा तो मेरे

इस उत्पन्न होने वाले पुत्र को भी अंगहीन कर देगा, अतः कुछ उपाय सोचना चाहिए। 'तेतलीपुत्र' प्रधान को बुलाकर उसने अपने मन की बात कही। संयोगवश 'पोट्टिला' भी उन दिनों गर्भवती थी। दोनों के साथ ही संतान पैदा हुई। 'पोट्टिला' के मृत पुत्री पैदा हुई और रानी पद्मावती के पुत्र पैदा हुआ। रानी ने अपना पुत्र प्रधान को सौंप दिया। उसकी वह मृत पुत्री अपने पास रख ली। वह राजपुत्र तेतली-पुत्र प्रधान के घर उसके पुत्र के रूप में बड़ा होने लगा। उसका नाम 'कनकध्वज' रखा गया। बड़ा होकर 'कनकध्वज' बहत्तर कलाओं में पारंगत हो गया।

कुछ समय बाद 'पोट्टिला' के ऊपर 'तेतलीपुत्र' का वह प्रेम न रहा, जो कि पहले था। 'पोट्टिला' के हृदय में पति के इस रुख का अत्यधिक अनुताप था। प्रत्येक समय वह आर्त्तध्यान में रहती। उसी समय 'सुव्रता' नामक एक साध्वी भिक्षार्थ वहाँ आयी। 'पोट्टिला' ने साध्वीजी से कहा—आप मुझे कोई वशीकरण मन्त्र बता दीजिए, जिससे मेरे पति मेरे वश में हो जाएं।

साध्वी ने कहा—हम तो संसार से विमुख हैं। तन्त्रमन्त्र के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं कहते हैं। तुम्हारी इच्छा हो तो सर्वज्ञ प्रभु का धर्म स्वीकार करो, जिससे आत्म-शान्ति का अनुभव हो सके।

'पोट्टिला' प्रतिबुद्ध हुई। श्रावकधर्म स्वीकार किया। कुछ समय बाद 'पोट्टिला' दीक्षा लेने को तैयार हुई। पति से आज्ञा माँगी। तेतलीपुत्र ने कहा—मैं आज्ञा दे सकता हूँ पर शर्त यह है, यदि तुम स्वर्ग में जाओ और वहाँ देव बनो तो मुझे आकर प्रतिबोध देना।

पोट्टिला ने यह स्वीकार किया और साध्वी बन गई। अपनी निरतिचार साधना में लीन रहने लगी। अन्त में अनशन कर स्वर्ग में उत्पन्न हुई।

महाराज 'कनकरथ' दिवंगत हो गये। राज्य का अधिकारी कौन हो, इस चिन्ता में सब उलझ गये। 'तेतली प्रधान' ने सारा रहस्य बताकर 'कनकध्वज' को राज्य पद दिलवा दिया। 'कनकध्वज' तेतलीपुत्र का बहुत सम्मान करता था। राज्य सम्मान को पाकर 'तेतलीपुत्र' उत्तरोत्तर वैभव में निमग्न रहने लगा। उस समय 'पोट्टिला' देव का आसन प्रकंपित हुआ। देव ने उसे प्रतिबोध देना चाहा। उसने राजा और प्रधान के मध्य कुछ दुराव पैदा कर दिया।

इस दुराव से क्षुब्ध होकर तेतलीपुत्र ने सोचा—यह अपमानिक जीवन जीने से मरना ही श्रेष्ठ है। यों विचार कर आत्महत्या करने को तैयार हो

गया। तब 'पोट्टिला' देव ने आकर पूछा—सचिव ! बोलो, अगर सामने गहरी खाई हो, पीछे हाथी का भय हो, दोनों ओर अंधकार हो, बीच में घनघोर वर्षा हो, गाँव में अग्नि लगी हुई हो तथा वन में दावानल धधक रहा हो तो ऐसे समय में बुद्धिमान को कहाँ जाना चाहिए?

तेतलीपुत्र ने कहा—ऐसे समय भयभीत मनुष्य को संयम स्वीकार कर लेना चाहिए।

यह सुनकर देव अन्तर्धान होकर अपने स्थान पर चला गया।

चिन्तन करते हुए तेतलीपुत्र को जातिस्मरणज्ञान हो गया। उसने अपना पूर्वभव देखा। पंचमुष्टि लुंचन कर पंच महाव्रत स्वीकार किये। चार घन घाति कर्मों को क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया।

कनकध्वज को जब यह पता लगा, वह चिन्तातुर हो उठा। मुनि को वन्दन कर क्षमा-याचना करने लगा। मुनि ने राजा को प्रतिबोध दिया। अनेक वर्ष तक कैवल्य पर्याय का पालन कर तेतली प्रधान ने सिद्ध गति को प्राप्त किया।

—ज्ञातासूत्र १४

६७. त्रिपृष्ठ वासुदेव

'त्रिपृष्ठ' पोतनपुर के महाराज 'प्रजापति' के पुत्र थे। उनकी माता का नाम मृगावती था। त्रिपृष्ठ 'मरीचि' (आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का पौत्र और चक्रवर्ती भरत का पुत्र) का जीव था, जो अपने सत्ताईसवें भव में भगवान् महावीर के रूप में पैदा हुआ। त्रिपृष्ठ अपने प्रतिद्वन्द्वी 'अश्वग्रीव' नामक प्रतिवासुदेव को मारकर वासुदेव पद पर अभिषिक्त हुआ।

वासुदेव त्रिपृष्ठ को संगीत अधिक प्रिय था। एक दिन राजसभा में एक नाटक का समायोजन था। सारी सभा विस्मित होकर नाटक देख रही थी। त्रिपृष्ठ ने अपने शय्यापालक से कहा—मेरी आँख लग जाए तो नाटक बन्द कर देना।

यह कहकर वह शय्या पर लेट गया। त्रिपृष्ठ को झपकी आ गई। नाटक फिर भी चालू रहा। जब आँख खुली तब नाटक को चालू देखकर वासुदेव क्रोधित हो उठा। शय्यापालक पर बुरी तरह बरसता हुआ बोला—'अच्छा, तेरे कानों को संगीत अधिक प्रिय है? ले. अब उसके मजे चख ले।' यों कहकर गरम-गरम सीसा उसके कानों में डलवा दिया। शय्यापालक बेचारा छटपटाकर

मर गया। त्रिपृष्ठ के यह निकाचित कर्म का बन्ध हुआ।

भगवान् महावीर के भव में वह शय्यापालक एक ग्वाला बना। महावीर के कानों में कीलें डालकर दारुण वेदना दी और अपने पूर्वजन्म के वैर का बदला लिया।

त्रिपृष्ठ वासुदेव तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के समय में चौरासी लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ४

—आवश्यक निर्युक्ति

—विशेषावश्यक भाष्य

—आवश्यक चूर्णि

६८. त्रिशलादेवी

त्रिशलादेवी क्षत्रियकुंड नगर के महाराज सिद्धार्थ की पटरानी थी। वह वैशाली गणतंत्र के महाराज 'चेटक' की बहन थी। नन्दीवर्धन और वर्द्धमान उनके दो पुत्र थे तथा एक पुत्री थी। पार्श्वनाथ भगवान् के शासन में ये श्रावकधर्म का पालन कर रही थी। भगवान् महावीर की अट्ठाईस वर्ष की अवस्था में दिवंगत होकर वह दसवें स्वर्ग में गईं।

—आवश्यक चूर्णि

६९. थावर्चा पुत्र

'थावर्चा पुत्र' 'द्वारिका' नगरी में रहने वाली 'थावर्चा' सेठानी का पुत्र था। युवावस्था में बत्तीस स्त्रियों के साथ कुमार का विवाह किया गया। मौज-शौक से वह जीवन यापन कर रहा था।

महलों में बैठे उसे एक दिन पास वाले घर में मधुर संगीत सुनाई दिया। कर्णप्रिय उन गीतों को सुनकर थावर्चाकुमार हर्षविभोर हो उठा। माँ के पास आकर पूछा—माँ ! ये मधुर संगीत क्यों और किसलिए गाए जा रहे हैं?

माँ ने कहा—अपने पड़ोसी के पुत्र पैदा हुआ है। उसी खुशी में ये मधुर निनाद हो रहा है।

कुमार वापस अपने महलों मे जाने लगा। इतने में कर्णकटु रुदन की ध्वनि सुनाई दी। उसका कारण पूछने पर माँ ने बताया—जो लड़का अभी उत्पन्न

हुआ था वह मर गया है, इसलिए रोना-धोना शुरू हो गया है।

बात के तार उधेड़ते कुमार को पता लगा कि मुझे भी एक दिन मरना पड़ेगा, तब भयाकुल हो उठा। अमरत्व प्रदान करने वाले भगवान् नेमिनाथ ही हैं। वह उनकी शरण में जाने को आतुर हो उठा। भगवान् नेमिनाथ द्वारिका पधारे तब प्रभु का उपदेश सुनकर थावर्चापुत्र संयम लेने को तैयार हो गया। माता ने अपने पुत्र को संसार में रखने के लिए अनेक तर्क दिये, तरह-तरह से समझाया-बुझाया; पर कुमार ने उन सबको काटकर संयमी जीवन की उपयोगिता बताई। माता पराजित हुई। उसे दीक्षा की अनुमति देनी पड़ी।

सेठानी की प्रार्थना पर स्वयं श्रीकृष्ण दीक्षा महोत्सव करने को तैयार हुए। थावर्चापुत्र की दृढ़ता की परीक्षा के लिए श्रीकृष्ण ने उसे समझाया और कहा—'मैं तुम्हारी सब प्रकार से रक्षा करूंगा, तुम संसार में ही रहो।' श्रीकृष्ण के समझाने पर कुमार ने कहा—'यदि आप मेरे जन्म, जरा और मृत्यु को समाप्त कर दें तो मैं भगवान् नेमिनाथ की शरण में न जाकर आपकी शरण में आ सकता हूँ।'

श्रीकृष्ण ने कहा—'यह काम मेरे से तो क्या, देव-दानवों से भी नहीं होने वाला है।'

अन्त में श्रीकृष्ण ने द्वारिका में यह घोषणा करा दी कि जो संयम लेना चाहते हैं वे संयम लें, पीछे वालों की सारी व्यवस्था मैं करूँगा। पंचमुष्टि लोच करके थावर्चापुत्र ने एक हजार पुरुषों के साथ संयम स्वीकार किया।

एक बार 'थावर्चा' अनगार अपने एक हजार शिष्यों सहित जनपद में विहार करते-करते सेलकपुर नगर में आये। उनके उपदेश से प्रभावित होकर वहाँ के महाराज 'सेलक' ने अपने पंथक प्रमुख पाँच सौ मंत्रियों सहित श्रावकधर्म स्वीकार किया।

उस समय शुक नाम का परिव्राजक वहाँ आया हुआ था। 'शुक' परिव्राजक ने सुदर्शन सेठ को 'शुचिमूलक धर्म' का उपदेश देकर प्रतिबुद्ध किया था, पर उसी सुदर्शन सेठ ने थावर्चा अनगार से 'विनयमूलक धर्म' का उपदेश सुनकर उसे स्वीकार कर लिया। इस कारण शुक थावर्चा अनगार के पास आया। दोनों में पर्याप्त संवाद चला पर थावर्चा अनगार की ज्ञान-शक्ति से प्रभावित होकर शुक परिव्राजक अपने एक हजार शिष्यों सहित उनका *शिष्य बन गया। यों अनेक जीवों को प्रतिबुद्ध करते हुए थावर्चा अनगार ने*

केवलज्ञान प्राप्त करके पादपोपगमन अनशन स्वीकार करके मोक्ष पद प्राप्त कर लिया।

'शुक' अनगार अपनी शिष्य-मण्डली सहित विहार करते 'सेलक नगर' में पधारे। वहाँ के महाराज 'सेलक' ने अपने पाँच सौ मंत्रियों सहित संयम स्वीकार किया। एक हजार शिष्यों सहित 'शुक' अनगार ने पुण्डरीक पर्वत पर सिद्ध गति को प्राप्त किया।

अरस आहार से 'सेलक' राजर्षि के कोमल शरीर में अनेक रोगों की उत्पत्ति हो गई। विहार करते वे जब सेलकपुर आये तब उन्हीं के पुत्र 'मंडूक' ने वहाँ रहकर चिकित्सा कराने की प्रार्थना की। राजा की विश्रामशाला में महर्षि विराजे। समुचित चिकित्सा से रोग शांत हो गया। परन्तु सुस्वादु भोजन में आसक्त होकर सेलक राजर्षि आचार-क्रिया में शिथिल हो गये। वहाँ से विहार करने की इच्छा न देखकर पंथक मुनि तो सेवा में रहे, शेष चार सौ निन्यानबे मुनि अन्यत्र विहार कर गये।

एक बार शिथिलाचारी सेलक सुख से सो रहे थे। पंथक मुनि ने चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके 'सेलक' मुनि से क्षमायाचना करने का पैरों में मस्तक दिया। 'सेलक' की नींद खुली। कुपित होकर जगाने का कारण पूछा। पंथक ने विनय से चातुर्मासिक क्षमायाचना की। 'सेलक' अपने प्रमाद को धिक्कारने लगे। संयमी बनकर भी शिथिलाचार में फँसा, इसका भारी अनुताप किया। अपने पापों की आलोचना की। उनके आचार की विशुद्धि सुन छोड़कर गये शिष्यगण भी वापस आ मिले।

अनेक वर्ष तक चारित्रधर्म की परिपालना कर सेलक राजर्षि मोक्ष में विराजमान हुए।

—ज्ञातासूत्र, ५

१००. दत्त वासुदेव

विश्वविख्यात 'वाराणसी' नगरी के स्वामी का नाम था 'अग्निसिंह'। महाराज अग्निसिंह के जयंती और शेषवती नाम की दो रानियाँ थीं। जयंती ने चार स्वप्न देखकर सातवें बलदेव नन्दन को जन्म दिया। कुछ ही समय बाद महारानी शेषवती के उदर से सातवें वासुदेव 'दत्त' का जन्म हुआ। वासुदेव 'दत्त' का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यवन करके आया था।

'दत्त' अपने तीसरे पूर्वभव में शीलपुर नगर के महाराज मंदरधीर का ज्येष्ठ पुत्र 'ललितमित्र' था। ललितमित्र के एक छोटा भाई भी था। महाराज 'मंदरधीर' ने अपने विश्वस्त सचित खल के खलतामय परामर्श पर 'ललितमित्र' को उसके न्यायपूर्ण अधिकार से वंचित करके अपने छोटे राजकुमार को युवराज घोषित कर दिया। 'ललितमित्र' को अत्यधिक दु:ख हुआ। जब उसे यह पता लगा कि यह सारा काम खल की कुटिल चाल से हुआ है, तब अपने आप को सँभाले भी नहीं रख सका। द्वेष का अलाव मन ही मन समेटे राज्य को छोड़कर चला गया और 'घोषसेन' मुनि के पास जाकर प्रव्रजित हो गया। तप में लीन रहकर भी खल के विनाश का निदान कर बैठा। बिना प्रायश्चित, आलोचना और पश्चात्ताप किये 'ललितामुनि' दिवंगत हुए और प्रथम स्वर्ग में गये। वहाँ ले च्यवकर यहाँ 'दत्त' के रूप में आये।

खल भी भवाटवी में भटकता हुआ 'तिलकपुर' नगर में विद्याधरों का राजा बना। इसका नाम प्रह्लाद रखा गया। यह प्रतिवासुदेव बना। महाराज 'अग्निसिंह' भी प्रतिवासुदेव प्रह्लाद के ही अधीन थे।

'प्रह्लाद' को जब राजकुमार 'दत्त' और नन्दन के बढ़ते वर्चस्व का दूत के द्वारा पता चला तब वह चिन्तित हो उठा। उसने उन्हें कुचलना चाहा। अधिशास्ता के नाते अग्निसिंह से उसके गजेन्द्र की याचना की। माँगने से तो भीख भी मुश्किल से मिलती है, तब हाथी कौन देने वाला था? दोनों में युद्ध छिड़ गया। युद्ध-भूमि में दत्त ने प्रह्लाद का प्राणान्त कर अपना बदला ले लिया। देवताओं ने 'दत्त' को सातवाँ वासुदेव घोषित किया।

वासुदेव के पद की उपलब्धि निदान से होती है। अत: ये हिंसानन्दी और परिग्रहानन्दी अधिक होते हैं। दत्त भी ५६,००० वर्ष की सुदीर्घ आयु भोगकर पाँचवी नरक में गया।

'बलभद्र' नंदन संसार से विरक्त होकर 'नंदन मुनि' बन गये। एकावली रत्नावली लघुसिंह-महासिंह निक्रीड़ित तप करके कर्मों की निर्जरा की। केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया। इनकी कुल आयु ६५,००० वर्ष की थी।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ६/५

१०१. दमयन्ती

दमयन्ती विदर्भ देश के कुण्डिनपुर नगर के राजा भीम की पुत्री थी। वह

अत्यन्त रूपवती और गुणवती थी। स्वयंवर में इसने अनेक सुर-नरों को छोड़कर अयोध्यापति राजा नल के गले में वरमाला डाली।

राजा नल का एक छोटा भाई था कूबर। नल पहले तो उसके साथ मनोरंजन के लिए ही जुआ खेलने लगा और उसके बाद जूए में रम ही गया। परिणाम यह हुआ कि सारा राजपाट हार गया। राज्य छोड़कर दमयन्ती के साथ उसे वन में जाना पड़ा।

वन में राजा नल दमयन्ती के कष्ट न देख सका। अत: उसे सोती हुई छोड़ गया। दमयन्ती अकेली रह गई। काफी देर पति के लिए विलाप करती रही। फिर धैर्य धारण किया। यद्यपि राजा नल ने उत्तरीय पर एक श्लोक लिखकर पीहर जाने का संकेत किया था, किन्तु वह पिता के घर न गई। एक पर्वत की गुफा में रहकर ही धर्मध्यान करती रही और पाँच सौ तापसों को सद्धर्म का मार्ग दिखाया।

उसके बाद एक सार्थ के साथ वह अपने मौसा ऋतुपर्ण के यहाँ अचलपुर पहुँची। वहाँ भी इसने अपना परिचय न दिया। वहाँ इसने शील के प्रभाव से एक चोर को मुक्त कराया। तब ऋतुपर्ण राजा को इसका वास्तविक परिचय प्राप्त हो सका।

वहाँ से यह अपने पिता भीम राजा के पास पहुँची। नल को ढूँढने के लिए इसका पुन: स्वयंवर किया गया। वहाँ नल-दमयन्ती का सोलह वर्ष बाद पुनर्मिलन हुआ। (नल का विशेष चरित्र 'नल' राजा कथा ११८ में देखें)।

तदुपरान्त नल-दमयन्ती को साथ लेकर अयोध्या गया और राज्य को पुन: जीता। नल-दमयन्ती सुख से रहने लगे।

कुछ समय तक सुख भोगने के बाद दमयन्ती को वैराग्य हो गया। उसने दीक्षा ग्रहण कर ली और आयु पूर्ण करके देवलोक में गई।

दमयन्ती महासती के रूप में प्रसिद्ध हुई।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८

१०२. दशरथ राजा

राजा दशरथ अयोध्यानरेश महाराज अनरण्य के पुत्र थे। अनरण्य ने अपने मित्र माहिष्मतीनरेश सहस्रांशु के पास दीक्षा ले ली थी। उन्हीं के साथ उनका बड़ा पुत्र अनन्तरथ भी प्रव्रजित हो गया था। अत: अयोध्या का राज्यपद दशरथ को

एक मास की अवस्था में ही प्राप्त हो गया। दशरथ का बचपन का नाम क्षीरकंठ भी था।

युवा होकर दशरथ ने अयोध्या का राज्य बड़ी कुशलता से सँभाला। उनकी प्रशंसा दूर-दूर तक फैल गई। उनका पहला विवाह कुशस्थलपुरनरेश सुकोशल की पुत्री अपराजिता के साथ हुआ। अपराजिता का ही दूसरा नाम कौशल्या था। दूसरा विवाह कमलसंकुलनगर के राजा सुबन्धुतिलक की पुत्री सुमित्रा के साथ हुआ और इसके बाद तीसरा विवाह सुप्रभा नाम की सुन्दरी राजकुमारी के साथ हुआ। राजा दशरथ तीनों रानियों के साथ सुख भोगते हुए शासन संचालन करते रहे।

एक बार लंकेश्वर रावण ने किसी निमित्तज्ञानी से अपनी मृत्यु के बारे में पूछा तो उसने बताया कि मिथिलापति जनक की पुत्री के कारण तेरी मृत्यु अयोध्यापति दशरथ-पुत्र के हाथों होगी।

इस पर रावण के भाई विभीषण ने दशरथ को मारने का संकल्प कर लिया। इस संपूर्ण घटना की सूचना नारदजी ने पहले ही राजा दशरथ और राजा जनक को दे दी। मंत्रियों के परामर्श से राजा दशरथ तो अपने महल से निकलकर वन में चले गये और उनकी शय्या पर मंत्रियों ने एक लेप्यमय पुतला बनवाकर लिटा दिया। रात्रि को विभीषण आया और उस पुतले का सिर काटकर उसने समझा कि दशरथ का प्राणान्त हो गया है। वह खुश होता हुआ वापस चला गया। राजा जनक ने भी इसी युक्ति से अपने प्राणों की रक्षा की।

वन में निकलकर राजा दशरथ उत्तरापथ की ओर चले गये। वहाँ कौतुकमंगलनगर में कैकेयी का स्वयंवर हो रहा था। कैकेयी नगरनरेश राजा शुभमति की पुत्री थी। इसने इनके गले में वरमाला डाल दी। तब हरिवाहन आदि बड़े-बड़े पराक्रमी राजाओं ने इनका विरोध किया। इन्होंने सभी राजाओं को युद्धक्षेत्र में जीत लिया और कैकेयी के साथ वहीं रहने लगे। अन्य रानियों को भी वहीं बुला लिया और सुख से रहने लगे।

इस प्रकार राजा दशरथ की चार रानियाँ थीं—कौशल्या, सुमित्रा, सुप्रभा और कैकेयी। कौशल्या ने श्रीराम को जन्म दिया, सुमित्रा ने लक्ष्मण को, कैकेयी ने भरत को और सुप्रभा ने शत्रुघ्न को। अतः राजा दशरथ के चार रानियों से उत्पन्न चार पुत्र थे। चारों पुत्रों के युवा होने पर राजा दशरथ अयोध्या लौट आये। इसके बाद राम का सीता के साथ विवाह हो गया।

काफी दिनों तक दशरथ राज्य-सुख भोगते रहे। एक बार महामुनि सत्यभूति संघ सहित अयोध्या पधारे। उनके उपदेश से दशरथ को वैराग्य हो गया। उन्होंने राम को राज्य देकर दीक्षा लेने का विचार किया। उनके साथ ही भरत ने भी दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट कर दी। पति और पुत्र का वियोग एक साथ सहने में असमर्थ होकर कैकेयी ने भरत का राजतिलक माँगा। लेकिन भरत सिंहासन पर बैठने को तैयार न हुए। इस समस्या को ह ्ल करने के लिए राम ने वन जाने का निर्णय कर लिया। इनके साथ ही सीताजी और लक्ष्मण भी वन को चले गये।

भरत-कैकेयी आदि राम को वापस लाने गये, लेकिन राम वापस नहीं लौटे। इतना अवश्य हुआ कि राम की आज्ञा मानकर भरत ने शासन-संचालन करना स्वीकार कर लिया।

इस व्यवस्था से संतुष्ट होकर राजा दशरथ ने महामुनि सत्यभूति के पास दीक्षा ग्रहण कर ली और उग्र तप करने लगे। आयु पूर्ण करके उन्होंने सद्गति प्राप्त की।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ७

१०३. दशार्णभद्र

दशार्णभद्र राजा दशार्णभद्रपुर देश का अधिपति था। यह भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसके यह नियम था कि 'भगवान् महावीर आज अमुक स्थान में सुख-साता से विराजमान हैं'—यह संवाद सुनकर ही भोजन करता था।

एक बार भगवान् महावीर 'दशार्णभद्रपुर' में पधारे। राजा ने सोचा कि मैं भगवान् के दर्शन करने ऐसे ऐश्वर्य के साथ जाऊँ जैसे ऐश्वर्य से आज तक कोई न गया हो। उसी के अनुरूप साज-सज्जा से राजा दर्शनार्थ गया। अपने वैभव पर मन-ही-मन इतरा रहा था। अवधिज्ञान से सौधर्मेन्द्र ने राजा के भावों का परिज्ञान किया तो वह राजा का मान भंग करने चल पड़ा। इन्द्र ने अपनी वैक्रियलब्धि से एक बहुत बड़ा हाथी बनाया, जिसके पाँच सौ मुँह थे। प्रत्येक मुँह पर आठ-आठ दन्तशूल, प्रत्येक दन्तशूल पर आठ-आठ विशाल बावड़ियाँ बनाईं। प्रत्येक बावड़ी में लाख पंखुड़ियों वाला कमल का फूल तथा फूल की प्रत्येक पंखुड़ी पर बत्तीस प्रकार के नाटक हो रहे थे। ऐसे हाथी पर सवार होकर इन्द्र महाराज प्रभु के दर्शनार्थ आए।

जब इन्द्र राजा दशार्णभद्र के सामने से जाने लगा तो राजा ने सोचा—इसके सामने मेरी ऋद्धि तो कुछ भी नहीं है।

अपने से अधिक को देखकर व्यक्ति को अपनी सही स्थिति का ज्ञान हो जाता है। हन्त ! हन्त ! मैं व्यर्थ ही इतराया। अब मैं अपने मान की रक्षा कैसे करूँ? सोचा—हो न हो यह सब देवमाया है। उसे परास्त करने और अपना स्वत्व सुरक्षित रखने के लिए प्रभु के पास आकर मुनि बन गया।

यह सामर्थ्य शक्रेन्द्र में कहाँ? उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार की। दशार्णभद्र के पैरों में पड़कर इस अद्‌भुत त्याग की मुक्तकण्ठ से स्तवना करते हुए क्षमा-याचना की। दशार्णभद्र मुनि अपने उत्कट तप के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में पधारे।

—ठाणांग वृत्ति १०

१०४. दामनक

राजगृह में एक धनाढ्य सेठ रहता था। उसका परिवार भी बड़ा था और व्यापार भी काफी विस्तृत था। उसके दामनक नाम का एक ही पुत्र था। जब दामनक आठ वर्ष का हुआ तब सेठ के परिवार में महामारी का प्रकोप हो गया। पड़ोस के लोगों ने सोचा कि इस परिवार के संसर्ग से पूरे नगर में महामारी फैल सकती है। इसलिए उन्होंने रातोंरात सेठ के घर के चारों ओर तीखे काँटों की बाड़ खड़ी कर दी। इस बाड़ के कारण परिवार का कोई सदस्य न निकल सका और पूरा परिवार ही महामारी की चपेट में आ गया।

लेकिन जिसका आयुष्य बाकी होता है, वह किसी-न-किसी तरह बच ही जाता है। आठ वर्ष का दामनक भी किसी प्रकार काँटों की बाड़ में से निकल गया। वह जीवित तो बच गया, लेकिन अनाथ हो गया। अब वह भीख माँगकर खा लेता और सूनी हाट या मन्दिर की दहलीज पर सो जाता।

एक रात कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी और दामनक दुकान के बाहर की सीढ़ी पर पड़ा काँप रहा था। उसी समय सागरदत्त अपनी दुकान पर किसी काम से आया। उसने एक बालक को ठंड से काँपते हुए देखा तो पूछा—तुम कौन हो?

दामनक ने बताया—मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई आश्रय नहीं है।

सेठ सागरदत्त को उस पर दया आ गई। वह उसे अपने घर ले गया।

दामनक को आश्रय मिल गया। वह दिन-भर मेहनत से काम करता। सेठ उसकी मेहनत और ईमानदारी से बहुत खुश था।

सेठ के घर एक दिन दो साधु भिक्षा-हेतु आये। वृद्ध साधु ने दामनक की ओर संकेत करके कहा—इस बालक की तकदीर जल्दी ही पलटने वाली है, यह इस घर का मालिक बन जायेगा।

साधु के ये शब्द सागरदत्त के कान में भी पड़ गये। उसने सोचा—'जब मेरा पुत्र सभी प्रकार से योग्य है तो इसे अपने घर का स्वामी क्यों बनने दूँ? इस काँटे को अभी निकाल देना चाहिए।' यह सोचकर उसने एक चाण्डाल को धन देकर उसके वध का आदेश दिया और कहा कि इसकी आँखें निकालकर मुझे दे देना। चाण्डाल दामनक को वन में ले गया, लेकिन उसके भोले मुख पर अहिंसा के भाव देखकर द्रवित हो गया। उसने उसे मारा नहीं, यह कहकर भगा दिया कि इस नगर में भूलकर भी न आना और सागरदत्त को हरिण-शावक की आँखें लाकर दे दीं।

दामनक वन में चलता हुआ एक गाँव के समीप पहुँचा। वहाँ एक गोपालक गायें चरा रहा था। गोपालक ने उसे अपने पास रख लिया। वह वहाँ घी-दूध-दही खाता, गायें चराता और आनन्द से रहता। उसके अच्छे व्यवहार से सभी गाँव वाले उसे चाहने लगे। अब वह युवक हो चुका था।

एक बार सेठ सागरदत्त उन गोपालकों के गाँव में आया। उसने दामनक का परिचय पूछा। गोपालक ने बताया—अनाथ है, जंगल में भटक रहा था, मैंने अपने पास रख लिया।

सेठ सागरदत्त समझ गया कि चाण्डाल ने इसे मारा नहीं, जीवित ही छोड़ दिया है। अब सेठ ने इसे मारने की दूसरी तरकीब अपनाई। उसने एक पत्र लिखा और गोपालक से कहा—इस पत्र को इस युवक के हाथों मेरे घर भिजवा दो। पत्र गोपनीय है, इसमें एक आवश्यक कार्य के बारे में लिखा है। यह युवक विश्वासी दिखाई देता है, अतः उपयुक्त रहेगा।

दामनक पत्र लेकर चल दिया। नगरी के बाहर एक उद्यान में देव-मन्दिर था। थकान मिटाने के लिए वह वहाँ लेट गया। ठंडी-ठंडी हवा चल रही थी इसलिए उसे गहरी नींद आ गई।

उसी समय सेठ सागरदत्त की पुत्री देव-पूजन के लिए वहाँ आयी। उसका नाम विषा था। उसने जो दामनक को देखा तो उस पर मोहित हो

गई। वह उसे एकटक देखने लगी। दामनक के हाथ में पत्र था। नींद में हाथ ढीला पड़ा तो पत्र जमीन पर गिर गया। विषा ने कुतूहलवश उसे उठा लिया। देखा तो पत्र उसी के पिता के हाथ का लिखा था। उसने पढ़ा। उस पत्र में उसके भाई के लिए लिखा था—स्वागत-सत्कार और भोजन के बाद तुरन्त इस युवक को विष दे देना। इस कार्य में भूल या असावधानी न हो।

विषा तो दामनक पर मोहित हो ही चुकी थी। वह उसे कैसे मर जाने देती ! उसने पास ही पड़ा एक तिनका उठाया और अपनी आँख के काजल से 'विष' के स्थान पर 'विषा' कर दिया। इसके बाद पत्र को वहीं रखकर घर चली आयी।

दामनक ने सेठ सागरदत्त के पुत्र को वह पत्र दिया। पत्र पढ़कर सेठ के पुत्र ने दामनक को ऊपर से नीचे तक देखा, मन-ही-मन पिता के निर्णय की सराहना की और सगे-सम्बन्धियों को प्रीतिभोज देकर विषा का विवाह सबकी साक्षी में दामनक के साथ कर दिया।

सेठ सागरदत्त जब घर लौटकर आया तो यह सब देखकर सिर धुनकर रह गया। लेकिन इतने पर भी उसने अपनी कुचाल न छोड़ी। अबकी बार धन का लालच देकर अपने विश्वस्त सेवकों को दामनक की हत्या करने के लिए तैयार कर लिया। उसने यह नहीं सोचा कि दामनक के मरते ही उसी की पुत्री विधवा हो जायेगी। सेठ के सेवक अब अवसर की तलाश में रहने लगे।

एक दिन दामनक के मित्र के यहाँ कोई नाटक था। उसे देखने दामनक और सागरदत्त का लड़का गया। दामनक का मन नाटक में नहीं लगा। वह उठकर चला आया। तब तक आधी रात हो चुकी थी। घर के दरवाजे बन्द हो चुके थे। दामनक ने आवाज देकर किसी को जगाना उचित नहीं समझा और बाहर पड़ी पुरानी खाट पर लेट गया। लेकिन खाट में खटमल अधिक थे। वे उसे काटने लगे। वह घड़ी-भर भी न सो पाया। उसने सोचा—इससे तो यही अच्छा है कि मैं नाटक देखने में ही रात बिताऊँ और मित्र के यहाँ ही सो जाऊँ। यह सोचकर वह चल दिया और मित्र के यहाँ जा पहुँचा।

इधर नाटक समाप्त करके सेठ सागरदत्त का पुत्र आया और उसी खाट पर सो गया। भ्रमवश सेवकों ने उसे दामनक समझा और तलवार के प्रहार से मौत के घाट उतार दिया।

सुबह जब रहस्य खुला तो सेठ सागरदत्त को बहुत दुःख हुआ। पर अब वह क्या कर सकता था? उसी ने तो अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी थी।

कुछ दिन बाद शोक कम हुआ तो साधु की वाणी को सत्य मानकर सेठ सागरदत्त ने दामनक को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी बना दिया। अब दामनक के दिन सुख से व्यतीत होने लगे। उसकी सब विपत्तियाँ टल गयी थीं।

एक दिन दामनक नाटक देख रहा था। नर्तकों ने मंच पर यह गाथा गायी—

अणुपुंखामावहंतावि अणत्था,
तस्स बहुफला हुंति।
सह दुक्ख कच्छ पुडओ,
जस्स कयंतो वहइ पक्खं॥

अर्थात्—पग-पग पर चाहे जितने अनर्थ और संकट क्यों न आयें, दुःखों की काली घटाएँ क्यों न आयें, पर जिसका भाग्य (कृतांत) अनुकूल है, पक्षधर है—उसको वे सब गुणकारी ही होते हैं।

इस गाथा का चिन्तन करते हुए दामनक को अपना पिछला जन्म याद आ गया। उसने खुश होकर नर्तकों को एक लाख मुद्राएँ इनाम में दीं। नर्तकों ने तीन बार यह गाथा गायी और तीन लाख स्वर्ण मुद्राएं पायीं।

राजा भी वहीं बैठा नाटक देख रहा था। जब उसने दामनक से इस तरह पैसा बहाने का कारण पूछा तो दामनक ने कहा—'इस गाथा को सुनकर मुझे अपने पिछले जन्म की स्मृतियाँ हो आयी हैं।' राजा की जिज्ञासा पर उसने अपना पिछला जन्म सुनाया—

गंगातट पर मछुआरों की बस्ती थी। मैं मछुआरा था। मछलियाँ पकड़ना और उन्हें बेचकर परिवार का पालन करना, यही मेरा कार्य था।

एक बार सर्दी की ऋतु थी। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। मछलियाँ पकड़कर जब संध्याकाल को मैं घर लौट रहा था तो एक वृक्ष के नीचे एक मुनि को ध्यानस्थ देखा। सर्दी से इनका कुछ भी तो बचाव होगा, यह सोचकर मैं मुनि पर अपना जाल डाल आया।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब मैं उनके पास पहुँचा, उन्होंने मुझे अहिंसा का माहात्म्य बताया। मैंने हिंसा न करने का नियम ले लिया। जब मैं मछली

पकड़ने न गया तो मेरी पत्नी मुझ पर नाराज हुई। हिंसा न करने की बात सुनकर तो आग-बबूला ही हो गई। मेरे सगे-सम्बन्धियों ने भी मुझ पर दबाव डाला और जबरदस्ती गंगातट पर ले गये। विवशता में मैंने तीन बार जाल डाला और जब मछलियाँ उसमें आ गईं तो ढीला छोड़ दिया। ढीला छोड़ने से मछलियाँ निकल गईं।

इस प्रकार अहिंसा व्रत में दृढ़ रहने की भावना से मैंने पुनः मनुष्य जन्म पाया और तीन बार सिर पर आयी हुई मौत टल गई।

इसके बाद दामनक ने राजा को अपने इस जीवन का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया। सुनकर सभी श्रोता अहिंसा भावना से प्रभावित हुए। राजा को तो वैराग्य ही हो गया।

दामनक भी अन्त में विरक्त हुआ और संयम-साधना करके स्वर्ग में गया। क्रमशः वह मुक्त होगा।

—आख्यानक मणिकोष, १५
—वर्धमान देशना

१०५. द्विपृष्ठ वासुदेव

'द्वारिका' नगरी के महाराज 'ब्रह्म' के दो रानियाँ थीं—'उमा' और 'सुभद्रा'। 'सुभद्रा' ने चार स्वप्न से सूचित एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम रखा गया 'विजय' जो कि दूसरा बलदेव हुआ। 'उमा' ने भी सात स्वप्न से सूचित एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम 'द्विपृष्ठ' रखा गया। यह दूसरा वासुदेव कहलाया। 'द्विपृष्ठ' कुमार प्राणत (दसवें) स्वर्ग से च्यवकर आया था।

यह देव अपने पूर्वभव में 'साकेतपुर' का स्वामी 'पर्वत' था। इसके पास 'गुणमंजरी' नाम की एक अति सुन्दरी नर्तकी थी। उस नर्तकी की महिमा सुनकर 'विन्धयपुर' नगर का स्वामी 'विन्ध्यशक्ति' उसे लेने को ललचाया। दूत के द्वारा विन्ध्यशक्ति ने नर्तकी की माँग की। माँगने से भला अपनी प्रिय वस्तु कौन किसे देता है? दोनों में युद्ध छिड़ गया। युद्ध में पर्वत की पराजय हुई और वह भाग छूटा। पलायन करने वालों का आश्रय-स्थान अरण्य ही हुआ करता है। लम्बे समय तक पर्वत इधर-उधर भटकता रहा। संयोगवश 'पर्वत' को वन में 'संभवाचार्य' के दर्शन हो गये। उसने उनसे श्रामणी दीक्षा ले ली। उग्र तपःसाधना में लग गया, पर 'विन्ध्यशक्ति' द्वारा किया हुआ अपमान नहीं भूल

सका। वह शत्रुता की गाँठ बँधी-की-बँधी रही। अन्त में 'विन्ध्यशक्ति' से बदला लेने का निदान करके दसवें स्वर्ग में गया।

वह 'विन्ध्यशक्ति' का जीव भी मुनिव्रत धारण करके तप के प्रभाव से मर कर देव हुआ। वहाँ से 'विजयपुर' के महाराज 'श्रीधर' की रानी 'श्रीमती' के यहाँ जन्म लिया। उसका नाम 'तारक' रखा गया। वह प्रतिवासुदेव बना।

अपने प्रतिबोध की भावना से यहाँ द्विपृष्ठ कुमार ने प्रतिवासुदेव तारक से युद्ध करके उसे मार गिराया। स्वयं वासुदेव बना। वासुदेव बना 'द्विपृष्ठ' चाटुकारों (चमचों) के चंगुल में फँसकर उद्धत बन गया। कठोर नियन्त्रण, निर्दयता और नृशंसता के आचरण से उसने नरक गति का बन्ध कर लिया और अपनी चौहत्तर लाख वर्ष का आयु पूर्ण करके नरक गया।

वासुदेव का यों अवसान देखकर 'बलभद्र' विजय शोकाकुल हो उठा। कुछ काल तक शोक-विह्वल रहा। अन्त में आचार्य 'विजयसिंह' के पास संयम लेकर केवलज्ञान प्राप्त करके मुक्त बना।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ४/२

१०६. द्विमुख (प्रत्येकबुद्ध)

पांचाल देश के 'कंपिलपुर' नगर का स्वामी था 'जय'। उसकी महारानी का नाम था 'गुणमाला'। दोनों की ही जैनधर्म में अगाध श्रद्धा थी। एक दिन महाराज 'जय' राजसभा में सिंहासन पर विराजमान थे। इतने में बहुत दूर से फिरता हुआ एक चारण राजसभा में आया और महाराज की स्तुति की। महाराज ने उसे सम्मान देते हुए कहा—'बारहठजी ! आप अनेक देशों में घूमे हैं, अनेकानेक दिव्य वस्तुएं स्थान-स्थान पर देखी हैं। मेरी राजसभा में किसी बात की कमी हो तो वह मुझे बताओ। केवल स्तुति मुझे पसन्द नहीं है।'

बारहठजी ने सारी राजसभा को बहुत पैनी दृष्टि से देखकर कहा—'राजन ! आपकी यह राजसभा सभी तरह से सुन्दर है, फिर भी एक चित्रशाला की कमी खटक रही है। वह यदि आप यहाँ बनवा दें तो राजसभा की शोभा निखर सकती है।' राजा ने चित्रशाला बनवाने के लिए अनेक कारीगरों को बुलवाया। उन लोगों ने कार्य प्रारम्भ किया। नींव खोदने लगे तो जमीन में से रत्नों का एक भव्यतम मुकुट निकला। कारीगरों ने महाराज को सूचित किया। महाराज ने उसे अपने मस्तक पर लगाकर ज्योंही अपना मुख दर्पण में देखा तो उस मुकुट के योग से

दो मुख नजर आये, इसलिए महाराज 'जय' का नाम द्विमुख पड़ गया।

चित्रशाला सांगोपांग तैयार कराई गयी। शुभ मुहूर्त में उसका उद्घाटन-समारोह हुआ। चित्रशाला के मध्य में एक इन्द्रध्वज आरोपित किया गया। अनेकानेक ध्वजाओं में वह इन्द्रध्वज बहुत ही मोहक लग रहा था। समारोह सम्पन्न हुआ। साज-सज्जा की सभी सामग्री यथास्थान रख दी गयी। इन्द्रध्वज वाले लकड़े को भी एक तरफ फेंक दिया गया। अब उसे कौन सँभाले ! एक ओर पड़े उस स्तम्भ पर मिट्टी जमने से वह विरूप-सा लग रहा था। महाराज द्विमुख ने सहसा उसे एक दिन देख लिया। पूछने पर महाराज को बताया गया कि यह वही इन्द्रध्वज वाला स्तम्भ है।

यह सुनकर महाराज की तो भावना ही बदल गयी। चिन्तन चला—यह सारी शोभा पर वस्तुओं से है, सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से है अर्थात् अपने आप में कोई सुन्दरता नहीं है। सारी चमक-दमक उधार ली हुई है। ऐसी मोहकता मुझे नहीं चाहिए। पराये पूतों से कब घर बसा है? अपने आप में ही मुझे लीन हो जाना चाहिए।

यों चिन्तन कर राजा द्विमुख सारे वस्त्राभूषणों को उतारकर पंचमुष्टि लोच करके महामुनि 'द्विमुख' बन गये। अद्भुत संयम और तप की साधना के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पद प्राप्त किया और प्रत्येकबुद्ध कहलाये।

—उत्तराध्ययन वृत्ति, ६/२

१०७. दृढ़प्रहारी

'दृढ़प्रहारी' का जन्म एक ब्राह्मण के घर में हुआ था। उसके पिता धार्मिक और नीति-निपुण व्यक्ति थे। पर उसी नीतिनिष्ठ पिता का पुत्र ऐसा निकला कि मद्यपान, मांस-भक्षण, चोरी, व्यभिचार आदि सातों दुर्व्यसनों में प्रतिपल रत रहता। पिता ने उसे प्यार से समझाया, दुत्कार से समझाया, पर वह नहीं समझा, तब उसे घर से निकाल दिया। वह भी क्रोधित होकर घर से निकल पड़ा। चलते-चलते एक चोर पल्ली में जा पहुँचा। डाका डालने में, लूटने में, किसी को मौत के घाट उतारने में वह वहाँ विशेष कुशल बन गया। उसकी कुशलता से प्रभावित होकर पल्ली-पति ने उसे अपना पुत्र मान लिया। प्रहार करने में दक्ष होने के कारण उसका नाम ही दृढ़प्रहारी रख दिया। धीरे-धीरे वह सारे गिरोह का स्वामी बन गया।

एक दिन उसने अपने साथियों सहित एक बड़ा नगर लूटा। साथियों ने खूब धन बटोरा और अनेक प्राण लूटे। 'दृढ़प्रहारी' एक ब्राह्मण के घर ठहरा हुआ था। ब्राह्मण के यहाँ उस दिन खीर का भोजन था। बच्चे खाने को आतुर हो रहे थे। 'दृढ़प्रहारी' भी वहाँ भोजन के लिए आमन्त्रित था, इसलिए तपाक से खीर के बर्तन के पास जा बैठा। ब्राह्मणी को इसका यों बैठना अखरा। उसने डाँटते हुए कहा—इतनी तो तेरे में समझ होनी चाहिए कि तेरे छू जाने के बाद यह बर्तन हमारे क्या काम आयेगा? इसलिए थोड़ी दूर बैठ। मैं तुझे भोजन अवश्य करा दूँगी।

इतना सुनते ही दृढ़प्रहारी का क्रोध भड़क उठा। आव देखा न ताव, तलवार का प्रहार करके ब्राह्मणी के दो टुकड़े कर दिए। बच्चों और ब्राह्मणी की चिल्लाहट सुनकर पास में बैठा ब्राह्मण जो स्नान कर रहा था, सहायता के लिए दौड़ा। दृढ़प्रहारी ने उसके भी दो टुकड़े कर दिए। ब्राह्मण ज्यों ही गिरा, पास में खड़ी गाय ने अपने स्वामी की यों नृशंस हत्या देखी तो वह भी उधर दौड़ी। उसने भी उससे प्रतिशोध लेना चाहा। दृढ़प्रहारी तलवार चलाने में अभ्यस्त तो था ही, गाय पर तलवार का वार किया और उसके भी दो टुकड़े कर दिए। गाय गर्भवती थी। तड़फड़ाता वह गर्भ भी बाहर निकल आया।

एक ओर ब्राह्मण-ब्राह्मणी के शव के दो-दो टुकड़े पड़े हैं और दूसरी तरफ गाय तथा उसका अकाल-जात बच्चा पड़ा है। उन सबको घूर-घूरकर देख रहा है नर-पिशाच दृढ़प्रहारी !

दृढ़प्रहारी ने पता नहीं कितनी हत्याएं की होंगी। कभी भी उसका दिल नहीं पसीजा, परन्तु आज उस बछड़े की तड़फड़ाहट से उसका दिल पिघल गया, रो उठा। आँखों के सामने अँधेरा छा गया और सिर चक्कर खाने लगा।

आखिर दिल था तो उसका भी मानव का ही। करुणा जाग उठी। आँखें नम हो गयीं। हाथ में खून सनी तलवार थी, पर मन में अनूठी उथल-पुथल थी। दिल रह-रहकर रो रहा था। मन-ही-मन वह अपने आपको धिक्कारने लगा। गाय जैसा निरीह प्राणी भी अपने स्वामी की सुरक्षा को दौड़ सकता है, उसमें भी इतना विवेक है, मैं फिर भी कम्पित न हुआ। छिः-छिः !

यों निर्वेद रस में डूबा साधु बनकर वन की ओर चल पड़ा। वन की ओर बढ़ते ही मन में आया, वहाँ मेरे निर्जरा का क्या प्रसंग आयेगा? जिनका सर्वस्व

मैंने लूटा है, जिनके सम्बन्धियों का वियोग मैंने किया है, वे तो सारे नगर में हैं। यदि मैं वहाँ रहूँ तो वे देखकर अपना प्रतिशोध मुझसे लेंगे। मुझे समता से सारे कष्टों को सहकर निर्जरा करने का अवसर मिलेगा। यों विचार कर नगर के पूर्वद्वार के पास ध्यानस्थ खड़ा हो गया दृढ़प्रहारी।

लोगों ने जब मुनि को मूक बने देखा तो कुपित होना ही था। लगे ताड़ना-तर्जना देने। दृढ़प्रहारी मुनि अपने कर्ज को उतारने का प्रसंग मानकर समता में लीन हो जाते। यों धीरे-धीरे लोगों का क्रोध शांत हुआ। अब लोगों में सहानुभूति जगी। धीरे-धीरे ताड़ना-तर्जना भी बन्द हो गयी। तब मुनि ने अपना द्वार बदल लिया। पश्चिम, दक्षिण और उत्तर के द्वारों पर भी मुनिवर डेढ़-डेढ़ महीना ध्यानस्थ खड़े रहे। छः महीने तक भयंकर यातना को समता से सहा। तस्कर वृत्ति में कुशल थे तो मुनि वृत्ति में भी कुशलता का पूरा-पूरा परिचय दिया। तलवार का प्रहार करने में दक्ष थे तो कर्मों का भार उतारने में भी पराक्रमशील रहे। यों छः महीने के तपश्चरण से सकल कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

—आवश्यक कथा

१०८. देवानन्दा

'देवानन्दा' ब्राह्मणकुण्ड नगर में रहने वाले 'ऋषभदत्त' ब्राह्मण की धर्मपत्नी थी। भगवान् महावीर दसवें स्वर्ग द्वार से च्यवकर ब्राह्मणी के गर्भ में पधारे। 'देवानन्दा' ने चौदह स्वप्न देखे।

तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय कुल के सिवाय किसी अन्य कुल में नहीं होता है। इस बार भगवान् महावीर का जीव ब्राह्मण कुल में आया। यह आश्चर्यजनक घटना थी। जैसे ही इन्द्र को इस बात का पता लगा, उसने हरिणगमैषी देव को गर्भ साहरण का आदेश दिया। इन्द्र के आदेश से हरिणगमैषी देव आया। भगवान् को बयासीवीं रात में साहरण किया और महारानी 'त्रिशला' की कुक्षि में क्षत्रियकुण्ड नगर में लाकर रखा और 'त्रिशला देवी' के उदर में जो पुत्री थी उसे लाकर 'देवानन्दा' के उदर में रखा। उस समय 'देवानन्दा' को ऐसा लगा मानो पहले आये शुभ स्वप्न वापस लौटे जा रहे हैं। 'देवानन्दा' का शोकाकुल होना सहज ही था, पर यह सारा रहस्य गुप्त ही रहा। यह भेद तब खुला, जब भगवान् महावीर केवलज्ञान प्राप्त करके 'ब्राह्मणकुण्ड' नगर में

पधारे। पुत्र-प्रेमवश 'देवानन्दा' के स्तनों से सहसा दूध की धारा छूटी। रोम-रोम पुलकित हो उठा।

यह अद्भुत दृश्य देखकर गौतम स्वामी ने प्रभु से पूछा—भगवन् ! ऐसा क्यों हुआ?

समाधान देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! मैं इसके उदर में बयासी दिन-रात रहा हूँ। यह मेरी माता है। हरिणगमैषी देव के द्वारा मेरा साहरण त्रिशला के यहाँ हुआ।

प्रभु ने सारा वर्णन विस्तृत रूप में बताया। 'देवानन्दा' सुनकर पुलकित हो उठी। 'ऋषभदत्त' और 'देवानन्दा' दोनों ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली और सभी कर्मों का क्षय करके दोनों ही मोक्ष पधारे।

—भगवती ६/३३

१०६. द्रौपदी

'चम्पानगरी' में तीन धनाढ्य ब्राह्मण रहते थे, जिनके नाम थे 'सोम', 'सोमदत्त' और 'सोमभूति'। इनकी तीन पत्नियों के नाम थे क्रमशः 'नागश्री', 'भूतश्री' और 'यक्षश्री'। तीनों भाईयों ने सोचा—हमारा परस्पर प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता रहे इसिलए भोजन हम सब साथ बैठकर किया करें तो अच्छा रहे। अतः यह निर्णय किया कि क्रमशः एक-एक दिन सबके यहाँ भोजन की व्यवस्था हो। वहीं सबका भोजन हो। उसी क्रम में एक दिन नागश्री की बारी थी। उसने विविध भाँति के व्यंजन बनाये। अनेक प्रकार के पकवान, मिष्टान्न आदि के साथ-साथ कई प्रकार के शाक भी थे। भरपूर घृत, मिर्च-मसालों से संयुक्त अलावु (तुम्बी) का साग बनाया। साग बनकर तैयार हो गया। थोड़ा-सा चखा तो पता लगा कि तुम्बी अत्यधिक कड़वी है, मानो जहर हो। नागश्री ने सोचा—यह तो अच्छा ही हुआ कि पहले चख लिया। भोजन में सबको परोस दिया जाता तो बड़ा अनर्थ हो जाता। मेरा उपहास भी होता और निन्दा भी। यही सोचकर उसने उस कड़वी तुम्बी का साग ढककर एक ओर रख दिया तथा दूसरा साग और बनाया। तत्क्षण तैयार करके सबको भोजन करा दिया।

कड़वी तुम्बी के साग को वह कहीं फेंकना चाहती थी। बर्तन खाली करना था। इतने में ही आचार्य धर्मघोष के शिष्य धर्मरुचि अणगार मास-मास का तप करके पारणा लेने के लिए वहाँ आते दिखाई दिये। उन्हें आते

देख नागश्री अत्यन्त प्रसन्न हुई। सोचा, साग को फेंकने के लिए सहज ही गन्दगी की ढेरी (अकुरड़ी) आ गई है। यों विचार कर सारा का सारा साग मुनि के पात्र में डाल दिया। धर्मरुचि मुनि गोचरी लेकर स्थान पर आए, साग से भरा वह पात्र गुरुदेव के सम्मुख रखा। गुरुदेव ने उसकी गन्ध से पहचानकर कहा—वत्स ! यह विष भोजन है। यदि इस आहार को तू करेगा तो प्राण-नाश की आशंका है। इसलिए कहीं शुद्ध भूमि में जाकर इसका परिष्ठापन कर दो।

धर्मरुचि उस पात्र को लेकर वन की ओर बढ़े। विशुद्ध भूमि को देखकर ज्योंही विसर्जन करने लगे तो देखा साग की एक बूंद पर अगणित चीटियाँ आ गईं थीं। सोचा—यह तो अनर्थ हो जाएगा। गुरुदेव ने कहा है कि प्रासुक भूमि में विसर्जन करना तो इसके लिए सबसे प्रासुक भूमि मेरा पेट ही है। यों विचारकर समता में लीन मुनि ने उस सारे शाक का आहार कर लिया। उसकी परिणति होते ही मुनिवर ने अत्यन्त शुद्ध भावों के साथ देह त्याग दिया और सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।

धर्मरुचि अनगार की मृत्यु का भेद ज्योंही नगरवासियों को ज्ञात हुआ, वे नागश्री को धिक्कारने लगे। इधर नागश्री के घरवालों ने भी उसे मुनि की हत्या करने वाली समझकर भर्त्सना करके घर से बाहर निकाल दिया। उसे जहाँ भी कोई मिलता, उसके इस घोर अकृत्य की निन्दा करता, धिक्कारता। अपने यहाँ उसे कोई भी ठहरने नहीं देता। वह बेचारी भटकती रही। उसके शरीर में सोलह महारोग हो गए। महाभयंकर वेदना से पीड़ित होकर मरकर छठी नरक में पैदा हुई।

छठी नरक से निकलकर नरक और तिर्यंच के कई भवों में भटकती हुई चम्पानगरी में सागरदत्त सेठ के यहाँ पुत्री जन्मी। इसका नाम 'सुकुमारिका' रखा गया। जब यह विवाह योग्य हो गई, तब उसी नगर में रहने वाले 'जिनदत्त' सेठ के पुत्र सागर के साथ विवाह हो गया। लेकिन पाप के प्रचुर उदय से 'सुकुमारिका' के शरीर को स्पर्श करने वाले का शरीर जलने लगता। 'सागर' को भी उसके शरीर का स्पर्श अग्नि के समान लगा। वह भयभीत होकर रात्रि में उसे छोड़कर चला गया।

जब उसके पिता 'सागरदत्त' को पता लगा तो वह अपनी पुत्री को घर ले आया और उसे सान्त्वना दी। एक भिखारी को बुलाकर उसे वस्त्राभूषणों

से सजाकर उसके साथ विवाह कर दिया। सुकुमारिका के स्पर्श से जब उसका शरीर भी जलने लगा तब वह भी व्यथित होकर उसे छोड़कर चला गया।

सुकुमारिका दु:खित हो उठी। अपने कर्मों को दोष देती हुई पिता की आज्ञा लेकर साध्वी बन गई। अपनी गुरुणीजी से उसने बेले-बेले तप और आतापना की आज्ञा चाही। गुरुणीजी ने कहा—'नगर के बाहर एकान्त में साध्वी के लिए आतापना लेना उचित नही होता है, अत: समुदाय के स्थान पर रहकर ही साधना करो।' सुकुमारिका ने गुरुणीजी की आज्ञा न मानी और नगर के बाहर उद्यान में आतापना लेने लगी।

एक दिन बगीचे में 'देवदत्ता' नामक वेश्या के साथ पाँच पुरुष क्रीड़ा कर रहे थे। उसे देखकर 'सुकुमारिका' ने निदान कर लिया कि यदि मेरे त्याग-तप का फल हो तो मुझे भी यों पाँच पति मिलें। यह संकल्प कर वह अपने स्थान पर आ गई। वहाँ रहकर वह चारित्र में दोष लगाने लगी। गोपालिका गुरुणी ने उसे टोका भी। तब वह स्वच्छन्द बनकर अन्य स्थान पर रहने लगी। अपने दोष की आलोचना किए बिना ही वहाँ से मृत्यु को प्राप्त होकर प्रथम स्वर्ग में देवी बनी।

वहाँ से 'पांचाल' देश के 'कांपिल्यपुर' नगर के महाराज 'द्रुपद' की रानी 'चूलनी' के उदर में जन्म लिया। इसका नाम 'द्रौपदी' रखा गया। जब द्रौपदी युवा हुई तो राजा ने स्वयंवर मण्डप की समायोजना की। अनेक देशों के महाराज वहाँ उपस्थित हुए। निदान किए होने के कारण द्रौपदी ने पाँचों *पाण्डवों के गले में वरमाला डाल दी। पाँचों के साथ उसका विवाह हो गया। वह उन सबके साथ रहने लगी।*

इसके बाद जब युधिष्ठिर जूए में राजपाट हार गये और इसे भी दाँव पर लगा दिया, तब कौरव सभा में इसे अपमानित होना पड़ा। यह पतियों के साथ-साथ वन-वन भटकी। महाभारत युद्ध में पाण्डवों की विजय के बाद राजरानी बनी और आनन्द से रहने लगी।

एक दिन 'द्रौपदी' के महल में 'नारद' मुनि आए। 'द्रौपदी' ने मुनि का समुचित आदर नहीं किया। नारदजी कुपित हो उठे और प्रतिशोध लेने की ठान ली। पर यहाँ भरतक्षेत्र में श्रीकृष्ण का वर्चस्व था, उनके होते हुए पाण्डवों पर कौन वक्र दृष्टि कर सकता था ! अत: धातकीखण्ड की अमरकंका नगरी के

स्वामी पद्नाभ के पास नारदजी पहुँचे। द्रौपदी का चित्र बनाकर उसे कामान्ध बना दिया। पद्मनाभ ने देवता के सहयोग से द्रौपदी को अपने पास मँगवा लिया। जब द्रौपदी की आँख खुली तब युधिष्ठिर को अपने पास न देखकर विलाप करने लगी। 'पद्मनाभ' ने अपना परिचय दिया। उसे वहाँ से मँगवाने का उद्देश्य बताया। सान्त्वना भी दी। परन्तु वह उसे अपने चंगुल में फँसाने में सफल नहीं हुआ। नारद ने ही श्रीकृष्ण को द्रौपदी का पता बताया। श्रीकृष्ण पाँचों पाण्डवों को लेकर अमरकंका नगरी पहुँचे। पद्मनाभ को परास्त करके उसकी दुर्दशा की और द्रौपदी को वापस ले आए।

द्रौपदी के एक पुत्र हुआ जिसका नाम पाण्डुसेन रखा गया। पाण्डुसेन को राज्यभार सौंपकर पाँचों पाण्डवों और द्रौपदी ने धर्मघोष मुनि के पास दीक्षा ली। द्रौपदी ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। एक मास का अनशन करके पाँचवें स्वर्ग में गई। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष में जाएगी।

—ज्ञातासूत्र, अध्ययन १६

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८

११०. धन्ना अनगार

'धन्ना' अनगार 'काकंदी' नगरी में रहने वाली 'भद्र' सेठानी के पुत्र थे। युवावस्था में कुमार का बत्तीस रूपवान कन्याओं के साथ विवाह कर दिया गया। सभी प्रकार की सुख-सुविधाओं में जीवन यापन हो रहा था।

एक बार भगवान् महावीर 'काकंदी' नगरी में पधारे। प्रभु की देशना सुनकर कुमार प्रतिबुद्ध हुए। माँ की आज्ञा लेकर बत्तीस स्त्रियों का त्याग कर प्रभु के पास धन्ना ने दीक्षा ली। मुनि बनने के बाद प्रभु की आज्ञा लेकर बेले-बेले का तप स्वीकार किया। पारणे के दिन आयंबिल करना अर्थात् दिन में एक बार एक धान और पानी लेना। वह भी ऐसा धान, जिसे भूख से बेहाल भिखारी भी न खाए, बचा-खुचा फेंकने योग्य आहार। इस अरस-विरस आहार से धन्ना का शरीर पूर्णतः कृश हो गया। अस्थि-पिंजर मात्र रह गया। अब न उठने की और न बैठने की शक्ति शरीर में शेष थी। सारी शक्तियाँ क्षीणप्राय हो गई थीं। बोलने में ही नहीं अपितु बोलने का विचार करने में भी उन्हें कष्ट होता था। *केवल जीवनी शक्ति के बल पर ही जी रहे थे।*

एक बार मगधेश श्रेणिक भगवान् महावीर के दर्शनार्थ आया। प्रभु की

देशना सुनी। अपनी जिज्ञासा रखते हुए पूछा—भगवन् ! इन्द्रभूति आदि आपके चौदह हजार साधुओं में कौन साधु दुष्कर साधना करने वाला है? उत्कृष्ट क्रियाकारक कौन है?

भगवान् महावीर ने कहा—'श्रेणिक ! 'धन्ना' अनगार उत्कृष्ट, कठोर और दुर्धर तप करने वाला है।' यों कहकर 'धन्ना' की सारी तपस्या का वर्णन किया। सुनने वाले सारे रोमांचित हो उठे।

श्रेणिक ने 'धन्ना' अनगार के दर्शन किए। 'श्रेणिक' ने भगवान् की कही हुई बात बताकर मुक्त कंठ से स्तुति करते हुए अपने भाग्य की सराहना की।

धन्ना अनगार अपने शरीर को दुर्बल समझकर प्रभु से आज्ञा लेकर विपुलगिरि पर्वत पर गये। अनशन स्वीकार किया। एक मास का अनशन आया। केवल नौ महीने की संयम-साधना में तपस्या के द्वारा सर्वार्थसिद्ध विमान में पैदा हुए। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

—अनुत्तरोपपातिक सूत्र

१११. धन्यकुमार (धनजी)

'प्रतिष्ठानपुर' नगर के निवासी 'धनसार' सेठ के चार पुत्र थे—धनदत्त, धनदेव, धनचन्द्र और धन्यकुमार। यह चौथा लड़का धन्यकुमार धनजी के नाम से अधिक विख्यात हुआ। यह सौभाग्यशाली, प्रतिभावान् तथा सूझ-बूझ का धनी था। बड़े तीन भाई लाला, बाला और काला इन उपनामों से अधिक विख्यात हुए। तीनों ईर्ष्यालु, झगड़ालु और पापात्मा थे। इन तीनों का जब जन्म हुआ तब सेठ 'धनसार' के घर से धन नष्ट होने लगा। घर में दारिद्र्य का वास होने लगा। पर जब 'धनजी' का जन्म हुआ और उनकी नाल गाड़ने के लिए जमीन में गड्ढा खोदा गया, तब जमीन में मोहरों का चरु (घड़ा) निकला। व्यापार में वृद्धि होने लगी। इसलिए इनका नाम धन्यकुमार रखा। पिता का प्रेम भी इस छोटे पुत्र पर सौभागी मानकर अधिक रहता। तीनों बड़े भाई छोटे भाई से ईर्ष्या रखने लगे। पिता ने उन सबको कई बार समझाने का प्रयत्न भी किया, परन्तु सब बेकार गया। भाग्य-परीक्षा के लिए इन तीनों को कई बार धन देकर व्यापार करने के लिए भेजा गया। परन्तु ये सारी पूंजी को ही नष्ट करके आये। धन्यकुमार को जब-जब मौका मिला, तब-तब उसने दुगुना-तिगुना लाभ कमाया। इससे इसका सम्मान और भी बढ़ा। साथ ही तीनों बड़े भाईयों की

ईर्ष्या भी पराकाष्ठा पर जा पहुँची और वे धन्यकुमार को मारने के लिए उतारू हो बैठे। इस बात का जब धन्य को पता लगा, तब वह वहाँ से रात्रि के समय निकल पड़ा। चलते-चलते उज्जयिनी नगरी में पहुँचा। वहाँ अपने प्रतिभा-बल से राजा 'चण्डप्रद्योत' का मन्त्री बन गया। 'धन्यकुमार' के जाने के बाद 'धनसार' के सारे परिवार का धन नष्ट हो गया। 'धनसार' अपनी पत्नी, तीनों पुत्र और तीनों पुत्रवधुओं को लेकर 'प्रतिष्ठानपुर' को छोड़कर चल दिया।

वह सारा काफिला मजदूरी करके अपना पेट पालने के लिए उज्जयिनी नगरी में आ पहुँचा। धन्यकुमार को इनकी दुर्दशा को देखकर मन में काफी दुःख हुआ। अपने महल में उन्हें बुलवा लिया और वे सब आनन्द से रहने लगे। पर आदत में परिवर्तन कब आता है? तीनों भाई वहाँ उसके वैभव देखकर मन-ही-मन जलने लगे। यहाँ तक कि 'धन्यकुमार' की सम्पत्ति में सब हिस्सा माँगने लगे। 'धन्यकुमार' ने अपने हृदय को विशाल बनाया। इस सारे राजसी वैभव को छोड़कर वह रात्रि के समय वहाँ से प्रस्थान कर गया। मार्ग में गंगादेवी ने इसे शील में दृढ़ निष्ठावान् जानकर चिन्तामणि रत्न प्रदान किया। चिन्तामणि रत्न को लेकर 'धन्यकुमार' 'राजगृही' पहुँचा। वहाँ सेठ कुसुमपाल के सूखे बगीचे में विश्राम किया। 'धन्य' के विश्राम करने के कारण और चिन्तामणि के योग से सारा सूखा बगीचा पुनः हरा-भरा हो गया। सेठ ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री 'कुसुमश्री' का विवाह धन्यकुमार के साथ कर दिया।

इसी बीच महाराज 'श्रेणिक' का पट्टहस्ति सेचनक उन्मत्त हो उठा। उस समय 'अभयकुमार' वहाँ नहीं था। वह महाराज 'चण्डप्रद्योत' के यहाँ 'उज्जयिनी' में बन्दी बना हुआ था। अतः महाराज 'श्रेणिक' चिन्तित हो उठे। हाथी नगर में उत्पात मचा रहा था। यह संकट कैसे मिटे—सभी चिन्तित थे। 'धन्यकुमार' ने हाथी को वश में करके संकट मिटा दिया। महाराज ने अपनी पुत्री 'सोमश्री' का विवाह 'धन्यकुमार' के साथ कर दिया। 'धन्यकुमार' राजगृही में राज-जामाता बन गया।

उन्हीं दिनों नगर के एक धनाढ्य सेठ 'गोभद्र' की दुकान पर एक काने व्यक्ति ने आकर सेठ को झाँसा देना चाहा। कहने लगा—'मैंने अपनी आँख आपके पास गिरवी रखी थी, वह मुझे लौटा दीजिए। आप अपनी रकम वापस ले लीजिए।' सेठ भौंचक्का-सा रह गया। राज-जामाता ने उसकी कलई घिसते हुए कहा—'यह दूसरी आँख निकालकर दो। हम उससे तोलकर तुम्हें

तुम्हारी आँख दे देंगे, क्योंकि हमारे यहाँ तो धन्धा ही आँखें गिरवी रखने का है। ऐसे कैसे पता लगेगा कि तुम्हारी आँख कौन-सी है? काना सकपका गया। उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। गोभद्र का सम्मान बचा, धन बचा और सारा संकट टल गया। सेठ ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री 'सुभद्रा' का विवाह 'धन्यकुमार' के साथ कर दिया। तीनों पत्नियों के साथ 'धन्यकुमार' सानन्द रहने लगा।

उधर उज्जियनी-नरेश चण्डप्रद्योत ने उन तीनों भाईयों को इसलिए वहाँ से निकाल दिया कि इन सबके कारण ही मेरा कुशल महामन्त्री यहाँ से गया है। दीन दशा के मारै वे सब घूमते-फिरते 'राजगृही' में आ पहुँचे। 'धन्यकुमार' ने राजसी ठाट-बाट से उन सबको अपने पास रख लिया। भला जब दुर्जन अपनी दुर्जनता नहीं छोड़े तो सज्जन अपनी सज्जनता कैसे छोड़े? यहाँ भी उन सबके कारण ही 'धन्यकुमार' को 'राजगृही' का परित्याग करना पड़ा। वहाँ से चलकर वह 'कौशाम्बी' नगरी में आया। यहाँ महाराज 'शतनीक' के यहाँ रत्नों की सफल परीक्षा करके राजसी सम्मान पाया। राजा ने अपनी पुत्री 'सौभाग्य मंजरी' का विवाह 'धन्यकुमार' के साथ कर दिया और पाँच सौ गाँवों की जागीर दी। 'धनपुर' नगर बसाकर 'धन्यकुमार' वहाँ रहने लगा। पीछे से वह सारा परिवार भी वहाँ मजदूरी करने आ पहुँचा। 'धनपुर' में तालाब की खुदाई हो रही थी। वहाँ वह सारा परिवार खुदाई कार्य करने लगा। 'धन्यकुमार' अभी तक गुप्त था। 'सुभद्रा' छाछ लेने के लिए इसके यहाँ गयी। 'सुभद्रा' को 'धन्यकुमार' ने अपने यहाँ रख लिया। पीछे से सारा परिवार एक-एक करके वहाँ पहुँचा। जब बात का भेद खुला तब चारों तरफ उल्लास छाना ही था। पाँच सौ गाँवों की वह जागीर अपने भाईयों को सौंपकर 'धन्यकुमार' राजगृही की ओर चल पंड़ा। रास्ते में 'लक्ष्मीपुर' नगर में चार अन्य कन्याओं के साथ विवाह किया और फिर राजगृही आ पहुँचा। यों आठ पत्नियों के साथ सानन्द 'धन्यकुमार' रहने लगा।

एक दिन 'धन्यकुमार' स्नान कर रहे थे। आठों ही पत्नियाँ स्नान करा रही थीं। 'सुभद्रा' की आँख से उस समय आँसू की एक बूंद 'धनजी' के शरीर पर पड़ी। 'धन्यकुमार' ने असमय में यों रोने का कारण पूछा। तब 'सुभद्रा' ने कहा—'मेरा भाई 'शालिभद्र' एक-एक पत्नी को छोड़ रहा है। वह साधु बनेगा, अतः मेरा परिवार तो सूना हो जाएगा।' 'धन्यकुमार' ने कहा—'तेरा भाई

तो कायर है, उसको वैराग्य चढ़ा ही नहीं है। यदि वैराग्य चढ़ता तो एक-एक छोड़ने का यह क्या ढोंग?'

सुभद्रा ने कहा—'मेरा भाई तो कायर है। वह मेरी एक-एक भाभी को छोड़ता है और आप आठ-आठ रखते हैं तो यह क्या बहादुरी है? बातें बनाने में तो आप पूरे माहिर हैं। कहना जितना सरल होता है, करना उतना ही कठिन।'

'सुभद्रा' का ताना सुनकर धन्य ने कहा—'आज से तुम सब मेरी बहन हो, मैं तुम्हारा भाई हूँ।'

यों कहकर 'धनजी' शालिभद्र के पास आये। दोनों ही भगवान् महावीर के पास संयमी बने। उत्कट तपः-साधना करने लगे। अपनी साधना के बल पर धनजी ने केवलज्ञान प्राप्त किया। एक मास के अनशन के पश्चात् मोक्ष पहुँचे। 'सुभद्रा' आदि आठों पत्नियों ने भी धनजी के मार्ग का अनुसरण करके संयम का पथ अपनाया और मोक्ष प्राप्त किया।

—स्थानांगवृत्ति, १०

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

११२. धर्मनाथ भगवान्

सारिणी

जन्म-स्थान	रत्नपुर	दीक्षा तिथि	माघ शुक्ला १३
पिता	भानु	केवलज्ञान तिथि	पौष शुक्ला १५
माता	सुव्रता	चारित्र पर्याय	२ ।। लाख वर्ष
जन्मतिथि	माघ शुक्ला ३	निर्वाण तिथि	ज्येष्ठ शुक्ला ५
कुमार अवस्था	२ ।। लाख वर्ष	कुल आयुष्य	१० लाख वर्ष
राज्यकाल	५ लाख वर्ष	चिह्न	वज्र

'धर्मनाथ' रत्नपुर नगर के महाराज 'भानु' की महारानी 'सुव्रता' के उदर में विजयन्त नामक दूसरे अनुत्तर विमान से च्यवकर आये। माता ने चौदह स्वप्न देखे। प्रभु के गर्भ में आते ही माता की धार्मिक भावना अधिक बलवती बनी। माघ शुक्ला तीज को भगवान् का जन्म हुआ। माता की धर्म की भावना के कारण इनका नाम धर्मनाथ रखा गया। यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक राजकन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। वर्षीदान देकर माघ सुदी

त्रयोदशी के दिन बेले के तप में एक हजार राजाओं के साथ प्रभु ने संयम ग्रहण किया। केवल दो वर्ष प्रभु छद्मस्थ रहे। पौष सुदी पूर्णिमा के दिन प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया। तीर्थ की स्थापना की। भगवान् के संघ में 'अरिष्ट' आदि ४३ गणधर थे। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओं का विशाल संघ था। आयु के अन्त में एक सौ आठ मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर ज्येष्ठ सुदी पंचमी के दिन प्रभु मोक्ष पधारे।

ये वर्तमान चौबीसी के पन्द्रहवें तीर्थंकर हैं।

धर्म-परिवार

गणधर	४३	वैक्रियलब्धिधारी	७०००
केवली साधु	४५००	वादलब्धिधारी	२८००
केवली साध्वी	६०००	साधु	६४,०००
मन:पर्यवज्ञानी	४५००	साध्वी	६२,४००
अवधिज्ञानी	३६००	श्रावक	२,०४,०००
पूर्वधर	६००	श्राविका	४,१३,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ४/८

११३. धर्मरुचि तपस्वी

धर्मरुचि नाम के तपस्वी ने एक बार नंद नाम के नाविक-पुत्र की नाव में बैठकर गंगा नदी पार की। अन्य गृहस्थ तो उसे पैसे देकर चले गये, लेकिन तपस्वी के पास पैसे कहाँ थे? नाविक-पुत्र नंद ने उन्हें तपती बालू में खड़ा कर दिया। काफी देर खड़े रहने के बाद भी जब नंद ने उन्हें न जाने दिया, तब धर्मरुचि को भी क्रोध आ गया। उन्होंने उसे अत्यन्त क्रुद्ध (दृष्टि-विषलब्धि) से देखा। नंद उसी समय भस्म हो गया।

आर्त परिणामों से मरकर नंद एक धर्मशाला में गृहगोधा (गोह) बना। धर्मरुचि भी उसी धर्मशाला में आकर ठहरे। पूर्व-वैर के कारण गोह बार-बार उन्हें काटने आती। तपस्वी ने उस पर एक ढेला फेंका। जब वह उससे भी न मरी तब क्रुद्ध दृष्टि से उसे जला डाला।

वहाँ से मरकर गोह मृतगंगा नदी के किनारे हंस बना। शीतऋतु में तपस्वी धर्मरुचि भी भ्रमण करते हुए वहीं आये और ध्यानस्थ खड़े हो गये। पूर्व-वैर के कारण हंस अपने पंखों में नदी का जल भरकर लाता और उन पर बरसाता।

तपस्वी ने उसे भी अपनी क्रोधभरी दृष्टि से भस्म कर दिया।

हंस मरकर अंजनगिरि के वन में सिंह बना। धर्मरुचि तपस्वी किसी सार्थ के साथ अंजनगिरि के वन में से गुजर रहे थे। सिंह की उन पर दृष्टि पड़ी तो उसका पूर्वभव का वैर जागृत हो गया। उसने उन पर झपट्टा मारने का प्रयास किया, लेकिन तपस्वी ने उसे भस्म कर दिया।

सिंह मरकर वाराणसी नगरी में एक ब्राह्मण का पुत्र बना। धर्मरुचि तपस्वी भी भ्रमण करते हुए वाराणसी आये। तपस्वी को देखकर ब्राह्मण-पुत्र क्रोध में भर गया। वह अन्य बालकों के साथ मिलकर तपस्वी को ढेलों से मारने गया। बहुत मना करने पर भी न माना तब तपस्वी धर्मरुचि ने उसे तेजोलब्धि से भस्म कर दिया।

ब्राह्मण-पुत्र ने वाराणसी के राजा के यहाँ जन्म लिया। जब वह युवा हो गया तो राजा ने उसे राज्य सौंपकर दीक्षा ले ली। वह राजा बन गया।

एक बार उसने एक नौका गंगा में तैरती देखी तो मन में ऊहापोह करने लगा। उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसके स्मृति-पटल में उसके छहों पूर्वभव तैर गये। जन्मान्तरीय वैर के स्मरण से उसके हृदय में कंपकंपी मच गयी। इस वैर को समाप्त करने के लिए उसने तपस्वी को खोजने का संकल्प किया और इसके लिए निम्न गाथा बनाई—

गंगाए नाविओं नंदो सभाए घर कोइलो।
हंसो मयंगतीराए सीहो अंजणपव्वए।।
वाराणसीओ वडुओ राया तत्थेव आगओ....

और इसे प्रचारित कराने के साथ उद्घोषणा कराई कि जो इस गाथा के अन्तिम चरण की पूर्ति कर देगा, उसे आधा राज्य पुरस्कार में दिया जायेगा।

लोग इन तीनों पदों को गाने लगे। एक बार धर्मरुचि तपस्वी वाराणसी के उद्यान में आये। एक ग्वाला इन पदों को गा रहा था। तपस्वी को अपनी जीवन की विगत घटनाएं स्मृति-पटल पर तैर गईं। उन्होंने चौथा पद बनाकर इस गाथा की पूर्ति की—

एतेसिं घायओ जो उ सो एत्थेव समागओ।

यह पद-पूर्ति ग्वाले ने राजा को सुनाई। राजा तपस्वी धर्मरुचि के पास आया, उनकी वन्दना की और पूर्वभवों के वैर की क्षमायाचना कर उनको प्रसन्न किया। तपस्वी धर्मरुचि का अन्तःकरण भी निःशल्य हो गया और राजा ने

उनकी देशना से प्रभावित होकर श्रावकधर्म स्वीकार किया।

—धर्मोपदेशमाला, विवरण, कथा १४४

११४. नग्गति

'गान्धार' देश का राजनगर था पुण्ड्रवर्धन। उसके राजा का नाम था 'सिंहरथ'। राजा सिंहरथ एक बार वक्र शिक्षित अश्व पर सवारी करने के कारण जंगल में बहुत दूर भटक गया। जब घोड़ा रुका और राजा उससे नीचे उतरा तो देखा सामने एक ऊँचे पर्वत पर एक सुन्दर राजमहल है। राजा मन-ही-मन कौतूहल लिये उस महल में घुसा। महल भव्य था। चारों ओर साज-सज्जा अच्छी थी, पर था सुनसान। मन-ही-मन विस्मय लिये राजा ज्योंही महल में बढ़ा तो एक रूपवती कन्या ने राजा का स्वागत किया। राजा ने जब उस सुन्दरी का परिचय जानना चाहा तब कन्या ने कहा—'वैताढ्य पर्वत के 'तोरणपुर' नगर के महाराज 'दृढ़शक्ति की मैं पुत्री हूँ। मेरा नाम 'कनकमाला' है। मेरे रूप पर मुग्ध बना एक विद्याधर मुझे वहाँ से यहाँ ले आया। जब मेरे भाई को पता लगा तो वह भी यहाँ आया। दोनों परस्पर भिड़ पड़े और दोनों ने एक-दूसरे को मार गिराया। मैं असहाय बनी यहाँ रह रही हूँ। आपको देखते ही मैं आपके प्रति समर्पित हूँ, आप मुझे स्वीकार कीजिए।'

सिंहरथ ने उसके साथ वहीं गन्धर्व विवाह कर लिया। उसे लेकर विमान में बैठकर अपने राज्य में लौट आया। प्रतिदिन विमान में बैठकर उसके साथ इधर-उधर घूमने जाने लगा। पर्वत पर विशेष रूप से जाता इसलिए सिंहरथ का नाम नग्गति[1] पड़ गया।

नग्गति एक दिन अपने सेवकों के साथ वन-भ्रमण को गया। मार्ग में फल-फूलों से लदा हुआ आम्र वृक्ष देखा। राजा उस पर अतिशय मुग्ध हो उठा और उसे बार-बार देखता रहा। उसने हाथ ऊँचा करके एक गुच्छा तोड़ लिया। उसके पीछे जाने वाले सेवकों ने भी फल-फूल पत्ते तोड़े। पेड़ ठूंठ रह गया। शाम को जब राजा नग्गति वन-विहार से लौटा तो उसी आम्रवृक्ष को सूखा हुआ, फल-फूलों से हीन देखकर चौंका। चिन्तन ने करवट ली। सोचा—यह सारी पौद्गलिक रचना नाशवान है। सरस से सरस दिखने वाली वस्तु भी

---

१. नग्गति—नगगति पहाड़ पर जाने वाला।

कितनी नीरस लगने लग जाती है। यों चिन्तन करते ही उन्हें जाति-स्मरणज्ञान हो गया। वैराग्य जगा, स्वयं के हाथ से पंचमुष्टि लुंचन करके साधु बन गया और प्रत्येकबुद्ध कहलाया।

एक बार करकण्डु, द्विमुख, नमिराज और नग्गति—चारों ही प्रत्येकबुद्ध 'क्षितिप्रतिष्ठित' नगर में आये। वहाँ व्यन्तर देव के मन्दिर के चार द्वार थे। 'करकण्डु' उस मन्दिर में पूर्व द्वार से, 'विमुख' दक्षिण द्वार से, 'नेमि' पश्चिम द्वार से तथा 'नग्गति' उत्तर द्वार से प्रविष्ट हुए। व्यन्तर देव ने यह सोचकर अपना मुँह चारों ओर कर लिया कि साधुओं को पीठ कैसे कर दूँ। 'करकण्डु' खुजली से पीड़ित थे। उन्होंने एक कोमल कण्डूयन लिया और कान को खुजलाया। खुजला लेने के बाद उन्होंने कण्डूयन को एक ओर छिपा लिया। द्विमुख ने यह देख लिया। उन्होंने कहा—'मुनि ! अपना राज्य, राष्ट्र, पुर, अन्त:पुर आदि सब कुछ छोड़कर इस कण्डूयन का संचय क्यों करते हो?' यह सुनते ही 'करकण्डु' के उत्तर देने से पूर्व ही नमि ने कहा—'मुने ! आपके राज्य में आपके अनेक कृत्यकर—आज्ञा पालने वाले थे। उनका कार्य था दण्ड देना और दूसरों का पराभव करना। इस कार्य को छोड़ आप मुनि बने। फिर आज आप दूसरों के दोष क्यों देख रहे हैं?' यह सुन नग्गति ने कहा—'जो मोक्षार्थी हैं, जो आत्ममुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया है, वे दूसरों की गर्हा कैसे करेंगे?' तब करकण्डु ने कहा—'मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त साधु और ब्रह्मचारी यदि अहित का निवारण करते हैं तो वह दोष नहीं है। नमि, द्विमुख और नग्गति ने जो कुछ कहा है, वह अहित-निवारण के लिए है, अत: वह दोष नहीं है।' अन्त में चारों ही मोक्ष में गये।

—उत्तराध्ययन, वृत्ति ६

११५. नमिनाथ भगवान्

सारिणी

जन्म स्थान	मिथिला	दीक्षा तिथि	आषाढ़ कृष्णा ६
पिता	विजयसेन	केवलज्ञान तिथि	मार्गशीर्ष शुक्ला ११
माता	वप्रा	चारित्र पर्याय	२५०० वर्ष
जन्मतिथि	श्रावण वदी ८	निर्वाण तिथि	वैशाख कृष्णा १०

कुमार अवस्था	२५०० वर्ष	कुल आयु	१०००० वर्ष
राज्यकाल	५००० वर्ष	चिह्न	नीलोत्पल

'नमिनाथ' मिथिलानगरी के महाराज 'विजय' की महारानी विप्रा के उदर में दसवें प्राणत देवलोक से च्यवकर आये। प्रभु के गर्भ में आते ही महाराज विजय ने कई दुर्धरों को अपने अधीन बना लिया। वे पैरों में आ झुके। इसलिए अपने पुत्र का नाम नमि रखा। युवावस्था में अनेक रूप.लावण्यवती कन्याओं के साथ इनका विवाह हुआ। वर्षीदान देकर प्रभु ने दीक्षा ली। मात्र नौ महीने छद्मस्थ रहकर प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया। तीर्थ की स्थापना की। अन्त में प्रभु ने एक मास अनशन करके सम्मेदशिखर पर बैशाख बदी १० को मोक्ष प्राप्त किया। ये इक्कीसवें तीर्थंकर हैं।

धर्म-परिवार

गणधर	१७	वादलब्धिधारी	१०००
केवली साधु	१६००	वैक्रियलब्धिधारी	५०००
केवली साध्वी	३२००	साधु	२०,०००
मन:पर्यवज्ञानी	१२६०	साध्वी	४१,०००
अवधिज्ञानी	१६००	श्रावक	१,७०,०००
पूर्वधर	४५०	श्राविका	३,४८,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ७/११

११६. नमिराज

मालव प्रदेश में 'सुदर्शन' नगर का स्वामी था मणिरथ। उसके एक छोटा भाई 'युगबाहु' था। उसकी पत्नी 'मदनरेखा' वास्तव में ही मदन—कामदेव की रेखा ही थी। उसक रूप-लावण्य अनुपम और आकर्षक था।

एक दिन 'मणिरथ' ने दूर से ही मदनरेखा को देख लिया। देखते ही वह कामान्ध बन गया। जैसे-तैसे उसे ललचाने को बेचैन रहने लगा। उसके ध्यान में अपने-आपको भूल बैठा।

अपना रास्ता साफ करने के लिए मणिरथ ने युगबाहु को सीमा के युद्ध में भेज दिया और उसके पीछे मदनरेखा को अपनी ओर आकर्षित करने हेतु तरह-तरह की सामग्री उसके पास भेजने लगा। 'मदनरेखा' को उसकी दुर्बुद्धि की तनिक भी गन्ध नहीं था। वह जेठ को पितातुल्य मानकर उसकी भेजी

सामग्री अपने पास रख लेती।

ज्यों-ज्यों प्रसाधन सामग्री वह अपने पास रखने लगी, त्यों-त्यों 'मणिरथ' उसकी ओर अधिक आकर्षित होने लगा। सत्य ही है, कामी व्यक्ति सभी को अपने ही समान समझता है।

एक दिन मौका देखकर 'मणिरथ' ने दासी के द्वारा स्पष्ट कहला ही दिया। दासी की बात सुनकर सती का सतीत्व फुफकार उठा। दासी की बहुत बुरी दशा करके वापस भेजा। 'मणिरथ' फिर भी नहीं सँभला। सोचा—हो न हो वह किसी तीसरे को बीच में नहीं रखना चाहती है। यों विचार कर एक दिन अकेला ही महलों में चला आया। 'मदनरेखा' ने अपनी सास को आवाज देकर बहुत ही चातुर्य से उसको वापस लौटा दिया। मणिरथ अपनी कामज्वाला को शान्त न कर सका।

जब युगबाहु सीमा के युद्ध में विजयी होकर लौटा तो मणिरथ ने उसे नगर के बाहर उद्यान में रखा। वह रात को भी वहीं रहा। मदनरेखा भी उसके पास पहुँच गई। 'मणिरथ' ने सोचा—आज का अवसर अच्छा है। हाथ में विष-बुझी तलवार लेकर रात्रि के अंधकार में बगीचे में आ पहुँचा। सोये हुए 'युगबाहु' की गर्दन पर प्रहार किया और भाग गया। मरणासन्न 'युगबाहु' को उस समय मदनरेखा ने बहुत धार्मिक सहयोग दिया। अपने दुःख को मानो भूल गई हो। नमस्कार मन्त्र सुनते-सुनते युगबाहु के प्राण-पखेरू उड़ गये। वह स्वर्ग में गया। उधर ज्योंही मणिरथ युगबाहु को मारकर तेजी से दौड़ा, तभी घोड़े के पैर से दब जाने के कारण एक साँप ने उसे काट लिया और मणिरथ मौत के मुँह में जा पहुँचा। वह मरकर नरक में गया।

'मदनरेखा' अपने सतीत्व की रक्षा-हेतु वन में चली गई। जँगल के भयंकर कष्ट सहन करती हुई एक वृक्ष के नीचे पुत्र को जन्म दिया। अपनी साड़ी के एक पल्ले में डालकर उसे वहीं वृक्ष पर लटका दिया और स्वयं देह-शुद्धि-हेतु सरोवर पर गई। संयोगवश वहाँ एक मदोन्मत्त हाथी ने उसे अपनी सूँड में उठा लिया और घुमाकर बहुत दूर आकाश मे उछाल दिया। उसी समय आकाश-मार्ग से जाते मणिप्रभ विद्याधर ने उसे देखा और उसे आकाश में ही लपक लिया। वह भी उसके रूप पर मोहित हो गया। मदनरेखा को जब होश आया तब उसका परिचय जानना चाहा। 'मणिप्रभ' ने कहा—मैं विद्याधर हूँ। मेरे पिताश्री जो मुनि बने हुए हैं, उनके दर्शनार्थ मैं जा रहा हूँ। तेरे रूप पर

मुग्ध हूँ और तुझे अपनी पटरानी बनाने के लिए घर ले जा रहा हूँ।'

'मदनरेखा' ने साहस बटोरा। मणिप्रभ से कहा—मुझे भी पहले अपने पिताश्री के दर्शन तो करा दीजिए।

विद्याधर भी उसे सन्तुष्ट करने अपने पिता के पास ले आया। मुनिवर ने अपने ज्ञानबल से 'मणिप्रभ' की कुत्सित भावना देखकर समयोचित प्रेरणा दी। 'मणिप्रभ' ने 'मदनरेखा' पर बुरी नजर न करने और न सताने का संकल्प लिया।

'मदनरेखा' ने अपना संकट टला देखकर मुनिवर के प्रति आभार व्यक्त किया और विनम्र होकर मुनि से पूछा—गुरुदेव ! जिस बालक को मैं वृक्ष की डाली पर लटकाकर आयी थी, उसका क्या हुआ?

मुनिराज ने अपने ज्ञानबल से सारा घटनाक्रम देखकर कहा—सती ! तेरे पुत्र को वहाँ से मिथिलानरेश 'पद्मरथ' अपने यहाँ ले गया है। उसके कोई पुत्र न होने के कारण ही उसे अपना पुत्र मानकर लालन-पालन कर रहा है। संयोग की बात, तेरे पुत्र के वहाँ पहुँचते ही जो राजा 'पद्मरथ' की आज्ञा स्वीकार नहीं करते थे, वे अब सारे पैरों में नतमस्तक हैं। इसलिए उसका नाम 'नमि' रखा गया है।

मदनरेखा अपने पुत्र को सुखी जानकर संतुष्ट हो गई। इतने में आकाश से एक देव आया। मुनिवर को नमस्कार कर 'मदनरेखा' को भी नमस्कार किया। अपनी दिव्य सम्पत्ति दिखाई।

विद्याधर के पूछने पर मुनि ने बताया—यह इस सती के पति 'युगबाहु' का जीव है। धार्मिक सहयोग देने के कारण सती का आभार मान रहा है।

देवता सती को अपने विमान में बिठाकर ले जाने लगा। 'मणिरथ' की मृत्यु का दुःखद संवाद बताते हुए कहा—अब सुदर्शनपुर का अधिशास्ता तेरा बड़ा पुत्र 'चन्द्रयश' हुआ है। कहो तो तुम्हें वहाँ पहुँचा दूँ?

'मदनरेखा' ने साध्वी बनने की भावना व्यक्त की और कहा—मैं संसार का नाटक देख चुकी हूँ और अधिक देखना नहीं चाहती हूँ। भला जहाँ भाई ही भाई के प्राणों का ग्राहक बन जाता है, एक व्यक्ति एक पर यों मुग्ध हो सकता है, बस उस संसार को दूर से नमस्कार है—यों कहकर साध्वीव्रत स्वीकार कर लिया।

'नमिराज' उधर युवावस्था में पहुँचा। एक हजार स्त्रियों के साथ उसका

विवाह हुआ। 'पद्मरथ' अपना सारा साम्राज्य नमि को सौंपकर स्वयं साधु बन गया।

एक दिन ऐसा प्रसंग आया कि नमिराज का 'सुभद्र' नामक गजराज मदोन्मत्त होकर भाग निकला। वह दौड़ता-दौड़ता 'चन्द्रयश' के यहाँ 'सुदर्शनपुर' में पहुँच गया। चन्द्रयश ने उसे अपने यहाँ बाँध लिया। 'नमिराज' ने जब माँगा तो 'चन्द्रयश' ने स्पष्ट कहलाया कि भीख माँगना क्षत्रिय को शोभा नहीं देता है, क्षत्रियों के तो प्रत्येक वस्तु का आदान-प्रदान तलवार के बल पर ही होता है।

फिर क्या था? दोनों में ठन गई और समरांगण में तलवारें चमकने लगीं। हम दोनों सहोदर भाई हैं, मदनरेखा के आत्मज हैं, यह किसी को पता नहीं है।

भीषण नर-संहार होते देखकर 'मदनरेखा' दोनों को प्रतिबोध देने वहाँ पहुँची। छिपा हुआ सारा पर्दाफाश हुआ। सारा रहस्य स्पष्ट हो चुका था। दोनों भाई परस्पर प्रेम से मिले। 'चन्द्रयश' ने अपने लघु सहोदर 'नमिराज' को अपनी भुजाओं में जकड़ लिया। अपनी व्यर्थ की अकड़ पर अनुताप करता हुआ सुदर्शनपुर का राज्य नमि को सौंपकर स्वयं संयमी बन गया। युद्ध-विराम हो जाने पर साध्वी 'मदनरेखा' अपने स्थान पर वापस लौट आयी।

नमिराज दोनों ही राज्यों का कुशलता से संचालन करने लगा। एकदा नमिराज के शरीर में दाह ज्वर का भीषण प्रकोप हुआ। उसे शान्त करने हेतु रानियाँ मिलकर बावना चन्दन घिसने लगीं। घिसते समय हाथों के हिलने से हाथों की चूड़ियों की ध्वनि 'नमिराज' के कानों को अप्रिय लगने लगी। अतः आवाज को बन्द करने के लिए कहा। महारानियों ने सुहाग के चिह्नस्वरूप एक-एक चूड़ी हाथों में रखकर शेष चूड़ियाँ निकालकर अलग रख दीं। अब आवाज बन्द होनी ही थी। आवाज को बन्द देखकर 'नमिराज' ने कारण जानना चाहा। तब बताया गया कि अकेली चूड़ी कैसे शोर कर सकती है।

यों सुनते ही नमिराज प्रबुद्ध हो उठे। चिन्तन की धारा ही बदल गई। नमिराज सोचने लगे—सारी चूड़ियाँ मिलकर कितना शोर कर रही थीं। अकेली चूड़ी बिल्कुल भी शोर नहीं कर रही है। वास्तव में अकेलेपन में ही सुख है।

ये सारे नौकर-चाकर, धन-वैभव, परिजन, पुरजन, पुत्र, कलत्र आदि का समुदाय ही दु:खदाता है। अकेलेपन में सुख है, दो मिलने पर दु:ख है।

यों विचारकर नमिराज सारी राज्यसम्पत्ति को ठुकराकर चल पड़े। स्त्रियों, नगरजनों का विलाप भी उसके संयम-पथ में बाधक न बन सका। दीक्षा लेने के लिए उत्सुक बने नमि से देवेन्द्र ने आकर प्रश्न किये। राज्य का संरक्षण करना समुचित बताकर संयम न लेने के लिए कहा पर विदेह बने नमिराज ने उन प्रश्नों का समुचित और समयोचित उत्तर देकर देवेन्द्र को सन्तुष्ट किया।

संयमी बनकर उग्र तपस्या के द्वारा कर्मक्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया और सिद्धिस्थान में जा विराजे। ये प्रत्येकबुद्ध कहलाये।

—उत्तराध्ययन वृत्ति, ६

११७. नमि-विनमि

'अयोध्या' के पास रहने वाले आदिनाथ के सामन्त महाराज 'कच्छ' के पुत्र का नाम था 'नमि' और 'महाकच्छ' का पुत्र था 'विनमि'। 'आदिनाथ' प्रभु जब अपना राज्य अपने पुत्र को देकर संयमी बने तब 'नमि-विनमि' कहीं बाहर गए हुए थे। जब लौटकर आये तब अपने पिता कच्छ-महाकच्छ को नहीं देखा। पूछने पर पता चला कि वे दोनों प्रभु के साथ संयमी बन गये हैं। प्रभु ने अपने सभी पुत्रों को राज्य दिया था। नमि-विनमि यह सुनकर बहुत दुखित हुए। आदिनाथ प्रभु के पास आकर राज्य की याचना की। दोनों ही प्रभु की सेवा में लीन रहने लगे।

एक बार नागकुमार देवों का स्वामी धरणेन्द्र प्रभु के दर्शनों के लिए आया। इन्हें प्रभु की सेवा करते देख बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—'प्रभु संयमी बन गये हैं। तुम्हे राज्य चाहिए तो 'भरत' से जाकर माँगो।' उन्होंने कहा—'भरत से क्या राज्य माँगना है, जैसे हम हैं, वैसे वे हैं। हम तो प्रभु के पास ही राज्य लेंगे।' धरणेन्द्र इनका दृढ़ निर्णय सुनकर संतुष्ट हुआ। उसने वैताढ्य पर्वत की दक्षिण-उत्तर श्रेणी का राज्य इन्हें दिया तथा अनेक विद्याएँ भी सिखाईं। ये विद्याधर कहलाये। वैताढ्य गिरि पर दक्षिण श्रेणी और उत्तर श्रेणी में कई नगर बसाए।

जब महाराज भरत दिग्विजय के लिए चले तो मार्ग में नमि-विनमि उनके सामने अड़े। घोर युद्ध हुआ। अन्त में विनमि ने अपनी पुत्री 'सुभद्रा' का विवाह

भरत के साथ कर दिया। यह 'सुभद्रा' ही चक्रवर्ती भरत की 'स्त्री-रत्न' कहलाई। प्रभु के पास नमि-विनमि दोनों भाईयों ने संयम स्वीकार करके मोक्ष प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, १/१

११८. नल राजा

राजकुमार 'नल' अयोध्यापति महाराज 'नैषध' के पुत्र थे। उनका विवाह विदर्भ देश के महाराज 'भीम' की पुत्री दमयन्ती के साथ हुआ। 'दमयन्ती' जब माता के गर्भ में आयी, तब माता ने देव से डरते हुए दन्ती (हाथी) को भागते हुए देखा था, इसलिए पुत्री का नाम दवदन्ती रखा गया। पर इसका प्रसिद्ध नाम दमयन्ती हो गया।

'नैषध' के बाद 'नल' राजसिंहासन पर बैठा। सत्य, न्याय, व्यक्तित्व तथा कर्त्तव्य के बल पर 'नल' ने अच्छी लोकप्रियता प्राप्त की। पर स्वर्णथाल में लोहे की कील के समान 'नल' में जूए का दुर्व्यसन था। नियति का चक्र नल पर इस प्रकार चला कि उसने अपने लघु भाई 'कूबर' के साथ जूआ खेला और उस खेल में 'युधिष्ठिर' की भाँति अपना सारा राज्य हार कर। वन की ओर प्रस्थान किया। पति-परायणा दमयन्ती भी साथ गई। दोनों सन्तानों को उनके ननिहाल भेज दिया गया।

'नल' चाहता था कि 'दमयन्ती' भी अपने पीहर चली जाए और वनवास के कष्टों में व्यर्थ व्यथित न हो, परन्तु दमयन्ती ऐसा करने को तैयार नहीं हुई। वन में साथ-साथ रही। 'दमयन्ती' को ज्यों-ज्यों 'नल' दुःखों से घिरी देखता, त्यों-त्यों उसका हृदय चूर-चूर हो जाता। उसने एक पत्र में विदर्भ देश के मार्ग का संकेत लिखकर उसके आँचल के छोर से बाँध दिया और स्वयं उसे निद्रावस्था में छोड़कर अन्यत्र चला गया। दमयन्ती जब जागी तो 'नल' को पास में न देखकर विलाप करने लगी। इधर-उधर खोजने लगी तो एक दानव उसकी पति के प्रति अनन्य निष्ठा देखकर परम प्रसन्न हुआ और बोला—'बारह वर्ष बाद तुझे तेरा पति सकुशल मिल जायेगा।'

बाद में दमयन्ती अचलपुर में अपनी मौसी के यहाँ अपने को दमयन्ती की दासी बताकर रही। कुछ दिन बाद 'भीम' राजा ने खोज करवाई, तब 'दमयन्ती' प्रकट हो गई और अपने पिता के यहाँ आ गई।

उधर 'नल' आगे बढ़ा। उस समय उसका पिता 'नैषध' जो पाँचवें स्वर्ग में देव बना था, अवधिज्ञान के योग से नल को विपदा में घिरा देखकर वहाँ आया। वन में बाँसों के जलते झुरमुट में सर्प का रूप बनाकर सहायता एवं रक्षा के लिए पुकारने लगा। उसकी वह करुण पुकार सुनकर 'नल' उसे बचाने गया और बचा भी दिया। परन्तु सर्प ने अग्नि से बाहर निकलते ही 'नल' को डंक मारा, जिसके परिणामस्वरूप 'नल' कुबड़ा हो गया। अपने को कुबड़ा बना देखकर नल ने साश्चर्य कहा—'शाबाश, सर्पराज ! आपने उपकार का अच्छा प्रतिफल दिया। मैंने तो तुम्हें बचाया और तुमने मुझे विरूप बना दिया।' 'नल' की बात सुनकर सर्प सहसा अपने को देवरूप में बदलकर बोला—'नल ! मैंने यह सब कुछ तुम्हारी भलाई के लिए किया है। इस रूप में तुम अपने को सुरक्षित रख सकोगे। शत्रु तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेंगे। बारह वर्ष बाद पुनः अयोध्या के स्वामी बन जाओगे। दमयन्ती भी तुम्हें मिल जायेगी। अब यह श्रीफल (नारियल) और यह एक करंडिका (पेटी) लो। तुम अपने आपको जब भी मूल रूप में लाना चाहो, तब इस श्रीफल को फोड़ लेना। इसमें जो वस्त्र निकलें उन्हें पहन लेना। इस करंडिका से एक हार निकलेगा। उसे पहनते ही तुम मुल रूप में आ जाओगे।'

नल ने पिता-देव की दोनों वस्तुएं प्राप्त कर उनका आभार माना। देव अन्तर्ध्यान हो गया।

नल वहाँ से आगे चला। सुंसुमार नगर में पहुँचा। वहाँ 'गजदमनी' विद्या के योग से एक मदोन्मत्त हाथी को वश में किया। इसलिए वहाँ के महाराज 'दधिपर्ण' ने 'नल' को बहुत सम्मान दिया और अपने पास प्रतिष्ठित पद पर रख लिया। उस कुबड़े ने अपने-आपको नल का रसोईयां बताया तथा यह भी कहा कि मैं नल के यहाँ रहने से सूर्यपाक रसवती बनाना भी जानता हूँ।

उधर महाराज भीम ने नल राजा की खोज करने के लिए अनेक प्रयत्न किये। खोज करने पर पता लगा कि महाराज दधिपर्ण के पास 'नल' का एक रसोईयां रह रहा है। वह कुबड़ा है और अपने आपको सूर्यपाक रसवती का जानकार बताता है। दमयन्ती ने सोचा—हो न हो 'नल' वही हैं, पर वह कुबड़ा कैसे हुए? बात का भेद पाने के लिए कुछ व्यक्तियों को एक संकेत देकर उधर

भेजा। उनसे कहा—'सबके सामने यह बात कहना, बात सुनकर जिसकी आँखों में आँसू आ जाएं उसे कह देना कि दमयन्ती के लिए स्वयंवर की रचना की गई है। उसमें आपको आमन्त्रित किया गया है।' उन सेवकों ने महाराज दधिपर्ण के सामने जाकर उस कुबड़े को सुनाकर कहा—"रे नल ! तेरे जैसा निर्दय, क्रूर, पत्थरदिल, सत्त्वहीन और दुरात्मा कौन होगा जो अपनी विश्वस्त और पूर्णतः समर्पित नींद में सोयी हुई पत्नी को एकाकिनी छोड़कर चला गया।"

कुबड़े ने ज्यों ही ये शब्द सुने तो आँखों में आँसू आना स्वाभाविक ही था। अपने आँसू पोंछते हुए उस कुबड़े ने कहा—"यह बात जिसने तुम्हें कही है उससे कह देना कि वह प्राणप्रिय पति के अपराधों को याद करके दिल में रोष न लाए। नल इतना क्रूरहृदय तो नहीं है, पर होनहार के चक्र से यह सब घटित हो गया है, ऐसा लगता है, क्योंकि मैं उनका रसोईयां रहा हूँ। खैर, जो हो गया, उसकी चिन्ता छोड़ो। अब मिलन निकट ही लगता है।"

स्वयंवर का निमन्त्रण सुनकर दधिपर्ण ने कहा—"उसका विवाह तो हो चुका है। फिर दोबारा स्वयंवर क्यों? इसका क्या अर्थ है?" तब सेवकों ने कहा—"महाराज ! नीतिकार कहते हैं—गुम हो जाने पर, मर जाने पर, दीक्षित हो जाने पर, पति क्लीव हो अथवा दुराचारी हो तो कन्या को दूसरी बार विवाह कर लेने में कोई आपत्ति नहीं है?[1] यही सोचकर महाराज ने स्वयंवर मण्डप की रचना की है। बेटी घर में थोड़े ही रह सकती है।"

स्वयंवर का नाम सुनकर कुबड़े का खून खौलने लगा। भला अपनी पत्नी का दूसरा विवाह कौन सहन कर सकता है? दधिपर्ण के साथ 'नल' वहाँ पहुँचा। अपना मूल रूप बनाकर मण्डप में आ गया। दमयन्ती इसमें सफल रही।

व्यक्ति के दिन बदलते हैं तो चारों ओर से बदला करते हैं। 'नल' और 'दमयन्ती' के दुःख के सारे बादल छँट गये। 'कूबर' को परास्त कर उसने 'अयोध्या' पर अपना अधिकार कर लिया।

अन्त में 'नल' ने अपना राज्य पुत्र को सौंपकर दीक्षा ले ली। साधुत्व

---

१. नष्टे मृते प्रव्रजिते, क्लीवे च पतितेपतौ।
पत्या स्वापत्सु नारीणां, पतिरूपो विधीयते।।

—मनस्मृति

पालन कर स्वर्ग में पहुँचा। महासती 'दमयन्ती' ने भी संयम स्वीकार किया और साधुचर्या का पालन कर स्वर्ग में गयी।

दमयन्ती ने सोलह सतियों में महासती के रूप में जैन जगत् में प्रसिद्धि पायी।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८

११६. नारद मुनि

वासुदेव, प्रतिवासुदेव की भाँति नारद भी एक पद है। वे भी नौ होते हैं। प्रत्येक वासुदेव के समय में एक नारद होते हैं। इनके नाम हैं—भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, चतुर्मुख, नवमुख और उन्मुख। इनमें से कई स्वर्ग गये हैं और कई मोक्ष गये हैं।

नारद बाबा पहुँचे हुए होते हैं। एक-दूसरे को उकसाने में, परस्पर कलह लगाने में ये सिद्धहस्त होते हैं। तापस की-सी वेशभूषा होती है इनकी। ब्रह्मचर्य के पक्के होते हैं तथा सत्यवादी भी होते हैं। इसलिए इनकी सब स्थानों में अप्रतिहत गति—बेरोक-टोक सब जगह जा सकते हैं।

प्रमुख रूप में एक नारद वे थे, जिन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम के समय 'कौशल्या' आदि माताओं को सान्तवना देने के लिए लंका में जाकर 'श्रीराम' को अयोध्या लौट आने के लिए कहा तथा राम-लवकुश-युद्ध में हताश बने 'राम' की और 'लक्ष्मण' को सारी बात का भेद बताया। दूसरे नारद वे थे, जिन्होंने पाण्डवों के महलों में द्रौपदी के द्वारा समुचित सम्मान न पाकर द्रौपदी का हरण पद्मनाभ के द्वारा कराया तथा सत्यभामा के द्वारा अपमानित होकर रुक्मिणी की खोज करके श्रीकृष्ण के साथ पाणिग्रहण कराकर 'भामा' का मान भंग किया। इनका नाम कच्छुल नारद भी था। वे वहाँ से स्वर्ग गये और वहाँ से एक भवावतारी होकर मोक्ष जाएंगे।

—आवश्यक कथा

१२०. निम्बक

अम्बऋषि एक सदाचारी ब्राह्मण था। वह उज्जयिनी में रहता था। उसकी स्त्री का नाम मालुगा और पुत्र का नाम निम्बक था। निम्बक अपने नाम के अनुरूप

ही उच्छृंखल, अविनीत और अप्रियवादी था।

अल्प दिनों की बीमारी के बाद मालुगा की मृत्यु हो जाने से अम्बऋषि का मन संसार से उचाट हो गया। वह जिनधर्म का विद्वान् और साधु-श्रमणों का भक्त तो था ही। उसने जिन-दीक्षा ले ली। उसके साथ निम्बक भी दीक्षित हो गया।

अपने उच्छृंखल स्वभाव के कारण निम्बक अन्य सभी श्रमणों को अप्रिय लगने लगा। साधुओं ने और यहाँ तक आचार्यश्री ने भी उसे बहुत समझाया, पर वह न माना। आखिर आचार्य ने उसे संघ से निकाल दिया। पुत्र-स्नेहवश अम्बऋषि भी उसके साथ निकल गया।

अम्बऋषि अपने पुत्र निम्बक के साथ अन्य श्रमण-समूह में गया, लेकिन निम्बक की उच्छृंखलता और अविनीतता के कारण वहाँ से भी निकाल दिया गया। इस तरह वे दोनों पिता-पुत्र कई श्रमण-समूहों में गये, लेकिन उन्हें सभी जगह से निकाल दिया गया।

अब तो अम्बऋषि का दिल टूट गया। निम्बक को लेकर वे एक उद्यान में आये और एक वृक्ष के नीचे बैठकर रोने लगे। पिता को रोते देख निम्बक को हार्दिक पश्चात्ताप हुआ। उसने चरणों में गिरकर क्षमा माँगी और आगे से अपने व्यवहार को सुधारने का वचन दिया।

पिता उसे लेकर पुनः आचार्य के पास गया और विनयपूर्वक संघ में स्थान देने की प्रार्थना की। विश्वास दिलाया—अब निम्बक सामाचारी में ठीक चलेगा।

आचार्य ने कृपा करके उसे दो दिन के लिए स्थान दे दिया। लेकिन अब निम्बक का व्यवहार बदल चुका था। वह विनीत बन चुका था। उसने एक ही दिन में सभी श्रमणों को प्रसन्न कर लिया। आचार्य ने पुनः उसे संघ में सम्मिलित कर लिया।

अविनयी को कहीं भी आश्रय नहीं मिलता, विनयी को ही आश्रय प्राप्त होता है।

—धर्मोपदेशमाला, विवरण, कथा १४२

१२१. निषधकुमार

'निषधकुमार' 'द्वारिका' के महाराज 'श्रीकृष्ण' के ज्येष्ठ भ्राता 'बलभद्र' का पुत्र था। उसकी माता का नाम था 'रेवती'। निषधकुमार युवावस्था में बहत्तर

कलाओं में पारंगत बना। पचास राजकन्याओं के साथ 'निषधकुमार' का विवाह कर दिया गया।

एक बार भगवान् नेमिनाथ द्वारिका पधारे। निषधकुमार ने प्रभु के पास श्रावकधर्म स्वीकार किया। प्रभु की सेवा में बैठा था। 'निषधकुमार' का रूपलावण्य तथा मुख का तेज देखकर प्रभु के ज्येष्ठ गणधर 'वरदत्त' ने भगवान् नेमिनाथ से पूछा—'भगवन् ! 'निषधकुमार' ने ऐसे कौन से पुण्य संचित किये थे, जिससे ऐसा सुन्दर रूप मिला?' प्रभु ने सबके सामने ही वरदत्त मुनि की जिज्ञासा शान्त करते हुए कहा—'वरदत्त ! इसी भरतक्षेत्र के 'रोहिड़' नगर में 'महाबल' नाम का राजा था। उसकी रानी का नाम पद्मा था। उसके 'वीरंगत' नाम का एक पुत्र था। बत्तीस कन्याओं के साथ उसका विवाह किया गया। एकदा उसी रोहिड़ नगर में सिद्धार्थ नाम के धर्माचार्य आये। उनका उपदेश सुनकर वीरंगत विरक्त हुआ। संयम स्वीकार कर उग्र साधना करने लगा। तप के द्वारा जब शरीर अस्थि-कंकाल मात्र रह गया, तब अनशन स्वीकार कर लिया। दो महीने के अनशन की परिपालना करके वीरंगत मुनि पाँचवें स्वर्ग में आया। वहाँ से च्यवकर वह यहाँ आया। तप के प्रभाव से 'निषधकुमार' सबको प्रिय, मनोहर तथा चित्ताकर्षक लगता है।

'वरदत्त' मुनि आदि सभी उपस्थित जन प्रभु की वाणी सुनकर पुलकित हो उठे।

भगवान् ने जनपद में विहार किया। निषधकुमार अपनी श्रावक चर्या में समय लगा रहा था। एक दिन पौषधशाला में पौषध में बैठे इसकी भावना जगी—उन्हें धन्य है जो प्रभु के दर्शन करते हैं, पादस्पर्शन करते हैं। यदि भगवान् द्वारिका के उपवन में पधार जायें तो मैं भी अपना जीवन सफल कर लूँ।

संयोग की बात, प्रातःकाल ही समाचार मिला कि भगवान् 'द्वारिका' के नन्दनवन में विराजे हैं। 'निषधकुमार' ने अपने पौषध को पूरा किया और चार घंटी वाले रथ में बैठकर प्रभु के दर्शनार्थ चल पड़ा। राजकीय साज-सज्जा से प्रभु के दर्शन किये, उपदेश सुना। माता-पिता की आज्ञा लेकर संयमी बन गया। संयमी बनकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। उग्रतम तपःसाधना की। नौ वर्ष तक चारित्र पर्याय का पालन किया। अन्त में इक्कीस दिनों का अनशन करके सर्वार्थसिद्ध विमान में जा पहुँचा। वहाँ से महाविदेहक्षेत्र में मनुष्य-भव

धारण करके संयम लेगा तथा मोक्ष में जायेगा।

—निरयावलिका १/४

१२२. नन्दन बलभद्र

नन्दन बलभद्र वाराणसी नगरी के राजा अग्निसिंह के पुत्र थे। राजा अग्निसिंह के दो रानियाँ थीं—जयन्ती और शेषवती। रानी जयंती ने चार उत्कृष्ट स्वप्न देखकर गर्भ धारण किया। ये स्वप्न बलभद्र के उत्पन्न होने के सूचक थे। रानी जयन्ती के गर्भ में पाँचवें स्वर्ग से च्यवकर मुनि वसुन्धर का जीव आया।

नन्दन बलभद्र ही पूर्वभव में वसुन्धर थे। वसुन्धर जम्बूद्वीप के पूर्व विदेहक्षेत्र की सुसीमा नगरी का राजा था। उसने मुनि सुधर्म से संयम लिया और निरतिचार संयम का पालन कर आयु पूर्ण की और ब्रह्मदेवलोक में देव बने। वहाँ से च्यवकर रानी जयन्ती के गर्भ में आये।

यथासमय पुत्र का जन्म हुआ और उसका नाम नन्दन रखा गया। योग्य समय पर नंदन ७२ कलाओं में निष्णात हो गये।

इनके छोटे भाई, जो रानी शेषवती के अंगजात थे, उनका नाम था दत्त, जो दत्त वासुदेव के नाम से प्रसिद्ध हुए।

नन्दन ने अपने छोटे भाई दत्त वासुदेव के साथ मिलकर प्रतिवासुदेव प्रह्लाद के साथ युद्ध किया।

छोटे भाई दत्त की मृत्यु के बाद कुछ दिनों तक तो ये मोहग्रस्त होने के कारण विवेकशून्य बने रहे और फिर शोक कम होने पर इन्होंने दीक्षा ले ली। अनेक प्रकार के तप करके केवलज्ञान का उपार्जन किया और आयु पूर्ण होने पर मोक्ष पद प्राप्त किया। इनकी कुल आयु ६५००० वर्ष की थी।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ६/५

१२३. नन्दन मणिकार

श्रमण भगवान् 'महावीर' 'राजगृही' के 'गुणशीलक' उद्यान में विराजमान थे। यह सारा वृत्तान्त प्रथम स्वर्ग के दर्दुर नामक देव ने अपने अवधिज्ञान से देखा। सहसा सदलबल प्रभु के दर्शनार्थ आया। अपनी दिव्य ऋद्धि का प्रदर्शन करने के लिए एक दिव्य नाटक समवसरण में दिखाया। नाटक के समाप्त होने पर देव ने प्रभु की वन्दना की और अपने स्थान पर चला गया।

सभी दर्शकों के मन में कौतूहल और विस्मय जगा, तब भगवान् के प्रथम गणधर गौतमी स्वामी ने पूछा—'प्रभु ! यह देव कौन था?'

प्रभु ने अपने प्रिय शिष्यों के सामने सारी बात यों कही—

गौतम—यह इसी 'राजगृही' में रहने वाला 'नन्दन मणिकार' था। नगर में वह प्रतिष्ठित तथा अच्छा ऋद्धिसम्पन्न था। मैं विहार करता हुआ एक बार 'राजगृही' में आया। तब उसने मेरे पास श्रावक धर्म स्वीकार किया और बारह व्रतों की साधना करने लगा। मैं वहाँ से अन्यत्र चला गया। 'नन्दन' सत्संग के अभाव में शनैः-शनैः धर्मविमुख होने लगा। आत्मभाव को भूलकर विभाव में फँसने लगा। सम्यक्त्व से दूर होकर मिथ्यात्व दशा के निकट पहुँच गया। संयोग की बात थी एक बार उसने ग्रीष्म ऋतु में तीन दिन के व्रत सहित पौषध किया। गर्मी की अधिकता से रात को उसे तीव्र प्यास लगी। प्यास के कारण नींद भी उचट गई। करवटें बदलता रहा। नींद और प्यास से बेहाल बना 'नन्दन मणिकार' सोचने लगा—'धन्य है उन्हें जो 'राजगृही' में कुएं, बावड़ी, तालाब आदि जलाशय बनवाते हैं, जिसके जल का उपयोग अनेक व्यक्ति करते हैं। कोई स्नान करता है तो कोई पीता है। यों अनेकानेक व्यक्तियों को जीवन (जल) देकर लोगों के जीवनदाता बनते हैं। मैं भी पौषध पूर्ण करके यहाँ राजा 'श्रेणिक' की आज्ञा लेकर एक सुन्दर बावड़ी बनवाऊँगा, जिसमें सब तरह की सुख-सुविधा लोगों को उपलब्ध हो सके, ऐसी व्यवस्था वहाँ करूँगा।'

दूसरे दिन पौषध करके वह अपनी दैनिक चर्या से निवृत्त हुआ। सुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित होकर 'नन्दन मणिकार' महाराज 'श्रेणिक' के दरबार में उपस्थित हुआ। अच्छा-सा व्यवहार राजा के सामने रखकर अपनी मनोभावना व्यक्त की और बावड़ी बनवाने के लिए आज्ञा लेनी चाही। राजा का आदेश प्राप्त करके नगर के बाहर एक बहुत सुन्दर बावड़ी बनवा दी, जिसे देखकर सभी लोग 'नन्दन' को साधुवाद देने लगे। बावड़ी के चारों कोनों में भोजनशाला, चित्रशाला, चिकित्सालय तथा अलंकारशाला की भी साथ-साथ व्यवस्था की, जिससे सारी सुविधाएं और सभी आमोद-प्रमोद के साधन एक ही स्थान पर उपलब्ध हो सकें। जन-जन के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर 'नन्दन' का मन बाँसों उछलने लग जाता।

भाग्य दशा ने करवट ली। नन्दन के शरीर में सोलह महारोग उत्पन्न हो

गये। अनेक उपचार कराये गये पर सारे बेकार सिद्ध हुए। अन्त में उन रोगों से बुरी तरह पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। मरकर वह उसी नन्दा पुष्करिणी में आसक्त बना हुआ मेंढक के रूप में पैदा हुआ। जब वह मेंढक वहाँ कुछ बड़ा हुआ तब वहाँ स्नान करते, पानी पीते लोगों के मुँह से 'नन्दन मणिकार' के गुणगान करते हुए सुनकर मन में कुछ विचार आया। पूर्व परिचित-से शब्द लगे। चिन्तन करते-करते मेंढक को जाति-स्मरणज्ञान हुआ और उसने अपने पूर्वजन्म को देखा। भगवान् महावीर के द्वारा प्रदत्त बोध तथा उनसे स्वीकृत व्रत याद आये। सम्यक्त्व छोड़कर मिथ्यात्व में फँस जाने पर अनुताप करने लगा। उसी समय मेंढक ने अभिग्रह कर लिया कि मैं दो-दो दिन के व्रत करूँगा तथा पारणे के दिन भी बावड़ी का लोगों के स्नान आदि के द्वारा अचित बना हुआ जल ही ग्रहण करूँगा। यों कठिनतम अभिग्रह करके जीवन यापन करने लगा।

प्रभु ने आगे कहा—मैं एक बार इसी 'राजगृही' में आया। लोगों के मुँह से मेरे आने का संवाद सुनकर वह मेंढक मेरे दर्शनार्थ वहाँ से चल पड़ा। उधर से राजा 'श्रेणिक' अपनी विशाल सेना के साथ दर्शनार्थ आ रहा था। महाराज के घोड़े के पैर से वह मेंढक दब गया। मरणासन्न मेंढक ने एक ओर जाकर अरिहन्त, सिद्ध धर्माचार्य का स्मरण करते हुए अनशन स्वीकार कर लिया। अनशनपर्वूक समाधिमरण प्राप्त करे वह मेंढक प्रथम स्वर्ग में दर्दुर नामक देव हुआ। यह वही देव वहाँ से दर्शनार्थ यहाँ आया तथा अपनी ऋद्धि दिखाकर अपने स्थान की ओर चला गया। यह दर्दुर देव वहाँ से महाविदेह में मनुष्य रूप में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

—ज्ञाताधर्मकथा, १३

१२४. नंदिनीपिता (श्रमणोपासक)

'नंदिनीपिता' 'सावत्थी' नगरी में रहने वाला एक ऋद्धिसम्पन्न गाथापति था। उसके 'अश्विनी' नाम की एक सुशील और गुणवती पत्नी थी। 'नंदिनीपिता' के पास बारह कोटि सोनैये तथा दस-दस हजार गायों के चार गोकुल थे। भगवान् महावीर का वहाँ पदार्पण हुआ। 'नंदिनीपिता' ने प्रबुद्ध होकर श्रावक के बारह व्रत स्वीकार किये। पन्द्रह वर्ष तक श्रावक के व्रतों का निरतिचार पालन करके अपने ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सौंप स्वयं सांसारिक कार्यों से

अलग हो गया। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं धारण करके सभी तरह से आत्माभिमुख होकर जीवन यापन करने लगा। अन्तिम प्रतिमा में जब उसे अपना तन क्षीणप्राय लगने लगा, तब वर्धमान भावों से अनशन स्वीकार कर लिया। उसे एक महीने का अनशन आया। अन्त में अनशनपूर्वक समाधिमरण प्राप्त करके प्रथम स्वर्ग के अरुणाभ विमान में पैदा हुआ। वहाँ से महाविदेह में होकर मोक्ष को प्राप्त करेगा।

—उपासकदशा, अध्ययन ६

१२५. नन्दीवर्धन

'सिंहपुर' नगर के राजा का नाम 'सिंहरथ' और उसके कोतवाल का नाम 'दुर्योधन' था। दुर्योधन बहुत क्रूर, पापात्मा, दुष्ट तथा दुराचारी था। कोतवाल होने के कारण नगर-संरक्षण का भार तो इस पर था ही, अतः प्रत्येक अपराधी से बहुत ही नृशंसता के साथ पेश आता। साधारण-से अपराध पर भी गर्म तांबा, गर्म शीशा, घोड़े-भैंस-बकरी आदि का मूत्र अपराधी को पिलाना उसके बाएं हाथ का खेल था। हथकड़ियाँ, बेड़ियाँ आदि से बाँधना, तलवार, छुरी, भाले आदि से भेदना-पीटना, त्रास देना, तर्जना देना इसका प्रतिदिन का कार्य था। चोर, जुआरी, राजद्रोही, परस्त्री-लम्पट आदि अपराधियों को बहुत निर्ममता से त्रास देता था। यों वर्षों तक जुल्म करने के कारण 'दुर्योधन' ने प्रचुर मात्रा में पापों का संचय किया। ऐसे व्यक्तियों का आयुष्य भी बहुत लम्बा होता है। यहाँ इस दुर्योधन का आयुष्य भी अड़तीस सौ वर्ष का था। वहाँ से मरकर वह छठी नरक में गया।

छठी नरक से निकलकर वह 'दुर्योधन' का जीव मथुरा नगरी के महाराज श्रीदास की महारानी 'बन्धुश्री' का पुत्र हुआ। इसका नाम नन्दीवर्धन रखा गया। कुमार नन्दीवर्धन बड़ा होकर कामासक्त बना। महलों में ही अधिक रहने लगा। एक दिन उस दुष्टात्मा ने सोचा—यदि मैं शीघ्र राजा बन जाऊँ तभी ही जीवन तथा यौवन का भरपूर आनन्द उठा सकता हूँ, पर पिताजी के जीवित रहते हुए मुझे राज्य कैसे प्राप्त हो सकता है? यह सोचकर महाराज को मारने का मन-ही-मन षड्यन्त्र रच लिया। राजा की हजामत बनाने वाले नाई को आधा राज्य देने का प्रलोभन देकर राजा को मारने के लिए तैयार कर लिया। हजामत करते-करते जब नाई गला काटने को उद्यत हुआ तब उसका हाथ काँप उठा।

सोचा—यदि महाराज उस्तरे से नहीं मरे तो मेरी कितनी दुर्दशा होगी? यह सोचकर भयभीत हो उठा। महाराज के पैरों में गिरकर सारी सच-सच घटना आदि से अन्त तक बता दी।

राजा अपने पुत्र की यह काली करतूत सुनकर कुपित हो उठा। सहसा उसे पकड़वाकर अपने पास बुलवाया। कटु शब्दों में फटकारते हुए सबके सामने उसकी काली करतूतें बताईं। कुमार को गर्म कराए हुए लौह-सिंहासन पर बिठाया। गर्म शीशा, तांबा और तेल यह कहकर छिड़कवाया कि राज्याभिषेक जो करना है। लोहे का हार और मुकुट उसे पहनाया, क्योंकि महाराज बनना चाहता था न ! मुकुट के बिना महाराज कैसा?

नन्दीवर्धन लाचार-असहाय बना बुरी तरह रोने-छटपटाने लगा, परन्तु अब क्या हो सकता था? यह तो स्वयं उसके किए पाप-कर्मों का परिणाम था। बुरी तरह से मरकर प्रथम नरक में गया। वहाँ से अनन्त काल तक संसार में भ्रमण करता हुआ अन्त में मुक्त होगा।

—विपाक सूत्र, ६

१२६. नंदीषेणकुमार

नंदीषेणकुमार राजगृही के महाराज 'श्रेणिक' के पुत्र थे। भगवान 'महावीर' का उपदेश सुनकर कुमार विरक्त हो गया। जब साधु बनने को तैयार हुआ, तब देववाणी हुई—'नंदीषेण, तुम्हारे अभी भोगावली कर्म अवशेष हैं, इसलिए तुम अभी अनगार मत बनो।' 'नंदीषेण' ने बड़े साहस के साथ कहा—'क्या मैं इतना कायर और सत्त्वहीन हूँ? सभी भोग्यकर्मों को तप-संयम के द्वारा क्षय कर दूँगा, पर संयम अवश्य लूँगा। मेरी साधना में कोई बाधक नहीं बन सकता।' यों कहकर दीक्षा ले ली और विविध भाँति की तपःसाधना में तल्लीन हो गये। तप के प्रभाव से अनेक सिद्धियाँ अर्जित कर लीं।

एक दिन वे भिक्षार्थ गये। संयोगवश एक वेश्या के घर पहुँच गये। भिक्षा का योग पूछा तब कटाक्ष फेंकती वेश्या ने कहा—'यदि पास में कुछ है तो योग बहुत है। भूखे फकीरों के लिए यहाँ कुछ भी नहीं है।'

वेश्या का व्यंग्य सुनकर मुनि का अहं भभक उठा—इसने मुझे पहचाना ही नहीं और मुझे भिखमंगा समझ लिया। फिर क्या था? अपने लब्धि-बल का उन्होंने प्रयोग किया और धन का ढेर लग गया। मुनि ने घूरकर उस

वेश्या की ओर देखा और जाने लगे। वेश्या भी इन बातों में विशेष दक्ष थी। आगे आकर बोली—'उठाइये अपना धन, मुझे मुफ्त का धन नहीं चाहिए। मेरे साथ रहकर कुछ देना चाहो तो सादर आमंत्रित हो, अन्यथा मैं इस हराम के धन का क्या करूँ?'

वेश्या के दो-चार वाक्य-बाण और नयन-बाणों से ही मुनि फिसल गये। साधु वेश को तिलांजलि दे दी, पर मन में सात्त्विक ग्लानि अवश्य थी। सोच रहे थे—मैं राजपाट छोड़कर साधु बना। कहाँ फँस गया। पर करें क्या? वेश्या के यहाँ रहे तो सही, पर मन में संकोच अवश्य था। उस उदासी को मिटाने के लिए एक संकल्प कर लिया कि मैं प्रतिदिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर ही अन्न-जल ग्रहण करूँगा। इस दुष्कर प्रतिज्ञा को कई वर्ष हो गये।

एक दिन नौ व्यक्ति तो समझ गये, पर दसवाँ स्वर्णकार मिला। उसे जब प्रतिबोध देने लगे, तब व्यंग्य कसते हुए उसने कहा—'यह क्या ढोंग रचा रखा है? स्वयं तो साधुत्व को छोड़ वेश्या के साथ रह रहे हो और दूसरों को प्रतिबोध देने चले हो।' इस विवाद में काफी समय हो गया। भोजन के लिए बुलाने को पहले लड़का आया, फिर वेश्या स्वयं आयी। नंदीषेण ने कहा—'अभी नौ ही प्रतिबुद्ध हुए हैं, दसवाँ बाकी है।' वेश्या ने सहजता से कहा—'दसवें स्वयं आप ही बन जाइये, पर खाना तो खाईये।'

नंदीषेण का सोया आत्मबल जाग गया। भगवान् महावीर के समवसरण की ओर चल पड़े। वेश्या ने बहुत कहा, पर नंदीषेण अब रुकने वाले नहीं थे। प्रभु के पास जाकर अपने पापों का प्रायश्चित किया। पुनः संयम में सुस्थिर होकर तपस्या में लीन हो गये और तपोसाधना करते हुए आयु पूर्ण कर देव बने।

—त्रिशष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १०/६
—आवश्यक्रचूर्णि, पूर्वार्द्ध, पत्र ५५६
—आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ४३०-३१

१२७. नंदीषेण मुनि

मगध देश के 'नन्दी' ग्राम में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। उसकी पत्नी का नाम 'सोमिला' था। उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'नंदीषेण' रखा गया।

'नंदीषेण' का रूप महाघिनौना था। पेट मोटा, नाक टेढ़ी, कान टूटा हुआ तथा आँखें बेढंगी थीं। सिर के केश पीले, काला रंग और कद भी ठिगना था। कुल मिलाकर वह इतना कुरूप था कि लोग उसे देखते ही नाक-भौं सिकोड़कर पास से निकलते। सयोगवश माता-पिता भी बचपन में ही मर गये। वह अकेला पड़ गया। उसे असहाय और करुणा का पात्र समझकर मामा अपने यहाँ ले आया। वह वहाँ घर का सारा काम करता और पशुओं को चराता।

एक बार अपने मामा के पुत्रों का विवाह होते देखकर वह भी विवाह के लिए मचल गया। मामा ने कहा—'मैं अपनी सात पुत्रियों में से एक का तुम्हारे साथ विवाह कर दूँगा, जो तुम्हें चाहेगी। पर मामा की सात पुत्रियों में से कोई भी उसके साथ विवाह करने के लिए तैयार नहीं हुई।

इस अपमान से नंदीषेण का दिल टूट गया। वह मामा के घर से निकल गया और इस दुःखी जीवन से तंग आकर आत्महत्या करने की ठान बैठा। एक जंगल में जाकर पहाड़ से कूदकर मरना चाहता था कि इतने में सुस्थित मुनि वहाँ खड़े नजर आये। उसने मुनि को वन्दन किया। मुनि ने परिचय पूछा तो उसने आपबीती बताते हुए आत्महत्या करने की बात कही। मुनि ने आत्महत्या के कटु परिणाम बताते हुए धैर्य रखने को कहा—'देख, यह विषय-वासना, धन-सम्पत्ति किसके लिए सुखकर हुई है? फिर इनके लिए इतनी छटपटाहट क्यों?' उसका सोया वैराग्य जाग उठा। उसी समय साधुव्रत स्वीकार करके जीवनपर्यन्त बेले-बेले का तप करने का दुष्कर अभिग्रह कर लिया। केवल तपःसाधना ही नहीं अपितु रोगी, ग्लान, वृद्ध मुनि की परिचर्या में अपने आपको सर्वात्मना लगा दिया। अपनी आहार-विहार आदि की सुख-सुविधा को गौण करके भी सेवा के लिए प्रतिक्षण तैयार रहने लगा। चारों ओर नंदीषेण मुनि के गुणों का बखान होने लगा। इनकी सराहना करते हुए जन-जन के मुँह पर एक ही आवाज थी—'सेवाभावना नंदीषेण मुनि जैसी अन्यत्र देखने में नहीं आयी।'

एक बार देवेन्द्र ने नंदीषेण मुनि की सेवा की सराहना अपनी देव-परिषद् में की। शक्रेन्द्र की बात की अवगणना करते हुए एक देव परीक्षा करने चला आया। एक रोगग्रस्त साधु का रूप बनाकर 'रत्नपुर' नगर के उपवन में जा बैठा और एक साधु का रूप बनाकर 'नंदीषेण' के पास आया। 'नंदीषेण' मुनि

पारणा करने के लिए बैठे ही थे, इतने में साधु रूप में देव ने मुनि की भर्त्सना करते हुए कहा—'देख लिया तेरा स्वभाव ! मेरे गुरुदेव अतिसार के रोग से आक्रान्त हैं, उपवन में पड़े हुए हैं और तू भोजनभट्ट बना हुआ है।' नंदीषेण मुनि यह बात सुनकर चौंके। अपनी भूल पर अनुताप करते हुए क्षमा माँगने लगे और कहा—'कहाँ हैं आपके गुरुदेव, मुझे बताइये।' यों कहकर आहार को वहीं छोड़कर उस मुनि के साथ उद्यान में आये। वृद्ध मुनि की सफाई की और अपने स्थान पर चलने का आग्रह किया। वृद्ध मुनि कुपित होकर बोले—'तुम्हें दिखता नहीं, मैं ऐसी स्थिति में कैसे चल सकता हूँ?'

नंदीषेण मुनि नम्रतापूर्वक मुनि को अपने कन्धों पर बैठाकर अपने स्थान की ओर चल पड़े। मार्ग में वृद्ध मुनि ने नंदीषेण का सारा शरीर दुर्गन्धमय मल-मूत्र से भर दिया, फिर भी मुनि के एक रोम में भी कहीं घृणा, ग्लानि और रोष का भाव नहीं आया। चेहरे पर तनिक भी सिहरन न आयी।

देव ने अपने ज्ञान-बल से मुनि की भावनाओं को अविचल पाकर अपना रूप बदला। दिव्य रूप में सामने हाथ जोड़कर खड़ा हुआ। सेवा-भावना की मुक्तकण्ठ से सराहना करता हुआ देवेन्द्र के द्वारा की हुई प्रशंसा की सारी बात कही।

यों नंदीषेण मुनि लम्बे समय तक सेवा में तल्लीन रहे। अन्तिम समय में अनशनपूर्वक समाधिमरण प्राप्त करके आठवें स्वर्ग में गये। परन्तु अपनी दरिद्रावस्था तथा स्त्रियों के प्रति रही हुई आसक्ति को याद कर निदान कर चुके थे कि मैं अगले जन्म में अनेक स्त्रियों तथा अपूर्व लक्ष्मी का भोक्ता बनूँ। उसी के परिणामस्वरूप देवलोक में च्यवन करके सौरीपुर नगर में अंधकवृष्णि राजा की पत्नी 'सुभद्रा' के पुत्र रूप में पैदा हुए। उनका नाम वसुदेव रखा गया। इस युग के चौबीस कामदेवों में से ये बीसवें कामदेव बने। कामदेव-सा इनका रूप देखकर अनेक स्त्रियाँ इन पर मोहित हो जातीं। ७२ हजार स्त्रियों के साथ इनका विवाह हुआ। एक महारानी थी जिसके पुत्र श्रीकृष्ण थे जो जैन जगत् में नौवें वासुदेव कहलाये।

—आवश्यकचूर्णि

—वसुदेव चरित्र

१२८. पद्मप्रभु भगवान्

सारिणी

जन्म-स्थान	कौशाम्बी	दीक्षा तिथि	कार्तिक कृष्णा १३
पिता	धर	केवलज्ञान तिथि	चैत्र शुक्ला १५
माता	सुसीमा	चारित्र पर्याय	१६ पूर्वांग कम
जन्मतिथि	कार्तिक कृष्णा १२		१ लाख पूर्व
कुमार अवस्था	७।। लाख पूर्व	कुल आयु	३० लाख पूर्व
राज्यकाल	२१ लाख	निर्वाण तिथि	मार्गशीर्ष कृष्णा ११
	५० हजार पूर्व	चिह्न	कमल (रक्त पद्म)
	१६ पूर्वांग		

'पद्मप्रभु' वर्तमान चौबीसी के छठे तीर्थंकर हैं। इनका जन्म 'कौशाम्बी' के महाराज 'धर' की पटरानी 'सुसीमा' के उदर से हुआ। ये नौवें ग्रैवयक स्वर्ग से च्यवन करके माता के उदर में आये। माता ने चौदह स्वप्न देखे। 'पद्म' की शय्या पर सोने का मन में संकल्प हुआ, इसलिए पुत्र का नाम भी 'पद्म' रखा। युवावस्था में अनेक राजकन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। बेले के तप में कार्तिक बदी १३ के दिन प्रभु ने दीक्षा स्वीकार की। छः महीने तक छद्मस्थ अवस्था में रहे। बेले के तप में ही चैत्र सुदी पूर्णिमा को कैवल्य प्राप्त किया और तीर्थ की स्थापना की। इनके सबसे प्रमुख गणधर 'सुव्रत' थे। इनका संघ भी विशाल था। एक महीने के अनशन में सम्मेदशिखर पर तीन सौ आठ मुनियों के साथ मृगसिर बदी ११ के दिन प्रभु मोक्ष पधारे।

धर्म-परिवार

गणधर	१०७	वादलब्धिधारी	६६००
केवली साधु	१२,०००	वैक्रियलब्धिधारी	१६,८००
केवली साध्वी	२४,०००	साधु	३,३०,०००
मन:पर्यवज्ञानी	१०,३००	साध्वी	४,२०,०००
अवधिज्ञानी	१०,०००	श्रावक	२,७६,०००
पूर्वधर	२३००	श्राविका	५,०५,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ३/४

१२६. पार्श्वनाथ भगवान्

सारिणी

जन्म स्थान	वाराणसी	माता	वामा देवी
पिता	अश्वसेन	जन्म तिथि	पौष कृष्णा १०
कुमार अवस्था	३० वर्ष	निर्वाण तिथि	श्रावण शुक्ला ८
दीक्षा तिथि	पौष कृष्णा ११	कुल आयु	१०० वर्ष
केवलज्ञान तिथि	चैत्र कृष्णा ४	चिह्न	सर्प
चारित्र पर्याय	७० वर्ष		

प्रभु 'पार्श्वनाथ' वाराणसी नगरी के महाराज 'अश्वसेन' के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'वामा' था। सुख.शय्या में सोयी हुई महारानी वामादेवी ने चौदह स्वप्न देखे। स्वप्न.पाठकों ने प्रभावशाली पुत्र होने का स्पष्ट संकेत दिया। पौष बदी दसवीं के दिन तेईसवें तीर्थंकर के रूप में 'पार्श्वनाथ' का जन्म हुआ।

'पार्श्वकुमार' जब युवावस्था में पहुँचे तब 'कुशस्थल' नगर के महाराज प्रसन्नजित् की राजकुमारी 'प्रभावती' का विवाह 'पार्श्वकुमार' के साथ हो गया।

एक दिन 'पार्श्वकुमार' अपने महल के झरोखे में बैठे थे, इतने में देखा कि नगरवासियों के झुण्ड के झुण्ड एक दिशा की ओर जा रहे हैं। पूछने से पता लगा कि नगर के बाहर एक 'कमठ' नाम का तापस पंचाग्नि तप की साधना कर रहा है। लोग हाथ में फल-फूल लेकर उसीकी पूजा करने जा रहे हैं।

पार्श्वकुमार ने अपने अवधिज्ञान से देखा—तापस की धूनी में एक लक्कड़ में एक नाग-नागिन जल रहे हैं। उस अज्ञान तप का भण्डाफोड़ करने और नाग-नागिन को धर्म का सहारा देने हेतु 'पार्श्वकुमार' वहाँ आये। तापस को स्पष्ट शब्दों में कहा—'तप की ओट में अनर्थ हो रहा है। बेचारा एक सांप युगल अग्नि में बुरी तरह झुलस रहा है।' यों कहकर अपने सेवक से वह लक्कड़ बाहर निकलवाया। धीरे-धीरे सावधानीपूर्वक उस लक्कड़ को चीरकर सबके सामने झुलसे हुए सांप युगल को बाहर निकाला। सभी दर्शक हैरान हो गये।

प्रभु ने उस अर्धदग्ध सांप युगल को नवकार मंत्र सुनाया। नवकार मंत्र

सुनते-सुनते ही उस सांप युगल ने प्राण त्याग दिये। वह सांप मरकर धरणेन्द्र देव बना तथा नागिन पद्मावती देवी बनी।

तापस की निन्दा चारों ओर फैल गई। तापस मन-ही-मन 'पार्श्वकुमार' के प्रति रोष करके अन्य स्थान पर चला गया और घोर तप करने लगा। अन्त में मरकर भुवनपति देवों में मेघमाली देव हुआ। पार्श्वकुमार लोकांतिक देवों के द्वारा संकेत पाकर संयमी बनने को उद्यत हुए। तीस वर्ष की आयु में तीन सौ राजाओं के साथ प्रभु ने संयम ग्रहण कर लिया।

एक ग्राम से दूसरे ग्राम विहार करते पार्श्व प्रभु एक बार एक तापस के आश्रम के पास ध्यानस्थ खड़े हो गये। उस समय वह कमठ का जीव मेघमाली देव प्रभु को ध्यान में खड़ा देखकर कुपित हो उठा। अपने पूर्व वैर की स्मृति करके अनेक उपसर्ग देने लगा, पर प्रभु ध्यान से कब विचलित होने वाले थे ! प्रभु को अविचल देखकर गाज और बीज के साथ मेघमाली देव धुआँधार वर्षा करने लगा। सोचा—प्रभु को पानी के पूर में बहा दूँगा। पानी ऊपर बढ़ता-बढ़ता प्रभु के कान तक पहुँच गया। प्रभु ध्यान में फिर भी अविचल हैं। पानीं नाक के अग्र भाग तक पहुँच गया, तब धरणेन्द्र का आसन चलित हुआ। उसने अवधिज्ञान से देखा, 'कमठ' का जीव 'मेघमाली' देव प्रभु को संतापित करने हेतु दुर्धर उपसर्ग कर रहा है। वह अपने धर्मोपकारी प्रभु की सेवा करने तुरन्त वहाँ आया। प्रभु को वन्दन करके चरण-कमल के नीचे आसन की भाँति एक स्वर्ण कमल बना दिया तथा अपने शरीर से प्रभु के शरीर को ढककर सात फण बनाकर प्रभु के लिए छत्र बना दिया ताकि प्रभु बिल्कुल ही सुरक्षित रह सकें। आसपास धरणेन्द्र देव की देवियाँ मधुर तान के साथ गीत-नृत्य करने लगीं। 'मेघमाली' देव को जब अपना उपक्रम असफल होता नजर आया, तब वह प्रभु के चरणों में आ गिरा। धरणेन्द्र ने उसकी भर्त्सना करते हुए उलाहना दिया। मेघमाली ने अपने अपराध की प्रभु से क्षमा-याचना की। प्रभु तो समता में लीन रहे। अपकारी का भी तो वे उपकार ही करते हैं। उपसर्ग में अविचल रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया। उपसर्ग के हरण करने वालों में 'पार्श्वनाथ' भगवान् का नाम प्रमुख रूप से आज भी स्मरण किया जाता है।

केवलज्ञान प्राप्त करके प्रभु ने तीर्थ की स्थापना की। अनेक गणधरों में मुनि आर्यदत्त प्रमुख गणधर थे। सत्तर वर्ष तक केवल पर्याय का पालन कर

सौ वर्ष की अवस्था में सावन सुदी अष्टमी को प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् पार्श्वनाथ के माता-पिता तथा महारानी प्रभावती भी दीक्षित हुए। ये सभी कर्म क्षय करके मोक्ष में विराजमान हुए।

धर्म-परिवार

गणधर	१०	बादलब्धिधारी	६००
केवलज्ञानी साधु	१०००	वैक्रियलब्धिधारी	१०१०
केवलज्ञानी साध्वी	२०००	साधु	१६,०००
मनःपर्यवज्ञानी	७५०	साध्वी	३८,०००
अवधिज्ञानी	१४००	श्रावक	१,६४,०००
पूर्वधर	३५०	श्राविका	३,३६,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ६/३

१३०. पुण्डरीक-कंडरीक[1]

पूर्वमहाविदेहक्षेत्र में एक विशाल नगरी थी, जिसका नाम 'पुंडरीकिणी' था। वहाँ के महाराज का नाम 'महापद्म' तथा महारानी का नाम पद्मावती था। पद्मावती के दो पुत्र थे—'पुंडरीक' तथा 'कंडरीक'।

एक बार 'धर्मघोष' मुनि वहाँ पधारे। नगर के नलिनीवन उद्यान में विराजे। राजा महापद्म दल-बल सहित वंदन करने गया। मुनि की वैराग्यगर्भित वाणी सुनकर राजा का वैराग्य जगा वह संयम लेने को तैयार हुआ। अपने ज्येष्ठ पुत्र 'पुंडरीक' को राज्य पद तथा छोटे पुत्र 'कंडरीक' को युवराज पद देकर राजा संयमी बन गया।

कुछ समय बाद 'धर्मघोष' मुनि पुनः उसी नगर में आये। इस बार महाराज 'पुंडरीक' ने श्रावकधर्म स्वीकार किया। युवराज 'कंडरीक' अपने भाई की आज्ञा लेकर संयमी बन गया।

साधना का पथ वीरों का है, क्योंकि वहाँ साधक को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है। मुनि कुंडरीक भी पूर्ण विरक्त होकर साधना के पथ पर बढ़े। परन्तु अरस-विरस आहार से मुनि की कोमल काया में दाह ज्वर

१. मूल पाठ में नाम कंडरीक है, लेकिन प्रसिद्ध नाम कुंडरीक है। इसलिए मूल पाठ के अनुसार यहाँ 'कंडरीक' नाम रखा गया है।

नामक रोग हो गया, जिससे शरीर में भयंकर पीड़ा रहने लगी। उस कृश शरीर में भी मुनि का मनोबल काफी दृढ़ था। महास्थविर 'धर्मघोष' 'कंडरीक' और मुनि को साथ लिये उसी नगर में आये। राजा 'पुंडरीक' दर्शनार्थ आया। अपने लघु सहोदर के शरीर को यों व्याधिग्रस्त देखकर उनसे अपनी दानशाला में रहकर समुचित औषधोपचार कराने की प्रार्थना की।

स्थविर की आज्ञा प्राप्त करके 'कंडरीक' मुनि वहाँ दानशाला में रहकर चिकित्सा कराने लगे। अनेक प्रकार की दवाईयाँ तथा समुचित पथ्य-सेवन से मुनि का तन तो शनैः-शनैः स्वस्थ हो गया, परन्तु उन स्वादु भोजनों में आसक्त हो गया इससे आचार में शिथिलता आ गई। संयम को छोड़कर पुनः गृहस्थवास में प्रवेश करने की भावना अंगड़ाई लेने लगी।

एक दिन पुंडरीकिणी नगरी के अशोक उद्यान में मुनि सशोक बने बैठे थे। महाराज 'पुंडरीक' को जब पता लगा, तब अन्तःपुर सहित बन्धु-मुनि के पास आया और गुणानुवाद करता हुआ बोला—'मुनिवर ! आपको धन्य है। संयम लेकर आप आत्म-कल्याण के लिए सचेष्ट हैं। मैं तो महापापी हूँ। मेरे से तो आपकी भाँति संयम का यह दुर्गम पथ स्वीकार ही नहीं किया जाता।' 'पुंडरीक' की बात सुनकर 'कंडरीक' मुनि कुछ भी न बोले। मौन बने बैठे रहे। राजा 'पुंडरीक' ने मुनि की भावना को देखते हुए कहा—'क्या आप संयमी जीवन से गृहस्थवास को अच्छा मानते हैं?' तब कंडरीक मुनि ने मौका देखकर साफ ही कह दिया—'हाँ, मुझे तो ये भोग प्रिय लग रहे हैं।'

राजा ने समझाने का बहुत प्रयत्न किया। भोगों की विरसता भी दिखाई, पर जब मुनि समझते नजर नहीं आये, तब महाराज 'पुंडरीक' ने अपने पारिवारिक जनों को बुलाकर अपने राज्य का अभिषेक कंडरीक को कर दिया और स्वयं अपना पंचमुष्टि लोच करके संयम स्वीकार कर लिया।

इधर 'कंडरीक' मुनि मुनि-पद से राज्य-पद पर आ गये। वे राजसी कामोत्पादक आहार का खुलकर उपभोग करने लगे। खा लेना एक बात है और उसे पचा पाना दूसरी बात है। आहार पच नहीं सका। शरीर में उग्र वेदना का प्रकोप हो उठा। भयंकर व्याधि से ग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त हो गये। मरकर सातवीं नरक में गये।

'पुंडरीक' मुनि साधना में लीन रहने लगे। अरस-विरस आहार से उनके शरीर में भयंकर वेदना हो उठी। अन्तिम समय निकट देखकर पंच परमेष्ठी का

स्मरण करते हुए समाधिपूर्वक मृत्यु को प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न हुए। वहाँ से महाविदेह में होकर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

विचित्रता यह रही कि जहाँ एक हजार वर्ष तक संयम का पालन करके कंडरीक मात्र अल्प[1] दिनों में मरकर सप्तम नरक में गया, वहाँ पुंडरीक मुनि एक हजार वर्ष राज्य करके अल्प दिन के संयम से सर्वार्थसिद्धि विमान में गया।

—ज्ञाताधर्मकथा, १६

१३१. पुरुषपुंडरीक वासुदेव

'चक्रपुर' नगर का शासक 'महाशिर' एक प्रतापी और प्रतिभाशाली राजा था। उसके दो रानियाँ थीं—'वैजयन्ती' और 'लक्ष्मीवती'। 'वैजयन्ती' रानी ने चार स्वप्नों से सूचित पुत्र को जन्म दिया जो छठा 'बलदेव' आनन्द कहलाया। महारानी 'लक्ष्मीवती' के सात स्वप्नों से सूचित एक पुत्र हुआ जो छठा वासुदेव 'पुरुषपुंडरीक' कहलाया।

पुरुषपुंडरीक चौथे स्वर्गलोक माहेन्द्र से च्यवन करके आया था। यह प्रियमित्र मुनि का जीव था। प्रियमित्र मुनि पूर्वभव में 'पोतनपुर' के नरेश के प्रियमित्र थे। महाराज 'प्रियमित्र' की महारानी नाम से भी अनिंद्य सुन्दरी थी और रूप-रंग-वैभव में भी अनिंद्य सुन्दरी ही थी। 'अनिंद्यसुन्दरी' की रूप-महिमा सुनकर राजा 'सुकेतु' उसे हथियाने चढ़ आया। स्त्री पुरुष की इज्जत होती है। ऐसा कौन कायर एवं क्लीव होगा जो अपने जीते-जी अपनी पत्नी को दूसरे के सुपुर्द कर दे। 'प्रियमित्र' और 'सुकेतु' अपनी-अपनी बात पर अड़कर भिड़ पड़े। संयोग की बात, 'प्रियमित्र' परास्त हो गया और 'सुकेतु' रानी का बलात् हरण करके अपने यहाँ ले गया। प्रियमित्र मन-ही-मन ग्लानि समेटे मुनि बन गया। उग्र साधना के बल पर निदान कर लिया कि मैं 'सुकेतु' का नाशक बनूँ। वही 'प्रियमित्र' मुनि का जीव इस भव में 'पुरुषपुंडरीक' नाम का वासुदेव बना।

उधर सुकेतु भव-भ्रमण करता हुआ विद्याधर 'मेघनाथ' के कुल में 'अरिंजय' नगर के महाराज के यहाँ पुत्र रूप में पैदा हुआ। उसका नाम 'बलि'

---

१. कई कथाओं में अढाई दिन का वर्णन आता है और कईयों में सात का। पर मूल पाठ में समय का कोई उल्लेख नहीं है।

रखा गया। विद्याधर 'मेघनाथ' को सुभूम' चक्रवर्ती ने वैताढ्य की दोनों श्रेणियों का शासक बना दिया था, क्योंकि मेघनाथ की पुत्री पद्मश्री 'सुभूम चक्रवर्ती' की पटरानी थी। तभी से 'मेघनाथ' का कुल सभी विद्याधरों में उच्च माना जाने लगा था। उसी कुल में प्रतिवासुदेव बलि के रूप में महाराज सुकेतु का जीव आया।

युवा होने पर 'पुंडरीक' का विवाह राजेन्द्रपुर नगर के नरेश उपेन्द्रसेन की पुत्री 'पद्मावती' से हुआ। 'पद्मावती' के अभिवन रूप से आकर्षित होकर प्रतिवासुदेव बलि ने उसकी याचना की। बात तन गई। फलतः प्रतिवासुदेव बलि और पुरुषपुंडरीक में घमासान युद्ध हुआ। अन्त में 'पुरुषपुंडरीक' ने बलि को उसी के चक्र से धराशायी कर अपना बदला लिया। यों 'पुरुषपुंडरीक' वासुदेव 'पुरुषपुंडरीक' बन गया।

वासुदेव ने पैंसठ हजार वर्ष की लम्बी आयु पायी, किन्तु कषायलिप्तता के कारण नरकगामी बना।

अनुज की मृत्यु का अग्रज 'आनन्द' को गहरा आघात लगा। दुःख-जनित वैराग्य से विरक्त होकर निर्वेद जगा और श्रामणी दीक्षा स्वीकार की। 'आनन्दमुनि' केवलज्ञान प्राप्त करके मुनि बने।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ६/३

१३२. पुरुषसिंह वासुदेव

'अश्वपुर' नगर के महाप्रतापी नरेश 'शिव' के दो रानियाँ थीं—'विजया' और 'अंभका'। रानी विजया ने चार स्वप्नों से सूचित एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम सुदर्शन रखा गया। यह पाँचवाँ बलभद्र था। रानी अंभका ने भी सात स्वप्नों से सूचित एक पुत्र को जन्म दिया जो पुरुषसिंह नाम से पाँचवां वासुदेव कहलाया। 'पुरुषसिंह' दूसरे स्वर्ग से च्यवन करके यहाँ आया था। यह इससे पहले 'पोतनपुर' का नरेश विकट था। संयोग ऐसा बना कि 'विकट' राजा सुख-शान्ति से अपना शासन संचालन कर रहा था, उन्हीं दिनों अकस्मात् महाराज 'राजसिंह' ने अपनी लालच की ज्वाला बुझाने के लिए पोतनपुर पर अकारण ही आक्रमण कर दिया। 'विकट' बेचारा विकट परिस्थितियों में फँस गया। बहुत वीरता के साथ 'राजसिंह' के सामने आ डटा। पर पल्ले पड़ी निराशा। 'विकट' को हारना पड़ा।

क्षत्रियों को हार पहनना ही अच्छा लगता है, हार शीश पर चढ़ाना नहीं। हार के लिए सिर झुकाना पड़ता है। क्षत्रिय के लिए सिर झुकाना मरने से भी बदतर है। पराजित राजा 'विकट' विकट मुनि बन गया। हारे को हरिनाम ठीक ही है। तीव्र साधना में भी 'विकट' मुनि के मन में 'राजसिंह' के प्रति विद्वेष भभकता रहा। विकट मुनि ने निदान कर लिया—मुझे मेरी तपस्या का बस इतना ही फल चाहिए कि मैं राजसिंह का घातक बनूँ।

विकट मुनि दूसरे स्वर्ग में गये और वहाँ से च्यवकर महाराज शिव के पुत्र पुरुषसिंह बने।

उधर राजसिंह भी भ्रमण करता हुआ 'हरिपुर' के महाराज के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। इसका नाम 'निशुम्भ' रखा गया। कुमार 'निशुम्भ' युवा बनकर प्रतिवासुदेव बना।

महाराज 'शिव' का दाह ज्वर में देहावसान हुआ तथा अंभका चिता में यों कहकर सती हो गई कि सती की गति पति ही हुआ करता है।

महाराज 'शिव' के दिवंगत हो जाने पर 'निशुम्भ' ने कूटनीति से 'अश्वपुर' नगर का राज्य हड़पना चाहा। अपने दूत के द्वारा इन दोनों राजकुमारों को कहलाया—तुम अभी बालक हो, राज्य-अवस्था से अनभिज्ञ हो। अतः अच्छा रहेगा कि तुम मेरे संरक्षण में आ जाओ। मैं तुम्हारा कुशलता से संरक्षण करता रहूँगा।

पर 'सुदर्शन' और 'पुरुषसिंह' 'निशुम्भ' की इस चालाकी को भाँप गये। उन्होंने 'निशुम्भ' की यह इच्छा ठुकरा दी। फलतः प्रतिवासुदेव निशुम्भ और वासुदेव पुरुषसिंह दोनों में युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में निशुम्भ मारा गया। 'पुरुषसिंह' ने अपना बदला लेकर सुख की साँस ली। वह तीन खण्ड का स्वामी बना।

एक बार वासुदेव 'पुरुषसिंह' और बलदेव 'सुदर्शन' भगवान् 'धर्मनाथ' के कैवल्योत्सव पर गये और देशना सुनी। प्रभु अन्यत्र विहार कर गये।

वासुदेव पुरुषसिंह ने अपना आयुष्य पूरा किया और छठी नरक में गया।

सुदर्शन बलदेव 'कीर्तिधर' मुनि के पास संयमी बनकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ४/५

१३३. पुरुषोत्तम वासुदेव

'द्वारिका' नगरी के महाराज 'सोम' के दो रानियाँ थीं—'सुदर्शना' और 'सीता'। महारानी 'सुदर्शना' के चार स्वप्नों से सूचित पुत्र हुआ, जिसका नाम 'सुप्रभ' रखा गया। यह चौथा बलदेव था। दूसरी रानी सीता के सात स्वप्नों से सूचित एक पुत्र हुआ जिसका नाम रखा गया पुरुषोत्तमकुमार। 'पुरुषोत्तम' चौथा वासुदेव था।

कुमार 'पुरुषोत्तम' की आत्मा आठवें सहस्रार कल्प से आयी थी। यह राजा समुद्रदत्त का जीव था। 'समुद्रदत्त' कौशाम्बी का महाराज था। इसकी अनुपम सुन्दरी रानी का नाम 'नन्दा' था। 'नन्दा' सदैव अपने गुणों से पति के हृदय को आनन्दित करती रहती थी। इसलिए राजा का इस पर अधिक प्रेम था। एक बार समुद्रदत्त का मित्र 'मलय' भूमि का महाराज 'चण्डशासन' बहुत दिनों के बाद मिला था, इसलिए 'समुद्रदत्त' ने उसे अपने यहाँ रखा। इस बीच महाराज 'चण्डशासन' नन्दा पर मुग्ध हो गया। अपना विश्वास जमाकर और मौका देखकर नन्दा का अपहरण करके अपने यहाँ ले गया। पीछे से 'समुद्रदत्त' ने उसकी बहुत खोज की। जब पता लगा कि उसे चण्डशासन ले गया है, तब उसे लाने के अनेक प्रयत्न भी किये, पर सभी यत्न बेकार गये। 'समुद्रदत्त' पत्नी के वियोग में शोकमग्न हो गया। सोचा—हाय-हाय ! मित्र ने मेरे साथ विश्वासघात किया है। पर सच ही तो है, जहाँ विश्वास होता है, वहीं घात होता है, अन्य स्थान में नहीं। अब इस विश्वासघातियों की दुनिया में रहकर मुझे क्या करना है।

संसार से बिल्कुल ही मन उचट गया। विरक्त होकर 'श्रेयांस' मुनि के पास संयम ले लिया। संयम की आराधना करने लगा। पत्नी की यदा-कदा स्मृति हो जाती। अन्त में चण्ड के प्रति तीव्र कषाय के वेग से निदान कर लिया। वहाँ से मरकर आठवें स्वर्ग में देव बना और फिर वहाँ से च्यवकर वासुदेव पुरुषोत्तम के रूप में पैदा हुआ।

उधर चण्डशासन अपने किये हुए अकृत के बल पर भव-भ्रमण करता हुआ पृथ्वीपुर नगर के महाराज विलास की रानी गुणवती के उदर से पुत्र रूप में पैदा हुआ। इसका नाम 'मधु' रखा।

मधु प्रतिवासुदेव बना। नारद बाबा के उकसाने से 'मधु' और 'पुरुषोत्तम'

में युद्ध छिड़ गया। सनातन पद्धति के अनुसार 'पुरुषोत्तम' ने मधु को मारकर अपना बदला लिया तथा तीन खण्ड का अधिशास्ता बना। अपनी उग्र प्रकृति और आत्म-परिणामों की क्रूरता से मलिनतर बना वासुदेव पुरुषोत्तम तीस लाख वर्ष की आयु में दिवंगत होकर छठी नरक में गया।

बलभद्र सुप्रभ मृगांकुश मुनि के पास संयमी बनकर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में विराजमान हुए।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ४/४

१३४. पुष्पचूला (सती)

गंगातट पर 'पुष्पभद्र' नाम का नगर था। वहाँ के महाराज 'पुष्पकेतु' की महारानी का नाम था 'पुष्पवती'। 'पुष्पवती' ने एक युगल को जन्म दिया, जिसका नाम रखा गया 'पुष्पचूल' तथा 'पुष्पचूला'। दोनों ही भाई-बहन प्रारम्भ से ही साथ-साथ रहते। खाना, पीना, खेलना, सोना आदि क्रियाएं दोनों की साथ-साथ ही चलतीं। दोनों में अत्यधिक प्रेम था। क्षण भर का वियोग भी नहीं सह सकते थे। जब दोनों ही युवा हो गये तब एक दिन महारानी ने महाराज से कहा—'अब इनकी अति निकटता समाज में चर्चा का विषय बन जाएगी। इसलिए इनका विवाह कर देना चाहिए, ताकि एक-दूसरे से अपने आप ही दूर हो जाएं।' राजा ने मौका देखकर 'पुष्पचूला' से कहा—'अब तुम अपना घर बसा लो।'

पुत्री—घर तो बसा हुआ है, फिर नया बसाकर क्या करना है?

पिता—घर बसाने का अर्थ है विवाह करना।

पुत्री—यह कैसे संभव होगा? मैं किसी दूसरे के साथ रहूँ और भाई के साथ कोई दूसरी रहे। हम अब तक जैसे निर्विकार और विशुद्ध भाव में एक-दूसरे के साथ रहे हैं, वैसे ही आजीवन एक-दूसरे के साथ रहेंगे। एक-दूसरे से दूर रहकर हम जीवित नहीं रह सकेंगे।

राजा ने उनकी बात सुनकर दोनों का विवाह कर दिया। पर वे रहे दोनों बहन-भाई की भाँति ही। राजा ने उनकी विकार-रहित मनोभावना देखकर सोचा—'धन्य है इन्हें, जो यों विकार रहित बने हुए हैं। कितना शान्त और पवित्र जीवन जी रहे हैं। धिक्कार है मुझे ! मैं वृद्धावस्था में भी भोगों में फँसा हुआ हूँ।' यों विचार कर महाराज और महारानी दोनों ने संयम ले लिया।

साध्वी पुष्पवती आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग में देवी बनी। उसने स्वर्ग और नरक के दृश्य पुष्पचूला को स्वप्न में दिखाये। इन स्वप्नों के कारण पुष्पचूला का जी उचटा-उचटा रहने लगा। उसने उन स्वप्नों के बारे में आचार्य अन्निकापुत्र को बताकर पूछा कि ये कैसे दृश्य हैं? आचार्य अन्निकापुत्र ने स्पष्ट बता दिया कि ये वीभत्स और भयावने दृश्य नरक के हैं तथा कमनीय सुख-भोगों के दृश्य स्वर्ग के हैं।

यह जानकर पुष्पचूला संसार से विरक्त हो गयी और उसने राजा पुष्पचूल को समझा-बुझाकर आचार्य अन्निकापुत्र के पास संयम ग्रहण कर लिया। महासती 'पुष्पचूला' वहीं स्थिरवासिनी वृद्ध सतियों की परिचर्या में रही। अत: पुष्पचूल को भी सती के दर्शनों का लाभ मिलता रहा। अन्त में 'पुष्पचूला' ने मोक्ष प्राप्त किया।

—आवश्यक निर्युक्ति, १२६४

१३५. प्रद्युम्नकुमार

देवलोक के समान 'द्वारिका' नगरी के स्वामी 'श्रीकृष्ण' के आठ पटरानियाँ थीं; जिनमें 'रुक्मिणी', 'सत्यभामा', 'जाम्बवंती' आदि प्रमुख थीं।

एक दिन 'अतिमुक्तक' मुनि भिक्षा लेने के लिए 'रुक्मिणी' के महलों में आये। संयोगवश 'सत्यभामा' भी वहीं पर थी। भिक्षा देकर 'रुक्मिणी' ने अतिमुक्तक मुनि से पूछा—'मुनिवर ! मेरे पुत्र होगा या नहीं?' मुनि ने उपयोग लगाकर बताया—'तू क्यों चिन्ता करती है? तेरे 'श्रीकृष्ण' के समान ही पराक्रमी पुत्र होगा।' यों कहकर मुनिवर चले गये। पीछे से सत्यभामा और रुक्मिणी में अकारण ही विवाद छिड़ गया। सत्यभामा ने रुक्मिणी से कहा—'पुत्र-प्राप्ति का वर मुनि ने मुझे दिया है।' रुक्मिणी ने कहा—'मेरे प्रश्न पर मुनिवर मुझे वर दे गये हैं।' सत्यभामा ने उसकी बात को काटते हुए कहा—'माना कि प्रश्न तूने किया था, पर उत्तर देते समय मुनिवर मेरी ओर देख रहे थे, इसलिए मुझे वर दे गये हैं।' सत्यभामा विवाद करती हुई रुक्मिणी को लेकर श्रीकृष्ण के पास आयी। अपनी बात की पुष्टि में यहाँ तक शर्त लगा दी—जो भी हो, मेरी शर्त यह है कि जिसके पहले पुत्र हो, उसके विवाह में दूसरी को अपने सिर के केश देने होंगे। इस शर्त को रुक्मिणी ने भी मंजूर कर लिया। यों शर्त लगा दोनों चली गईं।

यथासमय दोनों के ही एक-एक पुत्र हुआ—पहले 'रुक्मिणी' के और पीछे 'सत्यभामा' के। 'रुक्मिणी' के पुत्र का नाम 'प्रद्युम्न' रखा गया तथा भामा के पुत्र का नाम 'भानुकुमार'।

'प्रद्युम्नकुमार' कुछ ही दिन का हुआ था। श्रीकृष्ण अपने हाथ में लिये उसे सहला रहे थे। 'रुक्मिणी' स्नानघर में थी। इतने में 'प्रद्युम्न' के पूर्वजन्म का वैरी धूमकेतु नाम का देव अपना प्रतिशोध लेने के लिए 'रुक्मिणी' का वेश बनाकर वहाँ आया। श्रीकृष्ण के हाथ से शिशु को लेकर चला गया। वह उसे मारकर अपना बदला लेना चाहता था, पर 'प्रद्युम्न' चरमशरीरी (इसी जन्म में मुक्त होने वाला) था। आयुष्य पूरा था। किसी के मारने पर भी नहीं मर सकता था। इसलिए उस देव की भावना बदली और वहीं जंगल में उसे एक शिला पर छोड़कर चला गया। सोचा, यहाँ अपने आप तड़प-तड़पकर मर जाएगा।

उस समय 'मेघकूट' नगर का स्वामी 'मेघसंवर'[1] नाम का विद्याधर विमान में बैठकर कहीं जा रहा था। उस शिशु को वहाँ वन में अकेला देखकर अपने विमान में लेकर चला गया। अपनी महारानी 'कनकमाला' को पुत्र कहकर सौंप दिया। 'कनकमाला' के भी कोई पुत्र न होने से, उसका अपने पुत्र की भांति पालन-पोषण किया।

इधर 'रुक्मिणी' ने स्नानघर से बाहर आकर श्रीकृष्ण से शिशु माँगा। श्रीकृष्ण ने मुस्कराकर कहा—'तूने मुझे 'भामा' समझ रखा है क्या, जो मेरे साथ भी आँख-मिचौनी खेल रही है। अभी-अभी तो तू मेरे पास से पुत्र को ले गई थी। लगता है उसे तू कहीं छिपाकर फिर आ गई।' 'रुक्मिणी' श्रीकृष्ण की बात सुनकर सन्न रह गई और बोली—'नाथ ! यह आप क्या कह रहे हो? कौन ले गई थी? मैं तो अभी-अभी स्नानघर से आपके सामने ही बाहर निकलकर आयी हूँ।' 'रुक्मिणी' की निश्छल बात सुनकर श्रीकृष्ण ने सोचा, हो न हो मेरे साथ धोखा हुआ है। 'रुक्मिणी' विलाप करने लगी। चारों ओर शोक छा गया। सभी जगह राजकुमार की खोज कराई गई, पर सब निष्फल। इतने में 'नारद' मुनि वहाँ आए। 'रुक्मिणी' और श्रीकृष्ण को सान्त्वना देकर 'सीमंधर' स्वामी के पास गए। उनसे सारी बात पूछकर लौटकर द्वारिका आये

१. 'त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र' और 'वसुदेव हिंडी' (पीठिका) में राजा का नाम 'कालसंवर' है।

और बताया—'प्रभु ने कहा है तुम लोग घबराओ मत। प्रद्युम्न जीवित है। उसका पूर्वजन्म का वैरी 'धूमकेतु' देव यहाँ रुक्मिणी का वेश बनाकर आया था और कुमार को ले गया। वह उसे पर्वत पर फेंककर चला गया। वहाँ से मेघसंवर नामक विद्याधर अपने यहाँ ले गया। उसकी पत्नी कनकमाला की गोद में वह सुखपूर्वक बढ़ रहा है। सोलह वर्ष बाद तुम्हें सकुशल मिल जाएगा।

'रुक्मिणी' ने अपने आँसू पोंछते हुए पूछा—'मुनिवर ! मैंने पूर्वजन्म में ऐ । कौन-सा पाप किया था जिसके परिणामस्वरूप मुझे पुत्र-वियोग सहना पड़ा, इसका प्रभु ने क्या कारण बतलाया।'

नारद ऋषि मुस्कराकर बोले—मैं भगवान् सीमंधर स्वामी से सारी बातें पूछकर आया हूँ। इसका कारण बताते हुए प्रभु ने कहा—देवी ! तू पूर्वजन्म में एक बगीचे में गई थी। वहाँ अपने कुंकुम से सने हाथों से एक स्थान पर पड़े मोरनी के अण्डे को अपने हाथ में उठा लिया था। वापस वहाँ रख तो दिया पर कुंकुम का रंग उस अण्डे पर लग जाने से मयूरी उस पर आकर नहीं बैठी। दूर डाली पर बैठकर अपने अण्डे की चिन्ता में सोलह घड़ी तक विलाप करती रही। संयोगवश सोलह घड़ी (एक घड़ी—२४ मिनट) बाद वर्षा होने के कारण अण्डे पर से वह रंग उतर गया, तब मयूरी उस पर आकर बैठी। बस, यह सोलह घड़ी का वियोग ही तुम्हारे लिए सोलह वर्षों का वियोग होकर उदय में आया है। लेकिन जिस तरह मयूरी का मिलन अण्डे से हुआ, उसी तरह तुम्हारा मिलन भी तुम्हारे पुत्र से अवश्य होगा। अतः शोक मत करो और धर्मध्यान में अपना मन लगाओ। यों कहकर नारद मुनि वहाँ से अन्यत्र चले गये।

उधर प्रद्युम्न सोलह वर्ष का युवा हो गया। वह अनेक कलाविद्याओं में पारंगत हुआ। सोलह गुफाओं पर वहाँ उसने अपना अधिकार जमाया। 'रति' नाम की एक विद्याधर की पुत्री के साथ विवाह भी हुआ। सानन्द वहाँ वह रह रहा था, पर एक दिन प्रद्युम्न का रूप-सौन्दर्य देखकर उसकी माता 'कनकमाला' ही भान भूल बैठी। कामविह्वल होकर वह उससे भोग-प्रार्थना करने लगी। 'प्रद्युम्न' अवाक् रह गया। रोकते हुए 'कनकमाला' से कहा—'माँ ! अपने पुत्र के प्रति यह दुर्भावना क्यों? मुझसे ऐसी पापपूर्ण इच्छा की पूर्ति की आशा स्वप्न में भी मत रखना।' कनकमाला ने इसे अपना अपमान समझा और त्रिया-चरित्र फैलाकर उसे फँसाना चाहा। 'मेघसंवर' ने भी 'कनकमाला' की बात को मानकर प्रद्युम्न की भर्त्सना की। 'प्रद्युम्न' ने सारी

बात सच-सच बता दी और फिर स्वयं उपवन में उदास जाकर बैठ गया।

इतने में नारद मुनि वहाँ आ धमके और उसका पौरुष जगाने हेतु कहा—'तेरे जैसे पुत्र के होते हुए भी भानु के विवाह में तेरी माँ 'रुक्मिणी' का मुण्डन होने वाला है।' यह कहकर सारी बात खोलकर बता दी। उसी समय प्रद्युम्न नारद मुनि के साथ 'द्वारिका' की ओर चल पड़ा। वहाँ विद्याबल से अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाए। 'भानुक' के बुरे हाल किए। 'सत्यभामा' को सुन्दर बनाने का प्रलोभन देकर उसका मुण्डन कर दिया। बलभद्र को भी कुश्ती में परास्त किया। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण को भी युद्ध के बहाने दो-दो हाथ दिखाए। श्रीकृष्ण को यह लगने लगा कि यह शीघ्र ही मेरा राज्य अवश्य छीन लेगा। तभी नारदजी ने आकर सारे रहस्य से पर्दा उठा दिया। पिता-पुत्र दोनों प्रेम से मिले। सर्वत्र हर्ष छा गया। 'रुक्मिणी के तो आनन्द का ठिकाना ही क्या था? प्रसंगवश श्रीकृष्ण को भी यों कहना पड़ा—'रुक्मिणी, तेरा पुत्र तो मुझसे भी बढ़-चढ़कर निकला।' श्रीकृष्ण ने अनेक राजकन्याओं के साथ उसका विवाह किया। श्रीकृष्ण के सभी पुत्रों में यह प्रमुख कहलाया।

अन्त में द्वारिका का नाश सुनकर अपने पुत्र अनिरुद्धकुमार आदि समस्त परिवार को छोड़कर संयम ले लिया। नेमिनाथ प्रभु के निर्देशन में रहकर सकल कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष प्राप्त गया।

—आवश्यक मलयगिरि वृत्ति
—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ८
—वसुदेव हिण्डी (पीठिका)

१३६. प्रदेशी राजा

'श्वेताम्बिका' नगरी का महाराजा 'प्रदेशी' बहुत ही क्रूर प्रकृति का था। उसकी रानी का नाम 'सूरिकान्ता' और पुत्र का नाम 'सूर्यक्रान्त' था। राजा 'प्रदेशी' की नास्तिक प्रकृति और रक्त से सने हुए हाथों को देखकर प्रजा का मानस सदा आतंकित रहता था। मनुष्य को मौत के घाट उतारना, वह तृण तोड़ने से अधिक नहीं गिनता था। जनता का सद्भाग्य इतना ही था कि शासक जहाँ इतना क्रूर और निर्दयी था, उसका महामात्य उसका बड़ा भाई 'चित्त' उतना ही सौम्य, दयालु और व्यवहारकुशल था। राजा घोड़ों का बड़ा शौकीन था।

कुणालदेश की राजधानी 'श्रावस्ती' थी। वहाँ के महाराज 'जितशत्रु' से

'प्रदेशी' की प्रगाढ़ मैत्री थी। राजा ने अपने मन्त्री 'चित्त' को 'जितशत्रु' के लिए कुछ उपहार देकर श्रावस्ती नगरी भेजा। वहाँ 'चित्त' को भगवान् 'पार्श्वनाथ' की परम्परा के संवाहक केशी स्वामी के साथ पाँच सौ साधुओं के साथ दर्शन हुए। केशी स्वामी चार ज्ञान और चौदह पूर्वों के ज्ञाता, परम तपस्वी थे। उन्हीं श्रमण-श्रेष्ठ से चित्त ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया और साथ ही यथासमय 'श्वेताम्बिका' नगरी में पधारने का अनुरोध किया। केशी स्वामी ने विस्मित भाव से कहा—चित्त ! हरे-भरे फल-फूलों से लदे-सजे उपवन में यदि कोई शिकारी धनुष साधे बैठा हो तो क्या कोई पक्षी वहाँ फल खाने जाना चाहेगा? तुम्हारी और वहाँ की प्रजा की भावना यद्यपि बहुत ही प्रशस्त है, पर तुम्हारे महाराज की जो मन:स्थिति है वह तो.....'

विनम्र होकर मंत्री चित्त ने कहा—"आप पतितपावन हैं। आपका क्षणिक सम्पर्क भी अधर्मी पापात्मा को धर्मनिष्ठ बना देने में सक्षम है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। भगवन् ! आपका तप:प्रभाव शूल को भी फूल बना सकता है, तब आप राजा की चिन्ता क्यों करते हैं? अनेकानेक श्रद्धालुगण वहाँ हैं। उन पर कृपा करिये। आपके पावन स्पर्श से वहाँ भी धर्म की प्रभावना होगी।"

केशी स्वामी ने कहा—'जैसा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव होगा, देखा जायेगा।'

मन्त्री चित्त 'श्रावस्ती' से अपने नगर लौट आया। 'मृगवन' के रखवालों को सावधान करते हुए कहा—यदि जैन मुनि 'केशी' का यहाँ शुभागमन हो तो अपने यहाँ ठहराने की सारी व्यवस्था करना तथा मुझे आकर शीघ्र कहना।

विहार करते-करते केशी स्वामी वहाँ पधार गए। मन्त्री ने अपना भाग्य सराहा। स्वयं गुरु के दर्शन किये और प्रार्थना की—'गुरुदेव ! आप महाराज को भी उपदेश दें।'

केशी स्वामी ने कहा—'चित्त ! धर्म की प्राप्ति चार प्रकार के पुरुषों को होती है—(१) वन में ठहरे हुए साधुओं से सम्पर्क करने वाले व्यक्ति को, (२) उपाश्रय में ठहरे हुए साधुओं से सम्पर्क करने वाले व्यक्ति को, (३) भिक्षार्थ आए मुनि को आहार-पानी देने वाले व्यक्ति को और (४) जहाँ कहीं भी मुनि मिलें, वहाँ सम्पर्क करने वाले व्यक्ति को। लेकिन तुम्हारे राजा में इन चारों बातों में से एक भी नहीं है, तब उसे कैसे प्रतिबुद्ध किया जा सकता है?

चित्त ने कहा—'महाराज को तो मैं यहाँ तक ले आऊँगा।'

यों कहकर घोड़ों की परीक्षा का बहाना बनाकर यथासमय मन्त्री महाराज 'प्रदेशी' को विश्राम के लिए 'मृगवन' में ले आया। यहाँ शिष्य समुदाय सहित बैठे 'केशी' स्वामी को देखकर राजा के मुँह से निकला—'ये जड़-मूढ़ यहाँ कौन बैठे हैं? इन सबसे काम करवाया जाता है या यों ही निठल्ले बैठे रहते हैं?'

मन्त्री चित्त ने भी समय का तीर फेंकते हुए कहा—'ये अपने आपको धर्माचार्य मानते हैं। इनकी मान्यता है—आत्मा और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। स्वर्ग-नरक, पूनर्जन्म आदि तथ्य समझने के लिए यहाँ सैकड़ों-हजारों व्यक्ति एकत्र होते हैं।'

अपने विचारों के विपरीत के प्रचारक का परिचय पाकर राजा मन-ही-मन जल-भुन गया और बोला—'तो क्या हम भी उनके पास चलें।'

'क्या आपत्ति है? अवश्य चलना चाहिए।' मन्त्री चित्त ने कहा।

दोनों मुनि के पास आये। मुनि के प्रथम दर्शन से ही राजा बहुत प्रभावित हुआ। ज्योंही पास आया, मुनि ने कहा—'उद्यान में आते ही तुमने कहा था—'ये जड़-मूढ़ कौन हैं.....?'

राजा थोड़ा सकुचाया, पर उसे मुनि के इस कथन से पता लग गया कि ये चार ज्ञान के धारी, विशिष्ट ज्ञानी हैं। ज्ञान-बल से ही इन्होंने सबकुछ जान लिया है। राजा जब योंही खड़ा रहा, तब मुनि ने कहा—'तुमने मेरी जकात की चोरी की, क्योंकि साधुओं से मिलने पर अभिवादनपूर्वक सत्कार न देना, उनकी जकात की चोरी ही तो है।'

राजा झेंप गया और जब बैठने लगा, तब पूछा—'क्या मैं बैठ जाऊँ?'

मुनिराज बोले—'बगीचा तुम्हारा है या हमारा?'

राजा पास में बैठ गया और सहमा-सहमा सा बोला—'महाराज ! क्या आपकी यह मान्यता है कि शरीर और अत्मा अलग-अलग है?'

मुनि ने कहा—'हाँ, हम आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानते हैं।'

राजा—'यदि ऐसा है तो बात यह है—मेरा दादा मेरे से भी अधिक पापकर्मों से लिप्त रहता था। आपके कहे अनुसार उनकी आत्मा निःसंदेह नरक में जानी चाहिए। लेकिन मेरे दादा मुझसे बहुत प्रेम करते थे। यदि आपकी बात सही है तो उन्हें मेरे पास यह बताने आना चाहिए था कि नरक में बहुत दुःख है तथा पापी को नरक मिलता है। लेकिन वे नहीं आये। वह वहाँ से मुझे

सावधान करने के लिए यहाँ आकर क्यों नहीं कहते कि इन कार्यों से मेरी यह अधोगति हुई है। तू ऐसे कार्य मत करना। वह कभी नहीं आये। इससे यह प्रमाणित होता है कि उनकी आत्मा नरक में नहीं गई, अपितु शरीर के साथ ही उनकी आत्मा का यहीं विनाश हो गया। शरीर से पृथक् कोई आत्मा का अस्तित्व है ही नहीं।'

केशी स्वामी ने समझाया—'तेरी महारानी 'सूरिकान्ता' के साथ यदि कोई विलासी दुराचार करता है तो तू उसे क्या दण्ड देगा?'

राजा—'जान से मार दूँगा।'

केशी—'यदि वह चाहे कि मुझे थोड़ा-सा समय दे दिया जाए जिससे मैं घर वालों को सजग कर आऊँ कि वे भविष्य में कभी ऐसा पाप न करें, तो क्या तू उसे छोड़ेगा?'

प्रदेशी—'नहीं, कभी नहीं।'

केशी—'बस, उसी तरह तेरा दादा भी वहाँ से कैसे छूट सकता है? कैसे तुझे सूचित करने आ सकता है?'

प्रदेशी—'खैर, दादा तो नहीं आ सकता पर मेरी दादी तो धर्मात्मा थी। आपके सिद्धान्तानुसार तो उसकी आत्मा स्वर्ग में गई है। वह भी यदि मुझे आकर कह दे तो मैं मान सकता हूँ।'

केशी—'राजन् ! तू स्नान करके स्वच्छ वस्त्र पहनकर स्वस्छ स्थान में जा रहा हो, उस समय यदि कोई शौचालय का निरीक्षण करने तुझे बुलाए तो क्या तू वहाँ जाएगा?'

प्रदेशी—'कभी नहीं।'

केशी—'ठीक है, इसी तरह स्वर्गीय सुखों में विभोर बनी तेरी दादी दुर्गन्धमय इस लोक में कैसे, कब और क्यों आने को तत्पर होगी?'

प्रदेशी—'भगवन् ! आप हैं तो प्रत्तयुत्पन्नमति। उत्तर भी तपाक् से दे देते हैं; पर मेरा समाधान अभी नहीं हुआ। मैंने इसका अनेक बार परीक्षण कर लिया है। देखिये, एक बार की बात है, मेरे सामने कोतवाल एक चोर को पकड़कर लाया। मैंने उसे जीवित ही लोहे की एक कुम्भी में डाल दिया। कहीं तनिक भी हवा का संचार नहीं हो सके, ऐसी मजबूत व्यवस्था कर दी। पर फिर भी कुछ दिनों बाद वह मरा निकला। मैं पूछना चाहता हूँ उसका जीव निकला किधर से? कहीं सूक्ष्म-सा भी छेद तो हुआ ही नहीं, साथ में शरीर का भी वह

रूप नहीं रह सका। वह भी बिगड़ गया था। इससे स्पष्ट जाना जा सकता है कि शरीर और जीव एक ही हैं।'

केशी—राजन् एक मजबूत कोठरी में जिसमें कि किसी भी ओर कुछ भी निकलने की गुंजाइश न हो, उसके अन्दर बैठकर कोई भेरी बजाता है तो उसका शब्द बाहर सुनाई देगा या नहीं देगा?'

प्रदेशी—'शब्द तो सुनाई देगा।'

केशी—'जैसे कोठरी के अन्दर से शब्द बाहर आ जाता है, उसी तरह जीव भी कुम्भी से निकल सकता है। देख, शब्द तो मूर्त है और जीव अमूर्त है, अर्थात् शब्द से भी अत्यन्त सूक्ष्म जीव है।'

प्रदेशी—'भगवन् ! एक प्रमाण और है। एकदा एक कुम्भी में चोर को बन्द किया गया। कुछ दिनों बाद जब देखा, तब वह तो मरा हुआ था। अन्दर कीड़े भी बहुत पड़ गये थे। मैं तो यह समझता हूँ कि ये सभी कीड़े एक ही शरीर के अंश हैं। चोर के शरीर से ही वे बन गये। उनके जीव कहीं बाहर से नहीं आये।'

केशी—'जैसे लोहे के गोले में कहीं भी छिद्र नहीं होता, फिर भी उसे गर्म करने पर अग्नि के जीव उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी बिना छिद्र के स्थान में घुस जाता है। वह तो अग्नि से भी बहुत सूक्ष्म है।'

प्रदेशी—'भगवन् ! एक तरुण धनुर्धर एक साथ पाँच बाण फेंक सकता है, पर वैसे एक वृद्ध नहीं। इससे सिद्ध होता है जीव और शरीर एक है। शरीर-वृद्धि के साथ जीव की कुशलता, जो कि उसका धर्म है, बढ़ती जाती है।'

केशी—'राजन् ! नया धनुष और नयी डोरी लेकर वह पुरुष एक साथ पाँच बाण फेंक सकता है, पर पुराने धनुष और पुरानी डोरी से नहीं। इसी प्रकार बालक, वृद्ध और तरुण में होने वाला अन्तर जीव के ह्रस्वत्व-दीर्घत्व के कारण नहीं, अपितु तत्सम्बन्धी उपकरणों के कारण होता है।

प्रदेशी—'भगवन ! तरुण पुरुष की तरह वृद्ध पुरुष भार उठाने में समर्थ नहीं होता, इसका कारण क्या है?'

केशी—' राजन ! ठीक है, इतना बड़ा भार वह भी उठा सकता है, पर युवक के पास भी यदि साधनों की कमी हो तो, वह भी अधिक भार उठाने में असमर्थ होगा। इसी प्रकार वृद्ध पुरुष भी बाह्य शारीरिक साधनों की अल्पता

के कारण अधिक भार उठाने में असमर्थ है।'

प्रदेशी—'भगवन् ! एक प्रश्न और है। मैंने एक चोर को जीवित भी तोला और मारने के बाद भी। फिर भी वजन समान रहा। दोनों बार वजन में अन्तर न आना, मेरी मान्यता की ही तो पुष्टि करता है।'

केशी—'किसी वस्तु को पहले अँधेरे में तोलो, फिर प्रकाश में तोलो, तो क्या वस्तु के भार में कुछ अन्तर आयेगा? इसी तरह एक ताजा सुगन्धित फूल तोलो, फिर उसकी सुगन्ध निकल जाए तब तोलो तो क्या वजन में अन्तर आयेगा?'[1]

प्रदेशी—'भगवन ! कोई अन्तर नहीं आयेगा। दोनों बार वजर बराबर ही रहेगा।'

केशी—'राजन ! जीव तो प्रकाश और गन्ध से भी सूक्ष्म है।[1] अतः उसके कारण वजन में न्यूनाधिकता कैसे होगी?'

प्रदेशी—'भगवन ! जीव है या नहीं, यह देखने के लिए मैंने एक चोर की जाँच की। मैंने पहले उसे चारों ओर से देखा। फिर उसके टुकड़े-टुकड़े करके देखा। पर जीव कहीं दिखाई नहीं दिया। यदि जीव शरीर से भिन्न होता तो कहीं न कहीं दिखाई अवश्य देता।'

केशी—'राजन ! तू उस मूर्ख लकड़हारे की तरह है, जिसने आग पैदा करने के लिए अरणी की लकड़ी के टुकड़े-टुकड़े कर दिये; पर आग उसे उस लकड़ी में कहीं नहीं मिल सकी। तब निराश होकर बैठ गया। उसी के अन्य साथी ने लकड़ी के दो टुकड़ों को परस्पर रगड़कर आग पैदा करके दिखा दी।'

प्रदेशी—'भगवन ! भरी सभा में मुझे मूर्ख कहना क्या उचित है? यानी मैं तो मूर्ख लकड़हारे की तरह हूँ, पर आप तो कुशल हैं। उस दूसरे पुरुष की तरह सबको जीव पैदा करके दिखा दीजिए।'

केशी—'यह देख सामने वाले वृक्ष की टहनियाँ हिल रही हैं, फिर भी हमें हवा दिखाई नहीं देती, जो कि मूर्त है, तब अमूर्त जीव कैसे दिखाया जा सकता है?'

---

१. मूल कथा में प्रकाश और पुष्पगंध के स्थान पर खाली मशक और हवा से भरी मशक को तोलने का उदाहरण दिया गया है। यह उदाहरण स्थूल है, क्योंकि हवा में भार होता है। इस वार्तालाप में इतना अन्तर इसलिए किया गया है कि केशी मुनि के अन्य तर्कों की तरह यह भी अकाट्य प्रमाणित हो।

'अब रहा मूर्ख कहने का प्रश्न ! तू जानता ही है कि परिषद् चार तरह की होती है—क्षत्रिय परिषद्, गृहपति परिषद्, ब्राह्मण परिषद् और ऋषि परिषद्। तू यह भी जानता होगा कि किस परिषद् में कौन-सी दण्डनीति अपनायी जाती है?'

प्रदेशी—हाँ, भगवन ! क्षत्रिय परिषद् का अपमान करने वाला हाथ-पैर या जीवन से हाथ धो बैठता है। गृहपति परिषद् का अपराधी बाँधकर आग में डाला जा सकता है। ब्राह्मण परिषद् का अपराधी विविध प्रकार के चिह्न लगाकर देश से निकाला जा सकता है। पर ऋषि परिषद् के अपराधी को केवल प्रेमपूर्वक उपालम्भ दिया जा सकता है तथा कठोर शब्द कहे जा सकते हैं।'

केशी—'दण्डनीति से परिचित होकर भी मुझसे क्या पूछता है....?'

प्रदेशी विनम्र होकर बोला—'मेरा भ्रम तो प्रथम प्रश्न के उत्तर से ही मिट गया था, फिर भी विशिष्ट जानकारी की दृष्टि से आपको श्रम दिया तथा कठोर शब्दों में आपकी अवमानना की।'

केशी—'राजन ! तुम जानते हो, व्यापारी चार तरह के होते हैं—(१) माँगने वाले को वचन से सन्तोष देता है तथा धन भी देता है। (२) वचन से सन्तोष देता है, पर देता कुछ भी नहीं। (३) माँगने वाले को देता तो है, पर वचन से सन्तोष नहीं देता है। (४) न देता है और न वचन से सन्तोष ही देता है। तो राजन् ! तुम कौन से व्यापारी हो, सोच लो।'

प्रदेशी—'महाराज ! मैं अपना पुश्तैनी धर्म कैसे छोड़ दूँ?'

केशी—'राजन् ! तुम लोहवणिक् की तरह पश्चात्ताप करोगे। जिस प्रकार लोहवणिक् ने अपने साथियों का कहना न माना। बहुत समझाने पर भी उसने जवाहारात न लिये और लोहे के भार को ही लेकर घर आया तथा जीवन-भर पछताया, उसी प्रकार अपने पुश्तैनी धर्म को न छोड़कर तुम भी पछताओगे।'

राजा प्रतिबुद्ध होकर श्रमणोपासक बना। सारे राज्य को चार विभागों में विभक्त करके धर्मध्यान में लीन हो गया। 'हमेशा धर्म में रमणीक रहना। ईख के खेत की तरह, नटों की शाला की तरह तथा धान के खलिहानों की तरह अरमणीक (असुन्दर) मत बन जाना।' यों कहकर मुनिवर तो विहार कर गये। राजा बेले-बेले का तप करने लगा। महारानी ने इसे धर्मग्रथिल समझकर तेरहवें बेले के पारणे में विष-मिश्रित भोजन करवा दिया। फिर रानी को पता लगा

कि विष उतारने वाली मुद्रिका राजा के पास है, तब पुन: आयी और कंठ मसोसकर उसे मार दिया।

राजा समभाव में लीन समाधिपूर्वक मरकर पहले देवलोक के सूर्याभविमान में सूर्याभदेव के रूप में पैदा हुआ। यहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जाकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।

—रायप्रसेणी सूत्र

१३७. प्रभव स्वामी

भरतक्षेत्र के विंध्याचल पर्वत के पास एक नगर था जिसका नाम 'जयपुर' था। वहाँ के महाराज 'विंध्य' के दो पुत्र थे—'प्रभव' और 'प्रभु'। राजघरानों में बड़ा पुत्र ही राज्याधिकारी होता है। परन्तु राजा ने 'प्रभव' को शासन-भार न सौंपकर छोटे पुत्र 'प्रभु' को राज्य दिया। 'प्रभव' ने इसे अपना भयंकर अपमान समझा। पिता के प्रति आक्रोश तो था ही, परन्तु 'प्रभु' पर भी रोष कम न था। सोचा, इसे क्या जरूरत थी मेरा अधिकार लेने की? इसे स्पष्ट अस्वीकार कर देना चाहिए था। यही सोचकर 'प्रभव' ने 'प्रभु' को सभी प्रकार से दु:खित करना चाहा।

'विंध्य' पर्वत के पास ही एक गाँव 'चोरपल्ली' बसाकर वहाँ रहने लगा। अपने साथ अपने पाँच सौ अन्य साथियों को भी मिला लिया। आसपास में लूट-पाट करनी शुरू कर दी। उसने अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी दो विद्याएँ भी सिद्ध कर लीं और दुर्दान्त दस्यु बन गया। अब वह मगध की राजधानी चम्पा तक धावा मारने लगा। उसकी दुस्साहसिकता इतनी बढ़ चुकी थी कि राजकर्मचारी उसका कुछ भी न बिगाड़ पाते।

जम्बूस्वामी की ससुराल से दहेज की चर्चा सुनकर प्रभव अपने साथियों सहित वहाँ उस अपार धनराशि को लेने के लिए पहुँचा। गया तो अधिक लाभ की आशा से था, परन्तु पल्ले पड़ी निराशा। वहाँ साथियों के हाथ-पाँव चिपक गये। तब ऊपर महल में जहाँ 'जम्बूस्वामी' अपनी पत्नियों के साथ धर्मचर्चा कर रहे थे, वहाँ पहुँचा। 'प्रभव' ने बाहर से सारी चर्चा सुनी। मन में सोचा—'कहाँ तो मैंने राजपुत्र होकर चोरी का धन्धा शुरू कर रखा है, कहाँ ये जम्बूस्वामी, जो इस चढ़ते यौवन में इन नवयुवतियों तथा अतुल वैभव को ठुकराकर जा रहे हैं। धन्य है इन्हें!' यों विचारकर जम्बूस्वामी के चरणों में जा

गिरा। अपने साथियों को भी वैरागी बना लिया। सभी जम्बूस्वामी के साथ संयमी बन गये।

साधुत्व स्वीकार कर 'प्रभव' स्वामी दुष्कर तपःसाधना में जुटे। अनेक शास्त्रों में पारंगत बने। चतुर्दशपर्वूधारी बने। जम्बूस्वामी के निर्वाण के बाद उनके पट्ट पर 'प्रभव' स्वामी आसीन हुए। अपनी एक सौ पाँच वर्ष की सर्वायु को भोगकर भगवान् महावीर के ७५ वर्ष बाद स्वर्गवासी हुए। इनका स्वर्गारोहण समय वि. सं. ३६५ से पूर्व का माना जाता है।[1]

—कल्पसूत्र सुबोधिका

१३८. प्रभावती

'प्रभावती' वैशाली के महाराज 'चेटक' की पुत्री थी। वैसे 'चेटक' की सात पुत्रियाँ थीं और सातों ही महासती थीं। 'प्रभावती' का विवाह 'सिंधुसौवीर' के महाराज 'उदायन' के साथ हुआ। अभीचिकुमार इसी महासती 'प्रभावती' का पुत्र था। भगवान् महावीर के उपदेश से प्रतिबुद्ध होकर जब 'प्रभावती' साध्वी बनने को तैयार हुई, तब 'उदायन' ने कहा—'मैं साध्वी बनने की आज्ञा इस शर्त पर दे सकता हूँ, कि साध्वी बनकर मरणोपरान्त देवी बनो, तब मुझे आकर प्रतिबोध दो।' सती ने राजा की बात स्वीकार कर ली। राजा ने यों वचनबद्ध करके आज्ञा दे दी। सती ने प्रभु के पास दीक्षा ली।

'प्रभावती' सती-शिरोमणि 'चन्दनबाला' के नेतृत्व में अपनी आत्मसाधना में लीन रहने लगी। अन्त में अनशनपूर्वक समाधिमरण प्राप्त करके स्वर्ग में गई। स्वर्ग में जाकर वचनबद्धता के कारण महाराज 'उदायन' को सत्यधर्म का मर्म समझाकर भगवान् का भक्त बनाया।

'उदायन' शासक था, फिर भी उसका जीवन-व्यवहार धार्मिकता से कितना ओत-प्रोत था, यह उस समय सबके सामने आया। जब बन्दी बने चण्डप्रद्योत को सच्ची क्षमायाचना करने के लिए मुक्त कर दिया। माना 'चण्डप्रद्योत' दोषी था; क्योंकि उसने महाराज 'उदायन' की दासी 'स्वर्णगुल्लिका' का अपहरण किया था। उसे लाने के लिए 'उदायन' भीषण गर्मी में विशाल सेना लेकर समरांगण में गया। एक बार बीच में ऐसा प्रसंग भी आया कि जल के अभाव

१. कई कहते हैं ये प्रभव स्वामी अन्य थे।

में सारी सेना तड़पने लगी, तब 'प्रभावती' के जीव वाले देव ने तत्काल अपनी दिव्यशक्ति से विशाल जलाशय बनाकर सारी सेना को मरने से बचाया। इन सारे कष्टों को सहकर 'उदायन' ने चण्डप्रद्योत को युद्ध में बन्दी बना लिया, पर उसे ही क्षमायाचना करने के लिए मुक्त करके अपनी सही धार्मिकता का परिचय दिया। यह सारा प्रभाव महासती प्रभावती द्वारा दिये गये प्रतिबोध का ही था।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

—आवश्यक निर्युक्ति १०

१३६. प्रभास गणधर

'राजगृह' में रहने वाले 'बल' ब्राह्मण की पत्नी का नाम था 'अतिभद्रा'। 'अतिभद्रा' के एक पुत्र हुआ। कर्क राशि और पुष्य नक्षत्र में पैदा होने के कारण पुत्र का नाम 'प्रभास' दिया। युवावस्था प्राप्त करके 'प्रभास' वैदिक शास्त्रों के अधिकारी विद्वान बने। वे तीन सौ शिष्यों का अध्ययन-अध्यापन बहुत कुशलता से चलाते थे। अनेक विद्याओं में निष्णात होते हुए भी मन में यह सन्देह था कि मोक्ष है या नहीं? उनके हृदय की इस गुप्त शंका का निवारण किया भगवान् महावीर ने। शंका के मिटते ही अपनी सोलह वर्ष की लघुवय में संयमी बन गये। आठ वर्ष छद्मस्थ रहे। पच्चीसवें वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष तक केवलपर्याय का पालन करके मात्र चालीस वर्ष की वय में ही मोक्ष में विराजमान हो गये। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों में वे ग्यारहवें गणधर थे।

—आवश्यक चूर्णि

१४०. प्रसन्नचन्द्र राजर्षि

'प्रसन्नचन्द्र' 'पोतनपुर' नगर के अधिशास्ता थे। भगवान् 'महावीर' का उपदेश सुनकर वैराग्य जगा। अपने लघु पुत्र को राज्य का भार सौंपकर संयमी बन गये और तपःसाधना में लीन रहने लगे।

एक बार भगवान् महावीर के साथ विहार करते हुए 'राजगृह' में पधारे। समवसरण के बाहर सूर्य के सामने ऊर्ध्वबाहु ध्यानस्थ खड़े आतापना ले रहे थे। महाराजा 'श्रेणिक' अपने दल-बल सहित प्रभु के दर्शनार्थ आया। 'सुमुख' और 'दुर्मुख' दोनों दूत भी साथ थे। जब 'दुर्मुख' ने ध्यानस्थ मुनि को देखा,

तब 'सुमुख' से कहा—'अरे सुमुख ! देखो तो सही, यह ढोंगी मुनि यहाँ ध्यान करके खड़ा है। अपने पुत्र के प्रति इसके दिल में तनिक भी दया नहीं है। उधर नगर पर दुश्मन राजा ने आक्रमण कर दिया, वहाँ उसका रखवाला कौन है? राज्य छीन लिया जाएगा। इसकी पत्नी का भी बुरा हाल होगा।'

दुर्मुख के ये शब्द कान में पड़ते ही 'प्रसन्नचन्द्र' मुनि का ध्यान भंग हो गया। राज्य, पुत्र और पत्नी की चिन्ता में आर्तध्यान में उलझ गये। मन-ही-मन शत्रुओं से युद्ध करने लगे।

महाराज 'श्रेणिक' ने उधर प्रभु के पास पहुँचकर उन मुनि की ग..ने के सम्बन्ध में पूछा, तब प्रभु ने कहा—'यदि इन्हीं परिणामों में उनका मरण हो तो वे प्रथम नरक मे जायेंगे।' 'श्रेणिक' आश्चर्य में था। उधर मुनि की भावना क्रूर हो रही थी, इधर श्रेणिक के प्रश्नों के उत्तर में दूसरी, तीसरी बताते-बताते सातवीं नरक प्रभु ने बता दी।

उधर मुनि मन-ही-मन युद्ध में ऐसे रत हो गये कि शत्रु को मारने हेतु अपने सिर से उतारकर मुकुट फेंकना चाहा। जब सिर पर हाथ पड़ा तब भान हुआ—छि:-छि: मैं तो मुनि हूँ। किसका राज्य? किसका पुत्र? किसका कौन? सारे सम्बन्ध झूठे हैं। यों विचार करते ही मनोभाव बदले। सातवीं नरक से चढ़ते-चढ़ते सर्वार्थसिद्ध तक उनके परिणाम पहुँच गये। मुनि भावों से निरन्तर ऊँचे और ऊँचे चढ़ रहे हैं।

इतने में सहसा राजा 'श्रेणिक' को देव-दुन्दुभियाँ सुनाई दीं। पूछने पर प्रभु ने कहा—'प्रसन्नचन्द्र' मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। 'श्रेणिक' का रोम-रोम यह संवाद सुनकर पुलकित हो उठा। प्रभु को वंदन करके अपने महलों की ओर बढ़े। जाते-जाते मन-ही-मन सोच रहे हैं—'प्रसन्नचन्द्र' मुनि अपने स्थान से न हिले, न डुले। प्रारम्भ से अन्त तक वैसे के वैसे खड़े नजर आ रहे हैं। पर भावों से कहाँ-से-कहाँ पहुँच गये। मेरा वह दुर्मुख दूत भी अपने खराब मुँह से बात कहकर मुनि की भावना को बिगाड़ने में कैसे निमित्त बन गया।

—आवश्यक कथा

१४१. बहुपत्रिका देवी

'वाराणसी' नगरी में 'भद्र' सार्थवाह की पत्नी का नाम 'सुभद्रा' था। 'सुभद्रा' रूपवती, सौभाग्यवती तथा ऋद्धिसम्पन्न थी, पर कोई सन्तान न होने से दु:खित

रहती। सन्तान के लिए वह प्रतिक्षण आर्तध्यान करती रहती। सन्तान-प्राप्ति की दिल में तीव्र अभिलाषा थी। पर हो क्या? सारे प्रयत्न बेकार रहे।

एक दिन 'सुव्रता' नाम की साध्वी उसके यहाँ भिक्षा लेने के लिए आयी। 'सुभद्रा' ने भक्तिभाव से निर्दोष आहार-पानी साध्वीश्री को दिया। आहार देकर सविनय बद्धांजलि साध्वीजी से 'सुभद्रा' ने कहा—सतिश्री ! पता नहीं कौन-से पाप का उदय है, जिससे एक भी सन्तान मेरे नहीं हुई। आपके पास कोई मन्त्र-तन्त्र-विद्या हो तो मुझे बताने की कृपा करें, जिससे एक पुत्र या पुत्री हो जाए। मैं आपका उपकार मानूँगी।

साध्वी ने प्रशान्त भाव से कहा—भद्रे ! हम साध्वियाँ हैं। संसार से विमुख हैं। ऐसी बात सुनना भी हमारी विधि से बाहर है। तब विद्या या मंत्र देने की बात तो दूर रही। हाँ, तुम चाहो तो तुम्हें वीतराग प्रभु का दिया हुआ धर्मोपदेश हम तुम्हें सुना सकती हैं।

समय देखकर साध्वीजी ने धर्मोपदेश दिया। 'सुभद्रा' ने श्रावक के बारह व्रत स्वीकार किये।

'सुभ्रदा' श्रावकधर्म का पालन लम्बे समय तक करती रही। फिर भी कोई संतान नहीं हुई। वह साध्वी बनने के लिए तैयार हो गई। पति ने पहले तो इसे साध्वी बनने की आज्ञा नहीं दी, लेकिन उसका अधिक आग्रह देखकर आज्ञा दे दी। वह 'सुव्रता' साध्वी के पास साध्वी बन गई।

संयम का निर्वाह करती, फिर भी बालक-बालिकाओं पर उसका अनुराग विशेष रहता। नगर में जहाँ भी बालकों को देखती, वहाँ उन्हें खिलाने लग जाती। वन्दनार्थ आने वाले बालकों को देखकर भी उसका स्नेह उमड़ पड़ता। किसी बालक के पैर रंग देती, किसी बालक के होंठ रंग देती, किसी बालक को अपनी गोद में लेकर खिलाने लग जाती।

जब 'सुव्रता' गुरुणी को इन सब बातों का पता लगा तो उसे ऐसा करने के लिए टोका तथा प्रायश्चित करने के लिए कहा। परन्तु वह कब मानने वाली थी ! फलतः स्वच्छन्द होकर अलग एकाकी स्थान में रहने लगी। यों अनेक वर्ष तक संयम का पालन किया। पन्द्रह दिन का अनशन करके प्रथम स्वर्ग में 'बहुपुत्री' नाम के विमान में 'बहुपुत्री' देवी के नाम से उत्पन्न हुई।

बहुपुत्री देवी प्रथम स्वर्ग से निकलकर जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक ब्राह्मण के घर में पैदा होगी। वहाँ उसका 'सोमा' नाम दिया जाएगा। 'सोमा'

का विवाह 'राष्ट्रकूट' नाम के एक ब्राह्मण के साथ होगा। वहाँ 'सोमा' सोलह वर्ष में बत्तीस पुत्रों को जन्म देगी। इतने सारे बालकों की सार-सँभाल करती हुई 'सोमा' पूरी तरह से घबरा जाएगी। ऐसे जीवन से मृत्यु को अच्छा मानेगी। मन-ही-मन सोचेगी कि जो स्त्रियाँ बन्ध्या हैं, वे ही धन्य हैं। यों जीवन से पूर्णतया ऊब जाएगी। इस अज्ञानी प्राणी की यही मनोदशा रही है—अभाव में लेने को छटपटाता है और प्राप्त होने पर ठुकराने को। सुख न अभाव में है, न अतिभाव में; यह है समभाव में। वह यह रख नहीं पाता। बस झंझट यही है।

उस समय कोई 'सुव्रता' नाम की साध्वी के पास 'सोमा' संयम स्वीकार करेगी। अनेक वर्ष तक संयम का परिपालन करके एक मास का अनशनपूर्वक समाधिमरण प्राप्त करेगी। शक्रेन्द्र के यहाँ सामानिक देव के रूप में उत्पन्न होगी। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगी।

—निरयावलिका, वर्ग ३, अ. ४

१४२. बृहस्पतिदत्त

'सर्वभद्र' नगर के राजा का नाम 'जितशत्रु' था। उसके 'महेश्वरदत्त' नाम का एक पुरोहित था। 'महेश्वरदत्त' वैसे था तो वैदिक शास्त्रों में पारंगत तथा कर्मकाण्डी; पर था क्रूर, हिंसा-प्रेमी और निर्घृण। राज्यवृद्धि-हेतु पुरोहित पुनः-पुनः यज्ञ कराता रहता। यज्ञ में मनुष्यों की बलि आँख मूँदकर देता था। यज्ञ क्या था, नर-संहार करने का एक कुत्सित उपक्रम ही था, जिसकी विधि सुनते ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों के जीवित बालकों का माँस निकालकर यज्ञ में आहुति देता। अष्टमी और चतुर्दशी को चारों ही वर्णों के दो-दो बालक—आठ बालकों की आहुति दी जाती। चौथे महीने सोलह बालकों का, छठे महीने बत्तीस बालकों का तथा वर्ष की समाप्ति पर चौंसठ बालकों का होम होता। यदा-कदा शत्रु का आक्रमण हो जाता तो उसकी शान्ति के लिए चार सौ बत्तीस बालकों का होम करने के बहाने उनके प्राणों का हत्यारा बन जाता। यों यह महेश्वरदत्त प्रचुर पापों का उपार्जन अनेक वर्षों तक करता रहा तथा मरकर पाँचवीं नरक में गया। पाँचवीं नरक से निकलकर 'कौशाम्बी' नगरी में 'सोमदत्त' पुरोहित के यहाँ पुत्र रूप में पैदा हुआ। इसकी माता का नाम 'वसुदत्ता' था और इसका नाम था

'बृहस्पतिदत्त'। जब 'बृहस्पतिदत्त' युवा हुआ तब वहाँ के युवराज 'उदायन' से इसकी मित्रता हो गई। कौशाम्बीपति शतानीक की मृत्यु के बाद जब युवराज 'उदायन' शास्ता बना तब 'उदायन' ने 'बृहस्पतिदत्त' को अपना पुरोहित बनाया।

दुष्ट व्यक्ति को मिली सफलता उसका सत्यानाश करने के लिए हुआ करती है। 'बृहस्पति' के साथ भी यही हुआ। यह बिना रोक-टोक अन्तःपुर में जाता। वहाँ 'उदायन' की महारानी 'पद्मावती' के साथ इसका अनुचित सम्बन्ध हो गया। एक दिन महाराज 'उदायन' ने बृहस्पतिदत्त को रंगे हाथों पकड़ लिया। फिर तो कुपित होना ही था। राजा कब किस के मित्र होते हैं? फिर ऐसे अत्याचारी को छूट मिले भी कैसे? तत्क्षण आदेश देकर 'बृहस्पतिदत्त' को शूली पर लटकवा दिया। शूली पर छटपटाता रहा। पर उपाय क्या? किये हुए कर्मों का फल बिना भोगे छुटकारा कहाँ? वहाँ वह दुर्ध्यान में भरकर प्रथम नरक में गया। आगे अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करेगा।

—विपाकसूत्र, ५

१४३. बंकचूल

राजा विमल के पुत्र का नाम पुष्पचूल और पुत्री का नाम पुष्पचूला था। योग्य वय होने पर पुष्पचूला का विवाह हो गया, लेकिन पति की मृत्यु होने के कारण वह अपने पिता के घर ही आ गई और वहीं रहने लगी।

पुष्पचूल राजकुमार होने पर भी व्यसनी था, चोरी की कला में अत्यन्त निपुण था। इसलिए उसका नाम बंकचूल पड़ गया। उसकी बहन पुष्पचूला उसके इन कार्यों को प्रोत्साहन देती थी। इस कारण उसका नाम भी बंकचूला पड़ गया।

बंकचूल के निन्द्य कार्यों से जनता परेशान हो गयी तो राजा विमल से शिकायत की। राजा विमल ने दोनों भाई-बहनों को देश से निकाल दिया। बंकचूल अपनी बहन बंकचूला को साथ लेकर एक भीलपल्ली में पहुँच गया। इस पल्ली का सरदार वृद्ध हो चुका था। उसने अपना सारा उत्तरदायित्व बंकचूल को सौंप दिया।

एक बार आचार्य चन्द्रयश अपने शिष्यों सहित एक सार्थ के साथ विहार कर रहे थे। साधुगण भिक्षा के लिए गये तब तक सार्थ आगे बढ़ गया। वर्षा ऋतु सिर पर थी। आचार्य बड़े पशोपेश में पड़े। उचित स्थान की गवेषणा

करते हुए वे भीलपल्ली में जा पहुँचे और बंकचूल से स्थान की याचना की। बंकचूल ने आचार्य को इस शर्त पर स्थान दिया कि वे कोई धर्मोपदेश न देंगे।

चातुर्मास पूर्ण करके जब आचार्य चन्द्रयश चलने लगे तो बंकचूल को प्रेरणा देते हुए चार बातें कहीं—

(१) कभी भी बिना जाना हुआ फल न खाना।

(२) सात-आठ कदम पीछे हटे बिना किसी पर प्रहार न करना।

(३) राजा की अग्रमहिषी को माता के समान मानना।

(४) भूलकर भी कौवे का माँस न खाना।

बंकचूल ने इन नियमों को जीवन-भर पालने का संकल्प कर दिया।

एक बार बंकचूल अपने साथियों सहित किसी गाँव को लूटने गया, लेकिन उसे कुछ भी हाथ न लगा, निराश लौटा। रास्ते में गर्मी के कारण उन सबके होंठ सूखने लगे, प्राण कंठ में आ गये। पेड़ों पर बड़े सुन्दर फल दिखाई दिये। उसके सभी साथियों ने वे फल खा लिये, लेकिन नियम के कारण उसने और उसके एक साथी ने नहीं खाये। वे विष-फल थे। जिन्होंने ये फल नहीं खाये, वे ही जीवित बचे, शेष सब मरण-शरण हो गये। बंकचूल ने नियम का परिणाम देख लिया। उसे मुनिश्री के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई।

घर पहुँचकर देखा तो उसकी पत्नी किसी पुरुष के साथ सोयी हुई है। उसे क्रोध आना ही था। म्यान से तलवार निकाल ली। उसी समय दूसरा नियम याद आया—सात-आठ कदम पीछे हटकर वार करना। वह सात-आठ कदम पीछे हटा तो तलवार दरवाजे से टकराई। आवाज होते ही पुरुष उठ बैठा और बोला—भैया ! तुम आ गये, बड़ा अच्छा हुआ। पूछने पर बहन ने बताया—आपके जाने के बाद राजा के गुप्तचर नट का वेश बनाकर आये थे। उन्हीं के कारण मैंने पुरुष वेश बनाया था। उन्हें दक्षिणा आदि देकर विदा करने में रात काफी हो गई। मेरी आँखों से नींद गहरा रही थी, इसलिए बिना वेश बदले ही सो गई।

बंकचूल की श्रद्धा आचार्यश्री के प्रति और बढ़ गई। उसने नियम-पालन का महत्त्व समझ लिया।

एक बार बंकचूल चोरी करने राजमहल में पहुँचा। वहाँ राजा की अग्रमहिषी उस पर आसक्त हो गई। लेकिन बंकचूल ने उसे माता मानकर भोग-प्रार्थना ठुकरा दी। राजा यह सब छिद्र में से देख रहा था। उसने उसे अपने

पुत्र के रूप में घोषित कर दिया। अब बंकचूल अपनी बहन बंकचूला को भी वहाँ ले आया और राजा के पुत्र के रूप में सुख से रहने लगा।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए जब आचार्य चन्द्रयश उज्जयिनी पधारे तो बंकचूल ने उनसे श्रावक के बारह व्रत ग्रहण कर लिये। शालिग्राम-निवासी श्रावक जिनदास से उसकी गाढ़ मैत्री हो गई। अब वह श्रावकधर्म का पालन करने लगा।

एक बार कामरूप देश के दुर्धर राजा ने उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया। उसका सामना करने के लिए राजा के आदेश से बंकचूल सेना लेकर मैदान में जा पहुँचा। युद्ध-कला में निपुण बंकचूल ने दुर्धर राजा को पराजित कर दिया। विजय का डंका बजाता हुआ बंकचूल लौट रहा था, तभी शत्रु ने एक विषबुझा तीर छोड़ा, जो बंकचूल की पीठ में लगा। उसे तीव्र वेदना होने लगी।

राजा ने बंकचूल के उस घाव को ठीक कराने के अनेक उपाय कराये, लेकिन सब विफल रहे। अन्त में वैद्यों ने बताया—यदि कौवे के माँस में दवाई दी जाए तो राजुकमार शर्तिया ठीक हो सकते हैं।

कौवे के माँस का नाम सुनते ही बंकचूल ने स्पष्ट इंकार कर दिया—मैं कौए के माँस का त्याग कर चुका हूँ। प्राण रहे या जाएं, मैं कौवे का माँस किसी भी दशा में न लूँगा।

राजा ने उसे बहुत मनाया-समझाया, लेकिन जब वह न माना तो उसे समझाने के लिए जिनदास श्रावक को बुलाने के लिए अपने सेवक भेजे।

श्रावक जिनदास जब आ रहा था तो मार्ग में उसे दो स्त्रियाँ रोती हुई मिलीं। रोने का कारण पूछने पर उन्होंने बताया—हम सौधर्म कल्प की देवियाँ हैं। हमारे पति स्वर्ग से च्यूत हो चुके हैं। हम राजकुमार बंकचूल से प्रार्थना करने आयी थीं; लेकिन आप उन्हें नियम-भंग करने की प्रेरणा देने जा रहे हैं। इससे उनकी अधोगति हो जाएगी।

श्रावक जिनदास ने अपना कर्त्तव्य निश्चित कर लिया। उसने जाकर राजा से कहा—महाराज ! बंकचूल का आयुष्य थोड़ा ही शेष है, अत: नियम भंग करने पर भी ये बच नहीं सकते। इसलिए इन्हें नियम का पालन करने ही दीजिए। अन्तिम समय में धर्माराधना ही उचित है।

राजा की सहमति से जिनदास ने बंकचूल को संलेखना-संथारा कराया।

बंकचूल ने पंच परमेष्ठी का जाप करते हुए समाधिमरण प्राप्त किया।

श्रावक जिनदास जब लौटकर अपने ग्राम जा रहे था तब भी उसे वही दोनों स्त्रियाँ मार्ग में मिलीं। पूछने पर देवियों ने बताया—आपने बंकचूल के भावों में इतनी विशुद्धि कर दी कि वे बारहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए हैं, हमारे स्वामी नहीं बन सके हैं।

धर्म के प्रभाव को जानकर जिनदास बहुत हर्षित हुए। धर्म का प्रभाव ही ऐसा होता है।

—विविध तीर्थकल्प (ढींपुरी तीर्थकल्प ४)

१४४. ब्राह्मी-सुन्दरी

भगवान् 'आदिनाथ' के सुमंगला और सुनंदा नाम की दो रानियाँ थीं। 'सुमंगला' ने एक युगल को जन्म दिया जिसका नाम था 'भरत' और 'ब्राह्मी' तथा 'सुनन्दा' ने जिस युगल को जन्म दिया उसका नाम था 'बाहुबली' और 'सुन्दरी'। 'ब्राह्मी' और 'सुन्दरी' जब ज्ञानार्जन के योग्य बनीं तब भगवान् 'आदिनाथ' ने 'ब्राह्मी' को अठारह लिपि-कला तथा 'सुन्दरी' को गणित-कला का ज्ञान कराया।

भगवान् 'आदिनाथ' ने प्रव्रजित होकर जब केवलज्ञान प्राप्त कर लिया तब धर्मदेशना दी। उस समय बारह जाति की परिषद् सुनने को उत्सुक बनी सम्मुख अवस्थित थी। उस परिषद् में से महाराज 'भरत' के पाँच सौ पुत्र तथा सात सौ पौत्र विरक्त बनकर प्रभु के पास दीक्षित हुए। उसी समय 'ब्राह्मी' महाराज 'भरत' की आज्ञा लेकर साध्वी बन गई। जब सुन्दरी ने दीक्षा लेनी चाही, तब 'बाहुबली' ने तो आज्ञा दे दी परन्तु 'भरत' ने आज्ञा नहीं दी। भरत ने सोचा—'सुन्दरी' जैसी सुन्दरी भी दीक्षा ले लेगी तो मैं अपने स्त्री-रत्न का पद किसे दूँगा? यह तो मेरी स्त्री-रत्न है, ऐसी सर्वगुणसम्प्रन्ना स्त्री है।

सुन्दरी को जब संयम लेने की आज्ञा न मिलने का कारण पता लगा तो मन-ही-मन अपने रूप को धिक्कारती हुई सोचने लगी—मेरा यह रूप ही मेरी दीक्षा में बाधक बना है। बस, इसे ही नष्ट कर देना चाहिए। चोर को नहीं, चोर की माँ को मारना ही ठीक रहेगा। यही सोचकर तप के द्वारा शरीर को क्षीण करने लगी। साठ हजार वर्ष तक आयंबिल तप किया। शरीर हड्डियों का ढाँचा मात्र ही रह गया।

महाराज 'भरत' जब साठ हजार वर्ष तक छ: खण्ड की साधना करके वापस विनीता नगरी में आये तब 'सुन्दरी' को देखकर दंग रह गये। जब उसके तीव्रतम वैराग्य का पता लगा तब मन-ही-मन अनुताप करते हुए 'सुन्दरी' को प्रभु के पास लेकर गये। अपनी ओर से दी हुई अन्तराय पर घोरातिघोर पश्चात्ताप करते हुए भरत ने दीक्षा की सहर्ष अनुमति दी।

प्रभु ने 'सुन्दरी' को प्रव्रजित कर दिया। 'ब्राह्मी' और 'सुन्दरी' दोनों ही भगिनियों ने तीव्रतम तप:साधना के द्वारा संयम का सकुशल पालन किया। सम्पूर्ण मोहावरण को हटाकर केवलज्ञान का उपार्जन किया। अनेक जीवों का उद्धार करके अष्टापद पर अनशन करके मोक्ष प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १

—आवश्यक निर्युक्ति गाथा, १९६/३४६

१४५. भरत-बाहुबली

'भरत' और 'बाहुबली' आदिनाथ भगवान् के सौ पुत्रों में बड़े पुत्र थे। इन दोनों में भरत बड़े थे और बाहुबली छोटे। दोनों ही महापराक्रमी बलवान् और आनबान के अनूठे योद्धा थे। 'भरत' की माता का नाम 'सुमंगला' तथा 'बाहुबली' की माता का नाम 'सुनंदा' था। वैसे भरत के अट्ठानबे छोटे भाई और भी थे।

भगवान् 'आदिनाथ' ने दीक्षा लेते समय अयोध्या का राज्य भरत को सौंपा, बाहुबली को 'बहली' देश का राज्य दिया तथा अन्य पुत्रों को अन्य देशों का। 'भरत' ने आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा होने के बाद भरतक्षेत्र के छ: खण्डों में अपना आधिपत्य जमाया। इस दिग्विजय में उसे ६०,००० वर्ष लगे। जब दिग्विजय सम्पन्न करके विनीता नगरी में लौटे तो चारों ओर विजय का अपूर्व उल्लास छा गया। लेकिन तभी पता लगा कि चक्ररत्न आयुधशाला में प्रवेश नहीं कर रहा है।

एक भी राजा जब तक चक्रवर्ती की आज्ञा स्वीकार करने से अस्वीकार होता है, तब तक चक्र आयुधशाला में प्रविष्ट नहीं होता, ऐसा नियम है। विचार करने पर 'भरत' का ध्यान अपने निन्यानबे भाईयों पर गया। जब भरत द्वारा अट्ठानबे भाईयों से आदेश मानने के लिए कहा गया, तब वे अनमने-से बन गये। 'पराधीन सपनेहु सुख नाही' मानकर भगवान् आदिनाथ के पास

दीक्षित हो गये। किन्तु जब 'बाहुबली' से कहलाया गया तब उनका सोया हुआ स्वाभिमान जाग उठा, युद्ध की चुनौती स्वीकार कर ली। चक्रवर्ती की सेना उनके राज्य पर जा धमकी। वे भी सेना सहित मैदान में आ डटे। रणांगण का दृश्य भयानक दीखने लगा। अपरिमित नरसंहार की संभावना दर्शकों की आँखों में तैरने लगी। बीच-बचाव करने वालों की ओर से नरसंहार रोककर दोनों भाईयों को परस्पर युद्ध करके हार-जीत का निर्णय करने की राय दी गई। ध्वनियुद्ध, दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध, दण्डयुद्ध—पाँच प्रकार के युद्ध किये गये। सभी युद्धों में 'बाहुबली' विजयी रहे। 'भरत' को बुरी तरह पराजय का मुँह देखना पड़ा।

पराजित व्यक्ति अपना भान भूल बैठता है। 'भरत' ने भी औचित्य-अनौचित्य का विचार किये बिना रुष्ट होकर 'बाहुबली' को मारने के लिए चक्र चला दिया। यह देवाधिष्ठित चक्र अपने भाई का कैसे संहार कर सकता था ! चक्र लौट आया, किन्तु इस जघन्यतम प्रयत्न से 'बाहुबली' फुफकार उठे। रोषारुण होकर भरत का संहार करने के लिए मुट्ठी तान ली। 'बाहुबली' की उस तनी हुई मुट्ठी को देखकर देवगण आकाश-मार्ग से बीच में आ खड़े हुए और बाहुबली से कहने लगे—वीरवर ! आपकी इस मुट्ठी का आघात सहन करने वाला यहाँ कौन है? जब आप जैसे प्रामाणिक पुरुष भी अपने बड़ों को यों मारने लगेंगे तब बड़ों का सम्मान कौन करेगा? महाराज 'भरत' ने आपके साथ जो भी व्यवहार किया है उसे पहुँचे हुए साधक की भांति क्षमा कीजिए। उसे भूल जाइये।

देवों के उद्बोधन से 'बाहुबली' का क्रोध शान्त हुआ। उठाई हुई मुट्ठी को वापस क्या करना था? अपने सिर का लुंचन करके साधु बन गये।

विजयी 'बाहुबली' को मुनि देखकर 'भरत' पैरों में झुक गये। अनुताप करते हुए राज्य का भार सँभालने के लिए कहा। आयुधशाला में चक्र के न घुसने की अपनी विवशता बताई। क्षमायाचना करके अपने स्थान पर आये और शासन का संचालन करने लगे।

'बाहुबली' मुनि के मन में आया—यदि मैं भगवान् आदिनाथ के पास जाऊँगा तो मेरे से पूर्वदीक्षित लघु भाईयों की वन्दना करनी पड़ेगी। साधना व्यक्ति की होती है—यही सोचकर वहीं वन में ध्यानस्थ खड़े हो गये। खाना-पीना तो छोड़ा ही, पर साथ में तन की चंचलता का परित्याग करके प्रस्तर मूर्ति

की भांति अविचल खड़े हो गये। शरीर कृश हो गया। पक्षियों ने वहाँ अपने घोंसले बना लिये। बारह महीने व्यतीत हो गये।

भगवान् 'आदिनाथ' ने जब यह सब कुछ देखा तब 'ब्राह्मी' और 'सुन्दरी' को वहाँ उपदेश देने भेजा। दोनों भगिनियों ने मृदु स्वर से प्रबुद्ध करते हुए कहा—'बन्धुवर ! आप इस अहंकार के गजराज पर सवार हैं। उससे नीचे उतरिये। वहाँ चढ़े-चढ़े केवलज्ञान नहीं होगा।'

'बाहुबली' चौंके। अपनी भूल का भान हुआ। अपने लघु बांधवों को वन्दनार्थ जाने की भावना की। तत्क्षण केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।

महाराज 'भरत' चक्रवर्ती बनकर बहुत लम्बे समय तक न्याय-नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करते रहे। एक दिन वस्त्राभूषणों में सुसज्जित होकर अपने रूप को देखने शीशमहल में गये। अपने वैभव पर, अप्रतिम सौन्दर्य पर फूले नहीं समा रहे थे। इतने में सहसा एक अंगुली की ओर ध्यान गया। अंगुली सुन्दर नहीं लग रही थी। कारण की खोज करने पर ध्यान आया, इनमें अंगूठी पहननी ही भूल गया। तत्क्षण चिन्तन बदला। सोचा, यह सारी शोभा-सुन्दरता बाह्य सामग्री से है। मैं भी कैसा बेभान रहा। बाह्य सामग्री में ही मुग्ध बना रहा।

यों चिन्तन करते-करते उस शीशमहल में ही केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। देवताओं ने साधु वेश दिया। निर्वाण प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १/६

१४६. भाविनी-कर्मरेख

मनोरमपुर के राजा रिपुमर्दन के कोई पुत्र न था, सिर्फ 'भाविनी' नाम की एक पुत्री थी। वह राजा को प्राणों के समान प्रिय थी। बाल्यावस्था में वह एक कलाचार्य के पास विद्या पढ़ती थी।

इसी नगर में धनदत्त नाम का एक निर्धन श्रेष्ठी रहता था। उसका 'कर्मरेख' नाम का पुत्र भी इसी कलाचार्य के पास पढ़ता था।

एक बार कुतूहलवश भाविनी ने गुरु से पूछा—मेरा पति कौन होगा? गुरु ने ग्रह आदि देखकर बताया—यह कर्मरेख ही तुम्हारा पति होगा।

यह सुनते ही भाविनी को बड़ा रोष आया। वह कोपभवन में जा लेटी। राजा के पूछने पर भाविनी ने सब कुछ स्पष्ट बताकर कहा—मैं ऐसे निर्धन के साथ कभी विवाह न करूंगी। ऐसा उपाय होना चाहिए कि यह कर्मरेख रहे ही नहीं।

प्रिय पुत्री के हठ से विवश होकर राजा ने कर्मरेख को फांसी की सजा दे दी। लेकिन बधिक जब उसे वधस्थल पर ले गया तो उसके मन में विचार आया—निरपराध बालक को मारना उचित नहीं है। उसने उसे छोड़ दिया और राजा को आकर बता दिया कि कर्मरेख समाप्त हो चुका है।

कर्मरेख वहाँ से चला गया। चलते-चलते वह श्रीपुर नगर के बाहरी भाग में आकर सो गया।

श्रीपुर नगर में श्रीदत्त नाम का एक श्रेष्ठी रहता था। उसकी श्रीमती नाम की एक पुत्री थी। उस सेठ को रात्रि में उसकी कुलदेवी ने दर्शन देकर कहा—इस गाँव के बाहर प्रातःकाल के समय सोते हुए जिस युवक के पास तुम्हारी काली गाय खड़ी हो, उसी के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर देना।

कुलदेवी के निर्देशानुसार श्रीदत्त सेठ गया तो उसे कर्मरेख मिल गया। उसने उसी के साथ अपनी पुत्री श्रीमती का विवाह कर दिया। यहाँ कर्मरेख ने अपना असली नाम छिपाकर रत्नचन्द्र नाम बताया।

एक बार अपने श्वसुर श्रीदत्त की आज्ञा लेकर कर्मरेख समुद्र-मार्ग से व्यापार करने लगा। परदेश में उसने बहुत धन कमाया, लेकिन वापस लौटते समय उसका वाहन भंग हो गया। वह समुद्र में गिर गया। समुद्र में उसे एक मत्स्य निगल गया। वह मत्स्य समुद्र के किनारे आकर लेट गया। वहाँ उसे मछुओं ने पकड़ लिया। चीरने पर कर्मरेख जीवित निकल गया। उन मछुओं ने उसे भृगुपुर (भड़ौंच) के राजा को भेंट कर दिया। राजा के कोई पुत्र न था। अतः उसने उसे अपना पुत्र मान लिया और कुंडनपुर के राजा की पुत्री के साथ उसका विवाह भी कर दिया।

इधर राजा रिपुदमन ने भी अपनी पुत्री भाविनी का स्वयंवर किया। स्वयंवर में कर्मरेख भी आया। भाविनी ने उसी के गले में वरमाला डाल दी। दोनों का विवाह हो गया।

एक दिन कर्मरेख स्वर्णथाल में भोजन कर रहा था। भाविनी पंखा झल रही थी। उसी समय बड़े जोर की आंधी चलने लगी। भोजन में धूल न गिर जाए, इसलिए भाविनी ने अपने वस्त्र की ओट कर दी। यह देखकर कर्मरेख को पुरानी स्मृति हो आयी और वह मुस्करा उठा।

इस मुसकराहट का रहस्य जब भाविनी ने अत्याग्रह करके पूछा तो कर्मरेख ने सब कुछ स्पष्ट बता दिया। भाविनी लज्जा और संकोच से गड़ गई। उसे

अपने किये पर बहुत पश्चात्ताप होने लगा। तब कर्मरेख ने उसे धैर्य बँधाते हुए कहा—होनी अटल होती है। जैसी होनहार होती है, वैसी ही बुद्धि हो जाती है, वैसे ही निमित्त मिल जाते हैं। तुम शोक मत करो। तुमने तो मेरा उपकार ही किया। यदि मैं मनोरमपुर से न निकलता तो राजा कैसे बनता।

कर्मरेख के इस प्रकार समझाने से भाविनी का शोक दूर हो गया। वह कर्म की अटलता पर विश्वास करने लगी।

राजा कर्मरेख ने कर्म क्षय करने के लिए वृद्धावस्था में संयम लिया और दुस्तर तप करके सद्गति प्राप्त की।

—उपदेश प्रासाद, भाग ४

१४७. भोजकवृष्णि-अन्धकवृष्णि

मथुरा नगरी में सूर नाम का एक हरिवंशीय राजा था। उसके दो पुत्र थे—सौरि और सुवीर। सौरि राजा ने सौरीपुर नगर (सूर्यपुर, आगरा) बसाया। सौरि राजा के पुत्र का नाम अन्धकवृष्णि (विष्णु) और सुवीर राजा के पुत्र का नाम 'भोजकवृष्णि' (विष्णु) था। 'अन्धकवृष्णि' की महारानी 'सुभद्रा' के 'समुद्रविजय', 'वसुदेव' आदि दस पुत्र थे, जो दस दिशार्ह कहलाये। पाण्डवों की माता 'कुन्ती' तथा 'शिशुपाल' की माता 'माद्री' ये दो पुत्रियाँ थीं। सुवीर के पुत्र भोजकवृष्णि के उग्रसेन और देवसेन—दो पुत्र थे। 'सत्यभामा', 'राजीमती', नामक दो पुत्रियां थीं। 'उग्रसेन' के पुत्र 'कंस' तथा 'अतिमुक्तक' थे। देवसेन राजा की पुत्री का नाम था 'देवकी' जो जगत्प्रसिद्ध वासुदेव श्रीकृष्ण की माता थी। वैसे इन दोनों भाईयों का परिवार पर्याप्त रूप से विशाल, समृद्ध तथा श्रीसम्पन्न था। अनेकानेक प्रामाणिक पुरुष भगवान् 'नेमिनाथ', श्रीकृष्ण, बलभद्र आदि इसी कुल में अवतरित हुए।

—आवश्यक चूर्णि
—वसुदेव हिण्डी

१४८. मघवा चक्रवर्ती

सावत्थी (श्रावस्ती) नगरी के महाराज 'समुद्रविजय' की पटरानी का नाम 'भद्रा' था। भद्रा ने चौदह स्वप्न देखकर एक भाग्यवान पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम रखा गया 'मघवा'। युवावस्था में अनेक राज-कन्याओं के साथ

'मघवा' का पाणिग्रहण हुआ। जब आयुधशाला में चक्र पैदा हो गया तब 'मघवा' ने छः खण्डों पर अपना अधिकार जमाया। यह तीसरा चक्रवर्ती कहलाया। अन्त में संयम का पालन करके मोक्ष में विराजमान हुआ।

पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ के बाद ये चक्रवर्ती हुए।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ४, सर्ग ६

१४६. मधुबिन्द

हस्तिनापुर में धनपाल नाम का सार्थवाह रहता था। वह विदेशों में जाकर व्यापार किया करता था। एक बार जब वह व्यापार के लिए सार्थ लेकर जाने लगा तो उसने नगरी के अन्य व्यापारियों को भी साथ चलने को कहा। बहुत से लोग साथ चलने को तैयार हो गये। उनमें एक जयचन्द नाम का व्यक्ति भी था।

सार्थ चल दिया। एक सघन वन में पेड़ों की छाया में सार्थ ठहरा और सभी विश्राम करने लगे।

सुखपूर्ण निद्रा लेने के लिए जयचन्द सार्थ से दूर जाकर एक पेड़ की घनी छाया में सो गया। उसे गहरी नींद आ गई। सार्थवाह धनपाल को जयचन्द का ध्यान न आया और वह सार्थ लेकर आगे बढ़ गया।

इधर जयचन्द की नींद सूर्यास्त के समय टूटी। देखा तो सार्थ जा चुका था। वह बहुत घबराया। रात किसी तरह काटी और सुबह एक ओर को चल दिया। एक हाथी ने उसे देख लिया। हाथी उसके पीछे भागा। जयचन्द भी प्राण बचाने को मुट्ठी बांधकर भागा। भागते-भागते उसे एक विशाल वृक्ष की मोटी शाखा दिखाई दे गई। वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर उछला और शाखा से लटक गया। पीछे भागते हुए हाथी ने उसे सूंड में लपेटने की चेष्टा की, लेकिन जब सूंड में उसे न लपक सका तो वह वृक्ष के तने को ही सूंड से गिराने का प्रयत्न करने लगा।

वृक्ष पर मधुमक्खियों का छत्ता था। हाथी के हिलाए जाने पर मधुमक्खियाँ उड़ीं और जयचन्द को काटने लगीं। जयचन्द ने नीचे देखा तो एक अन्धकूप था जिसमें एक भयंकर नाग फन फैलाए फुफकार रहा था। उसकी दृष्टि ऊपर गई तो देखा कि जिस डाल पर वह लटका हुआ है, उसे सफेद और काले रंग के दो चूहे कुतर रहे हैं। चारों ओर से विपत्तियों में घिरा जयचन्द बेहाल हो गया। उसे मौत नजर आने लगी। तभी शहद के छत्ते से एक बूं

मुँह में गिरी। वह छत्ते की ओर लालसा-भरी दृष्टि से देखने लगा।

तभी आकाश-मार्ग से एक विद्याधर और विद्याधरी विमान में बैठे निकले। विद्याधरी को उस पर दया आ गई। उसने अपने पति से उसे बचाने का आग्रह किया। विद्याधर ने विद्याधरी से कहा—'प्रिये ! वह हमारी बात नहीं मानेगा, क्योंकि वह मधुबिन्दु का लोभी बना हुआ है।' लेकिन विद्याधरी ने फिर भी आग्रह किया। उसके आग्रह को मानकर विद्याधर अपना विमान जयचन्द के पास लाया और बोला—'भाई ! तुम विमान में बैठ जाओ। इन सब संकटों से मुक्त हो जाओगे। तुम्हें निरापद स्थान पर पहुँचा दूंगा।'

जयचन्द बोला—आपका कहना ठीक है, लेकिन एक बूंद शहद चाट लूं, तब चलूंगा।

एक बूंद शहद गिरा। जयचन्द ने वह चाट लिया। विद्याधर ने चलने को कहा तो दूसरी बूंद चाटने की इच्छा प्रकट की। इसी तरह विद्याधर चलने का आग्रह करता रहा और जयचन्द मधुबिन्दु चाटने की इच्छा प्रकट करता रहा। आखिर निराश होकर विद्याधर चला गया।

यही दशा सभी संसारी जीवों की है। गजराज महाकाल का रूप है जो समस्त संसार को क्षुभित किए हुए है। सफेद और काले रंग के दो चूहे दिन और रात के रूप हैं, जो प्रति क्षण मनुष्य की आयुरूपी डोर को काट रहे हैं। अंधकूप नरक-निगोद के समान है, जिसमें गिरकर मनुष्य अनन्तकाल के लिए पतित हो जाता है और मधुमक्खियाँ परिवारीजनों के समान हैं, जो मनुष्य को डंक मार-मारकर दुखित करते रहते हैं। इतने संकटों के होने पर भी मनुष्य काम-भोगरूपी मधुबिन्दु के क्षणिक रसास्वादन में लुब्ध बना रहता है। वह सद्गुरुदेवरूपी विद्याधर की बात मानकर संकट-मुक्ति का उपाय नहीं करता और इसी दशा में भव-भ्रमण करता रहता है।

—धर्मोपदेशमाला
—जम्बूकुमारचरियं

१५०. मरीचिकुमार

'मरीचि' कुमार भगवान् 'ऋषभदेव' के ज्येष्ठ पुत्र भरत का पुत्र था। 'मरीचि' कुमार ने भी 'आदिनाथ' के साथ ही संयम स्वीकार किया था। पर गर्मी में तृषा का परीषह नहीं सह सकने के कारण जैन मुनि के वेश का त्याग कर

त्रिदंडी तापस बन गया। विशेष बात यह रही कि तापस के वेश में भी भगवान् आदिनाथ द्वारा प्रतिवादित जैन धर्म के सिद्धान्तों का जनता को उपदेश देता। जो विरक्त हो जाता, उन सिद्धान्तों के प्रति आकर्षित होता, उसे भगवान 'ऋषभदेव' के पास भेज देता।

यों करते-करते एक बार 'मरीचि' अस्वथ हुआ। उस समय उसके पास शिष्य न होने से सेवा करने वाला कोई नहीं था। तब उसमें अपना शिष्य बनाने की भावना जगी। अब कोई भी उपदेश लेने के लिए आता तो उसे मरीचि कहने लगा—मेरे पास भी धर्म का सच्चा तत्त्व है।

एक बार भगवान् 'ऋषभदेव' समवसरण (धर्मसभा) में देशना दे रहे थे। देशना की समाप्ति पर महाराज 'भरत' ने पूछा—प्रभुवर ! इस विशाल परिषद् में आप जैसा महासमर्थ, सौभाग्यवान् और ऐसी सम्पत्ति पाकर तीर्थंकर हो सके, ऐसा कोई व्यक्ति है?

प्रभु ने कहा—इस सभा में नहीं, सभा के बाहर बैठा तुम्हारा ही पुत्र 'मरीचि' कुमार है, जो अभी त्रिदंडी तापस के वेश में है। वह इस अवसर्पिणी काल का अन्तिम तीर्थंकर 'महावीर' होगा। इतना ही नहीं, वह 'मरीचि' इस भरतक्षेत्र का और इस काल का 'त्रिपृष्ठ' नाम का प्रथम 'वासुदेव' तथा महाविदेहक्षेत्र में 'प्रियमित्र' नाम का चक्रवर्ती भी होगा।

महाराज 'भरत' अपने पुत्र के बढ़ते वर्चस्व को सुनकर पुलकित हो उठे। 'मरीचि' के पास आकर सारा संवाद सुनाया। 'मरीचि' का मन बाँसों उछलने लगा। कुल-मद में उछलता हुआ बोला—'मेरे कुल का क्या कहना? यह कितना श्रेष्ठ है ! मेरे दादा इस युग के प्रथम तीर्थंकर हैं। मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं। मैं प्रथम वासुदेव बनूंगा। कुल का क्या, मुझे भी तो देखो। मैं अकेला ही वासुदेव बनूंगा, चक्रवर्ती भी बनूंगा तथा तीर्थंकर भी बनूंगा।'

यों कुल और गोत्र के मद में मरीचि बाग-बाग हो गया। यह भगवान् 'महावीर' का तीसरा भव था। सत्ताईसवें भव में यही 'मरीचि' भगवान् महावीर के रूप में चरम तीर्थंकर के रूप में पैदा होकर कर्मों का नाश करके मोक्ष में विराजमान हुए।

—आवश्यक मलयगिरि

१५१. मरुदेवी माता

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में 'विनीता' नगरी में एक युगल पैदा हुआ, जिसका नाम था 'नाभि' और 'मरुदेवी'। उस युग की परिपाटी के अनुसार दोनों का विवाह हुआ। यह वह समय था, जब यौगलिक परंपरा समाप्त प्राय थी। कुलकर व्यवस्था चल रही थी। राज्य-प्रणाली की प्रतिस्थापना हो, यह आवश्यक-सा प्रतीत हो रहा था। 'नाभि' चौदहवें कुलकर हुए। 'मरुदेवी' के भी एक युगल उत्पन्न हुआ, जिसका नामकरण हुआ—'ऋषभदेव' और 'सुमंगला'।

भगवान 'ऋषभनाथ' असि, मसि, कृषि कर्म का प्रशिक्षण देकर राज्य व्यवस्थित करके संयमी बने। मरुदेवी पुत्र के मोह में व्याकुल रहने लगी।

एक बार चक्रवर्ती 'भरत' जब माता 'मरुदेवा' को प्रणाम करने आये तब शोकाकुल 'मरुदेवी' ने भरत को बहुत-बहुत उलाहने दिये। यहाँ तक कह दिया कि तू तो राज्य में लुब्ध बना बैठा है। तुझे क्या पता 'ऋषभ' सुखी है या दुःखी है। उसे कौन भोजन खिलाता होगा? कौन पानी पिलाता होगा? भूखा-प्यासा बेहाल बना ज्यों-त्यों अपना समय काटता होगा।

'भरत' को अपनी भूल पर अनुताप हुआ। सेवकों को शीघ्रातिशीघ्र पता लगाकर संवाद देने का आदेश दिया। इतने में संवाद मिला कि प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। वे इस समय विनीता नगरी के बाहर विराजमान हैं और समवसरण में देशना दे रहे हैं। महाराज 'भरत' 'मरुदेवा' को दर्शनार्थ समवसरण की ओर ले चले। हाथी के हौदे पर बैठी हुई माता मरुदेवा दूर से ही भगवान् 'आदिनाथ' का वह तीर्थंकरोचित ऐश्वर्य देखकर चकित रह गई। मन ही मन सोचने लगी—मैं तो चिन्ता कर रही थी कि वह दुःखी होगा, पर यह तो यों सुखों में झूल रहा है। अद्‌भुत ऐश्वर्य है इसका ! मेरी ओर देखता भी नहीं।

यों विचार करते-करते संसार की असारता का ज्ञान हुआ। भावना का प्रवाह बहुत ही वेग से प्रभावित हुआ। हाथी पर बैठे-बैठे ही क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष में जा विराजीं।

महाराज 'भरत' जब प्रभु के दर्शन करते हैं, तब प्रभु सहसा फरमाते हैं— 'मरुदेवा भगवई सिद्धा'—मरुदेवा भगवती मोक्ष में पहुँच गई हैं। 'भरत' चौंके। आकर देखते हैं—हाथी पर बैठे-बैठे ही माता मरुदेवा दिवंगत हो गई हैं।

माता 'मरुदेवा' इस युग की प्रथम सिद्ध गति में जाने वाली बनीं।

—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, उसहचरियं

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व १

१५२. मल्लिकुमारी के छः मित्र

१. राजा प्रतिबुद्धि

'मल्लिनाथ' भगवान् के छः मित्रों में एक मित्र हुआ 'साकेत' नगरी का महाराज 'प्रतिबुद्धि'। उसकी रानी का नाम पद्मावती और मन्त्री का नाम सुबुद्धि था।

एक बार वह अपनी रानी 'पद्मावती' द्वारा किये गये नागयज्ञ में भाग लेने गया। वहाँ अपूर्व श्रीदामगंडक (माला) को देखकर अतिविस्मित हुआ। मन्त्री से पूछा—'क्या तुमने पहले ऐसी माला देखी है?'

मन्त्री ने कहा—'देव ! विदेहराज की कन्या मल्लि के पास जो माला है, उसके लक्षांश से भी यह तुलनीय नहीं होती।'

राजा ने पुनः पूछा—बताओ, वह कैसी है?

सचिव ने कहा—राजन् ! उस जैसी दूसरी है ही नहीं, तब भला मैं बताऊँ भी कैसे?

राजा का मन विस्मय से भर गया। मल्लि की ओर वह आकर्षित हो गया। उसने विवाह का प्रस्ताव लेकर दूत को मिथिलापुर की ओर भेज दिया।

२. राजा चन्द्रच्छाया

महाराज 'चन्द्रच्छाया' 'चम्पा' नगरी में राज्य करता था। उसी नगरी में 'अर्हन्नक' नाम का एक समुद्री व्यापारी रहता था। एक बार वह यात्रा से वापस लौटकर आया तो दो दिव्य कुंडल राजा को भेंट किये। राजा ने पूछा—'तुम लोग अनेक देशों में घूमते हो। वहाँ तुमने कहीं कोई नयी चीज देखी है?'

अर्हन्नक ने कहा—'स्वामिन् ! इस बार सामुद्रिक यात्रा में देव ने मुझे धर्म से विचलित करने के लिए अनेक उपसर्ग किये। मैं धर्म में अडिग रहा। तब प्रसन्न होकर दो दिव्य कुंडल युगल उसने मुझे दिये। मैंने एक कुंडल युगल महाराज 'कुंभ' को उपहार दिया। उन्होंने अपने हाथों से वे कुंडल अपनी पुत्री 'मल्लि' को पहनाए। उस कन्या को देख मैं अत्यन्त विस्मित हुआ। ऐसा रूप

और लावण्य मैंने कहीं नहीं देखा। उसको देखते हुए आँखें थक नहीं रही थीं। तब राजा चन्द्रच्छाया का अनुराग मल्लि के प्रति जागृत हुआ। उसने मल्लि की याचना के लिए अपना दूत वहाँ भेजा।

३. राजा रूपी

'रूपीराजा' नाम का राजा 'श्रावस्ती' नगरी में राज्य करता था। उसकी पुत्री का नाम 'सुबाहु' था। एक बार उसके चातुर्मासिक मज्जनक महोत्सव के समय राजा ने नगर के चौराहे पर एक सुन्दर मण्डप बनवाया। समूचे दिन वह वहीं बैठा रहा। कन्या 'सुबाहु' सज्जित होकर पिता के पास आयी। पिता को प्रणाम किया, तब पिता ने उसे अपनी गोद में बैठा लिया। अपनी कन्या के रूप पर हर्षित हुआ फूला नहीं समा रहा था। पास में बैठे वर्षधर नाम के अन्तःपुर रक्षक से पूछा—'क्या अन्य किसी कन्या का ऐसा मज्जनक महोत्सव देखा है?'

वर्षधर ने विनम्र होकर कहा—'राजन ! जैसा 'कुंभ' राजा की पुत्री 'मल्लि' का मज्जनक महोत्सव हुआ, उसके सामने यह कुछ भी नहीं।'

इतने संवाद से ही राजा का पूर्वजन्म का प्रेम जागृत हो गया। उसने मल्लि के साथ विवाह करने का प्रस्ताव देकर दूत को मिथिला-नरेश कुंभ के पास भेज दिया।

४. राजा शंख

एक बार मल्लिकुमारी के कुंडलों की संधि टूट गई। उसे जोड़ने के लिए महाराज कुंभ ने अनेक स्वर्णकारों को बुलाया, पर वे सारे उसे जोड़ने में असफल रहे। राजा ने कुपित होकर उन सब को यह कह कर देश-निकाला दे दिया—'ऐसे अकुशल कलाकार मेरे राज्य में कलंक-स्वरूप हैं।'

वे स्वर्णकार इधर-उधर भटकते-भटकते वाराणसी के महाराज 'शंख' की शरण में गये। राजा ने उन सबके आने का कारण पूछा, तब उन सबने सही-सही सारी बात बता दी। राजा ने पूछा—'मल्लिकुमारी कैसी है?'

स्वर्णकारों ने कन्या के रूप की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

राजा 'मल्लि' पर आसक्त हो गया। उसने विवाह का प्रस्ताव देकर दूत को महाराज 'कुंभ' के पास भेजा।

५. राजा अदीनशत्रु

मल्लिकुमारी के छोटे भाई दिन्न ने अपने अन्तःपुर में चित्रशाला बनवाई। उन चित्रकारों में एक युवा चित्रकार था, जिसे चित्रकला में विशेष लब्धि प्राप्त थी कि वह किसी भी वस्तु या व्यक्ति का एक छोटा-सा अंग देखकर ही उसका हूबहू चित्र बना सकता था। एक दिन उसने पर्दे में बैठी मल्लिकुमारी के पाँव का अंगूठा देख लिया। उस अंगूठे के आधार पर उसने 'मल्लि' का पूरा चित्र तैयार कर दिया।

मल्लदिन्न ने चित्रशाला में पहुँचकर जब उस चित्र को देखा तो उसे यह लगा कि यह तो मेरी बड़ी बहन बैठी है। प्रणाम करने लगा। तब पास खड़ी धायमाता ने कहा—कुमार, यह तो चित्र मात्र है। यह बहन कहाँ है?

अस्थान पर ऐसा चित्र बनाने के कारण कुमार चित्रकार पर क्रूद्ध हो उठा और उसे वध करने का आदेश दे दिया। जब उसने बहुत अनुनय-विनय किया तब उसके सारे उपकरणों को तोड़कर उसे देश से निकाल दिया।

वह युवा चित्रकार हस्तिनापुर के राजा 'अदीनशत्रु' की शरण में चला गया। राजा ने उसके आगमन का कारण पूछा तो उसने सारी घटना सुनाते हुए कुमारी 'मल्लि' के सौन्दर्य की बहुत-बहुत प्रशंसा की।

राजा मल्लिकुमारी के प्रति आकर्षित हो गया और उसने अपने विवाह का प्रस्ताव लेकर दूत को महाराज 'कुंभ' के पास भेजा।

६. राजा जितशत्रु

एक बार 'चेक्खा' नाम की परिव्राजिका 'मल्लि' के भवन में आयी। वह चारों वेद और अनेक शास्त्रों में पंडिता थी। वह दानधर्म और शौचधर्म का निरूपण करती थी।

वह भगवती मल्लि के महल में आकर अपने शौचधर्म की उत्तमता बताने लगी। भगवती मल्लि ने शौचधर्म की निस्सारता बताकर उसे पराजित कर दिया। परिव्राजिका कुपित होकर 'कांपिल्यपुर' के राजा 'जितशत्रु' की शरण में चली गई।

राजा ने कहा—तुम देश-देशांतरों में घूमती हो। क्या कहीं तुमने हमारे अन्तःपुर की रानियों जैसा रूप-लावण्य देखा है?

मौके का लाभ उठाते हुए उसने कहा—महाराज ! 'मल्लि' कुमारी के समक्ष आपकी सभी रानियाँ फीकी लगती हैं। उसके पद-नख से भी तुलना नहीं कर सकतीं।

राजा मल्लिकुमारी को पाने के लिए अधीर हो उठा और उसने अपना दूत वहाँ भेज दिया।

इस प्रकार साकेत, चम्पा, श्रावस्ती, वाराणसी, हस्तिनापुर और कांपिल्यपुर के राजाओं के दूत मिथिला पहुँचे और अपने-अपने महाराजा के लिए कुमारी मल्लि की याचना की। राजा 'कुंभ' ने उन्हें तिरस्कृत कर नगर से निकाल दिया। वे छहों दूत अपने-अपने स्वामी के पास आये और सारी घटना कह सुनाई। छहों राजाओं ने कुपित होकर मिथिला की ओर प्रस्थान कर दिया।

इसके बाद मल्लिकुमारी की कुशलता से वे प्रतिबुद्ध हुए।

जब मल्लिनाथ को केवलज्ञान हो गया और उन्होंने धर्मदेशना दी तो इन छहों राजाओं ने भी संयम ग्रहण कर लिया।

—ज्ञाताधर्मकथा, अ. ८

१५३. मल्लिनाथ

सारिणी

जन्म स्थान	मिथिला	केवलज्ञान तिथि	मार्गशीर्ष शुक्ला ११
माता	प्रभावती	चारित्र पर्याय	५४,६०० वर्ष
पिता	कुंभ	निर्वाण तिथि	फाल्गुन शुक्ला १२
जन्म तिथि	मार्गशीर्ष शुक्ला ११	कुल आयु	५५,००० वर्ष
कुमार अवस्था	१०० वर्ष	चिह्न	कलश
दीक्षा तिथि	पौष शुक्ला ११[१]		

जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में 'वीतशोका' नाम की एक विशाल, समृद्ध और दर्शनीय नगरी थी। उसके अधिनायक 'बल' राजा के धारिणी प्रमुख एक हजार रानियाँ थीं। धारिणी रानी के पुत्र का नाम था 'महाबल'। कुमार का कमलश्री आदि पाँच सौ राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। 'बल' राजा

१. त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र और जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ६ में ये दोनों तिथियाँ मार्गशीर्ष शुक्ला ग्यारह है लेकिन ज्ञातासूत्र में पौष शुक्ला ग्यारह है।

का शासन-सूत्र पूरे लय पर चल रहा था। उस समय वहाँ 'धर्मघोष' नाम के महास्थविर पधारे। राजा को वैराग्य जगा। अपने पुत्र 'महाबल' कुमार को राज्य-भार सौंपकर स्वयं संयम स्वीकार कर लिया।

युवराज 'महाबल' अब राजा बन गया। उसके छः बालमित्र थे। वे सभी समवयस्क थे। बचपन से सब में मित्रता थी। हम सभी काम साथ-साथ करेंगे, यहाँ तक कि संयम लेंगे तो भी सब साथ ही लेंगे—इस प्रकार वचनबद्ध हो चुके थे।

एक बार नगर के 'इन्द्रकुंभ' उद्यान में 'धर्मघोष' नाम के महास्थविर पधारे। राजा 'महाबल' संयम लेने को उद्यत हुआ और 'धर्मघोष' मुनि से प्रार्थना की—गुरुवर ! मैं अपने छः बालमित्रों से पूछकर उन सबके साथ ही संयम लूँगा।

यों कहकर अपने छः मित्रों के पास आकर सारी बात कही। वे भी दीक्षा को तैयार हो गये। 'महाबल' कुमार उन छः मित्रों के साथ 'धर्मघोष' मुनि के पास दीक्षित हो गए। तपःसाधना में लीन रहने लगे। सभी मुनिगण साथ रहे।

एकदा इन सातों मुनियों ने यह निर्णय लिया कि तपस्या भी हम सभी को एक जैसी ही करनी है। उपवास करते हैं तो सभी उपवास करते हैं। दो दिन का, तीन दिन का व्रत भी करते हैं। तप सभी एक जैसा ही करते हैं। यों करते-करते 'महाबल' मुनि के मन में विचार आया कि इन सभी के बराबर तपस्या करने में मेरी क्या अधिकाई है। मुझे इनसे कुछ अधिक करनी चाहिए। यों विचार कर अन्य छः मुनि दो दिन का व्रत खोलने के लिए आहार लाते तो 'महाबल' मुनि कहते कि ऐसे ही भावना बन गई, मैंने तीन दिन का व्रत कर लिया। यों कपटपूर्वक उनसे अधिक तप कर लेते। यों अनेक वर्ष संयम का क्रम चलता रहा।

इस प्रकार माया के कारण उन्होंने स्त्री नामकर्म का उपार्जन किया। उत्कृष्ट तप तथा बीस स्थानकों के सेवन से तीर्थंकर नामकर्म का भी बन्धन किया। सातों मुनि संयम का सकुशल परिसमापन करके अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए।

वहाँ से वे छः मित्रों के जीव अलग-अलग राज्यों में राजकुमार के रूप में पैदा हुए तथा 'महाबल' का जीव 'मिथिला' नगरी के महाराज 'कुंभ' की पटरानी 'प्रभावती' के यहाँ पुत्री रूप में पैदा हुआ।

'प्रभावती' देवी जब गर्भवती थी तब 'मल्लिका' के फूलों की शय्या में बैठने की मनोभावना (दोहद) बनी। उसे व्यन्तर देव ने पूरा किया। इसलिए पुत्री का नाम 'मल्लिकुमारी' दिया। 'मल्लिकुमारी' का रूप-सौन्दर्य-लावण्य तो अनूठा था ही। सारे भरतक्षेत्र में उनके रूप की तुलना हो सके, ऐसा कोई नहीं था। 'मल्लिकुमारी' को तीर्थंकर होने के कारण गर्भ से ही अवधिज्ञान था। अवधिज्ञान में मल्लिकुमारी ने अपने छः ही मित्र अलग-अलग स्थान में जन्मे हुए देखे। उन्हें प्रतिबोध देने का निश्चय किया।

'मल्लिकुमारी' ने अशोक वाटिका में एक मोहन-घर बनवाया। वह अनेक स्तंभों वाला था। उसके बीच में एक गुप्त गृह बनवाया। उसके चारों ओर छः जालियाँ थीं। उसके बीच में एक विशाल चबूतरा और उसके ऊपर अपनी आदमकद एक सोने की मूर्ति बनवाकर रख दी। मूर्ति अन्दर से खोखली रखी और ऊपर से उसमें कुछ डालने के लिए ढक्कन रखा। उस ढक्कन को खोलकर प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा अन्न उसमें डालने लगी। प्रतिदिन उसमें अन्न डालने से तथा सफाई न करने से वह आहार वहाँ सड़ने लगा। उसकी दुर्गन्ध इतनी तीव्र हो गई मानो कोई मरा हुआ सांप या शव पड़ा हो।

इधर 'मल्लिकुमारी' के रूप की चर्चा चारों ओर फैल गई। वे छः मित्र जो विभिन्न राज्यों में पैदा हुए थे, उनके पास भी उसके रूप की चर्चा[1] पहुँची। सभी 'मल्लिकुमारी' के साथ विवाह करने को ललचाये। अपने-अपने दूत भेजकर कुंभ राजा से 'मल्लिकुमारी' की माँग की। दूतों के द्वारा अपनी पुत्री की याचना सुनकर 'कुंभ' राजा कुपित हो उठा। अपमानित करके दूतों को वापस भेजा। अपने-अपने दूतों के द्वारा संवाद पाकर छहों राजाओं ने परस्पर में सन्धि करके एकत्रित होकर 'मिथिला' को घेर लिया। महाराज चिन्तित हो उठे। पर मल्लिकुमारी ने सबको मोहन-घर में ठहराने के लिए कहा। महाराज 'कुंभ' ने सबको मोहन-घर में ठहराया। अन्दर घुसते ही जाली से गुप्त गृह में 'मल्लिकुमारी' की प्रतिमा को 'मल्लिकुमारी' ही समझा। सभी एकटक हो देखने लगे। इतने में 'मल्लिकुमारी' ने पीछे से मूर्ति का ढक्कन खोल दिया। ढक्कन खुलते ही चारों ओर दुर्गन्ध फैल गई। दुर्गन्ध के मारे सभी राजागण परेशान हो उठे। जी घबराने लगा। नाक-मुँह ढक लिया। तब 'मल्लिकुमारी' ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—

---

१. कैसे पहुंची इसका वर्णन 'मल्लिकुमारी के छह मित्र' नामक कथा में पढ़िये।

"तुम मुँह क्यों बिगाड़ रहे हो? देखो जिस मूर्ति में प्रतिदिन भोजन का एक-एक कौर डाला गया है, उसमें इतनी दुर्गन्ध आ रही है, तो जिस मेरे शरीर पर तुम आसक्त बने हो वह तो अशुचिमय है ही। दुर्गन्धित पदार्थों से यह पैदा ही हुआ है। उस पर लुभाने जैसी वस्तु वहाँ क्या है? सोचो तो सही, इस भोग-पिपासा को छोड़ो। आसक्ति से दूर हटो। ध्यान दो। इससे तीसरे भव में मैं 'महाबल' थी। तुम सब छहों मेरे मित्र थे। हम सब समानवय वाले थे। साथ ही जन्मे थे, साथ-साथ रहे थे, संयमी भी साथ-साथ बने, तपःसाधना भी एक समान ही करने को वचनबद्ध थे। पर मैंने वहाँ तपस्या में कुछ माया का व्यवहार किया। फलस्वरूप यहाँ स्त्री के रूप में पैदा हुई हूँ। हम सब वहाँ से 'जयन्त' विमान में गए। वहाँ से यहाँ आये हैं। मेरे पर माया की कुटिल छाया पड़ी, जिससे मैं यहाँ 'मल्लिकुमारी' बनी हूँ। तुम छहों में एक 'साकेत' नगर का स्वामी 'प्रतिबुद्ध' हुआ है। एक 'अंग' देश का स्वामी 'चन्द्रछाया' हुआ है। एक 'काशीराज' 'शंख' बना है। एक कुणालाधिपति 'रूपी' हुआ है। एक 'कुरुराज' 'अदीनशत्रु' हुआ है तथा एक 'पांचाल' देश का स्वामी 'जितशत्रु' हुआ है। तुम्हें याद है न, हमने 'जयन्त' विमान में संकल्प किया था कि जो मृत्युलोक में पहले प्रतिबुद्ध हो, उसे दूसरों को भी समझाना है तथा सभी के साथ ही संयम लेना है। मैंने अपने वचन के निर्वाह के लिए यह सब कुछ किया है। तुम लोग अब भी समझो।

छहों राजाओं ने जब 'मल्लिकुमारी' के मुँह से यह सब कुछ सुना तो चिन्तन में सराबोर हो उठे। उन्हें जातिस्मरणज्ञान हो गया। अपना पूर्वजन्म अब उन्हें स्पष्ट दीखने लगा। अब सब के सब उस गुप्त गृह में 'मल्लिकुमारी' के पास में पहुँचे। 'मल्लिकुमारी' ने स्पष्ट कहा—मैं संसार से मुक्त होना चाहती हूँ। बोलो, तुम लोगों की क्या इच्छा है?

सभी ने अपने-अपने पुत्रों को राज्य का भार सौंपकर अपने किये हुए प्रण के अनुसार संयम लेने की भावना व्यक्त की।

'मल्लिकुमारी' ने वर्षीदान देकर पंचमुष्टि लोच किया। 'सहस्र' वन उद्यान में 'अशोक' वृक्ष के नीचे संयम स्वीकार कर लिया। प्रभु के साथ में छः सौ स्त्रियाँ तथा आठ सौ राजकुमारों ने दीक्षा ली।[1] छहों राजाओं ने भी संयम लेकर

१. तीन सौ स्त्रियाँ तथा तीन सौ पुरुष थे, ऐसा भी कई मानते हैं। मल्लिनाथ भगवान् का जैन जगत् के इतिहास में एक महान् आश्चर्यकारी वृत्तान्त है।

अपनी मित्रता का पूरा-पूरा निर्वाह किया। संयम लेते ही प्रभु को मनःपर्यवज्ञान हुआ और फिर केवलज्ञान हुआ।[1] केवलपर्याय का पालन किया। मोक्ष में विराजमान हुए।

ये उन्नीसवें तीर्थंकर थे।

धर्म-परिवार[2]

गणधर	२८	अवधिज्ञानी	२२००
केवली साधु	३२००	पूर्वधर	६६८
केवली साध्वी	६४००	वादलब्धिधारी	१४००
मनःपर्यवज्ञानी	१७५०	वैक्रियलब्धिधारी	२८००
साधु	४०,०००	श्रावक	१,८३,०००
साध्वी	५५,०००	श्राविका	३,७०,०००

—ज्ञाताधर्म कथा, ८

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१५४. महापद्म (चक्रवर्ती)

'हस्तिनापुर' नगर के महाराज 'पद्मोत्तर' के दो पुत्र थे—'विष्णुकुमार' और 'महापद्म'। 'विष्णुकुमार' ने अपने पिता 'पद्मोत्तर' के साथ ही दीक्षा ले ली। 'महापद्म' आगे चलकर नौवां चक्रवर्ती बना और छः खण्ड की साधना की।

शासन का संचालन सांगोपांग चल रहा था। उस समय एक विचित्र घटना घटी। बात यों बनी—चक्रवर्ती 'महापद्म' के 'नमुचि' नाम का प्रधान था। 'नमुचि' चक्रवर्ती का कृपापात्र तथा पूर्ण विश्वासपात्र था, परन्तु था जैनधर्म का कट्टर दुश्मन। जैनधर्म के प्रति उसके दिल में द्वेष भावना भड़कने का एक कारण था। वह यह था—पहले नमुचि 'उज्जयिनी' नगरी में रहता था। वहाँ

---

१. आवश्यक भाष्य, गा. २६१ और टीका में छद्मस्थकाल अहोरोत्रि लिखा है, ऐसा ही उल्लेख जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ६, पृष्ठ १८५ पर भी है; लेकिन ज्ञातासूत्र में एक प्रहर लिखा है।

२. त्रिषष्टि में यह संख्या इस प्रकार है—पूर्वधर ३३८, अवधिज्ञान २२००, मनः पर्यवज्ञानी १७५०, केवलज्ञानी २२००, वैक्रियलब्धिधारी २६००, वादलब्धिधारी १४००, श्रावक १८३००० और श्राविकाएं ३७०००० थीं।

वह राजा श्रीवर्म का अमात्य था। वहाँ 'सुव्रत' नाम के धर्माचार्य (जो कि भगवान् 'मुनिसुव्रत' स्वामी के हाथ से दीक्षित थे) के एक नवदीक्षित साधु के साथ उसने शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थ में उसे मुँह की खानी पड़ी। पराजित व्यक्ति का गुस्सा भभक ही जाता है। मुनिवर से प्रतिशोध लेने रात्रि के समय तलवार लेकर हत्या करने मुनि के स्थान पर गया। ज्योंही तलवार लेकर क्रूर बना, मुनिवर पर वार करने लपका त्योंही शासनदेव ने उसे उसी रूप में चिपका दिया। उसका हिलना-डुलना भी बंद हो गया। पत्थर की भाँति हाथ में तलवार लिये अपनी उस क्रूर मुद्रा में खड़ा रह गया। प्रातःकाल जब लोगों ने उसे देखा तब सभी विस्मित रहे। राजा को जब खबर लगी तब वह कुपित हुआ। उसे धिक्कार कर अपने राज्य की सीमा से निकाल दिया। वहाँ से निकलकर नमुचि यहाँ चक्रवर्ती का प्रधान बन गया। चक्रवर्ती ने एक प्रसंग पर प्रसन्न होकर 'नमुचि' से इच्छित वर माँगने को कहा। यथासमय माँगने का कहकर 'नमुचि' ने चक्रवर्ती के उस वर को भण्डार में सुरक्षित ही रखा।

संयोग की बात, वे ही 'सुव्रताचार्य' 'हस्तिनापुर' आये। 'नमुचि' ने यह संवाद सुना, तब बदला लेने को ललचा उठा। चक्रवर्ती के वर के फलस्वरूप सात दिनों के लिए चक्रवर्ती के राज्य का स्वयं अधिशास्ता बन बैठा। 'नमुचि' को और किसी से तो कुछ मतलब था नहीं। उसे तो केवल सन्तों को पीड़ित करना था। जबकि सन्तों का प्रभाव वह एक बार देख चुका था, फिर भी बुरा होना था, इसलिए बुरा सूझा।

'नमुचि' ने एक बहुत बड़ा यज्ञ आरम्भ किया। सभी लोग चारों ओर से नयी-नयी भेटें लेकर नवशास्ता के पास आने लगे। 'सुव्रताचार्य' को क्यों आना था। वे तो सांसारिक झंझटों से सब विधि उपरत थे। 'नमुचि' ने उन्हें अपने यहाँ बुलाया। शासक की भाषा में पूछा—'भेंट लेकर आप क्यों नहीं आये? इसलिए या तो भेंट लाईये या मेरा राज्य छोड़कर चले जाईये। यदि रहे तो मैं चोरों की भाँति आपका वध करा दूंगा।'

आचार्य चिन्ता में पड़ गये। छः खण्डों को छोड़कर जाएं तो जाएं भी कहाँ? पर इसे समझाये कौन? आचार्य को 'विष्णुकुमार' मुनि की स्मृति हो आयी। मेरु पर्वत पर ध्यान करते हुए उन मुनि को एक साधु भेजकर बुलवाया गया। 'विष्णुकुमार' मुनि 'नमुचि' के पास गये। समझाना चाहा। पर लातों के देव बातों से कब मानने वाले थे ! अन्त में कहा कि चक्रवर्ती

का भाई हूँ। मेरे लिए तो कम से कम इतनी छूट दो। 'नमुचि' ने मुनि से तीन पैर जमीन मांगने के लिए कह दिया। फिर क्या था? 'विष्णुकुमार' मुनि ने लब्धि के योग से अपना विशाल रूप बना लिया। दो पैरों में ही चक्रवर्ती के सारे राज्य को नाप डाला। अब तीसरा पैर रखने को स्थान कहाँ था?[1] फिर तो मुनि का विशाल रूप देखकर सारे भयभीत हो उठे। चक्रवर्ती घबराया हुआ आया। अपने कृत कार्य की माफी चाही। यों मुनियों की रक्षा हुई।[2]

चक्रवर्ती ने नमुचि को प्राणदण्ड देना चाहा। पर सन्त समता के सागर होते हैं। उन्होंने राजा से ऐसा करने की मनाही की। महापद्म अनुताप करता हुआ मुनि के पैरों में पड़कर कहने लगा—'मुझे पता नहीं था कि मेरा प्रधान 'नमुचि' इतना दुष्ट है और आप लोगों को यों संतापित करेगा। मेरे आलस्य, अज्ञान और प्रमोद के कारण भीषण उपसर्ग का सामना आपको करना पड़ा। मेरी त्रुटि माफ करें। मैं इस नमुचि जैसे अधमाधम व्यक्ति को अपने नगर में नहीं रखना चाहता।' यों कहकर उसे प्रताड़ित करके नगर से निकलवा दिया।

विष्णुकुमार मुनि ने निरतिचार संयम पालन करके केवलज्ञान प्राप्त किया। महापद्म चक्रवर्ती भी संयम स्वीकार करके कठोर तपश्चर्या में लगे और केवलज्ञान प्राप्त किया, सिद्धशिला में विराजमान हुए। उनका संपूर्ण आयुष्य तीस लाख वर्ष का था। महापद्म इस युग के बारह चक्रवर्तियों में नौवें चक्रवर्ती थे।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष, पर्व ७

१५५. भगवान् महावीर

सारिणी

जन्म स्थान	क्षत्रिय कुंडपुर	केवलज्ञान तिथि	वैशाख शुक्ला १०
माता	त्रिशला	चारित्र पर्याय	कार्तिक कृष्णा ३०

---

१. कुछ ग्रन्थों के अनुसार तीसरा पैर नमुचि ने अपने सिर पर रखवाया। फलतः नमुचि जमीन में धंस गया। मरकर नरक में गया।

२. दिगम्बर ग्रन्थों में सात सौ साधुओं को उस यज्ञ से परेशान करने का वर्णन है। वे मुनि पर्वत पर ध्यानस्थ थे। वहाँ चारों ओर अग्नि जलाकर धुआँ फैलाकर नमुचि ने उन्हें संतापित करने का प्रयत्न किया। पर विष्णुकुमार मुनि की चेष्टा से मुनियों की रक्षा हुई। उसी दिन से रक्षाबन्धन का पर्व चला।

पिता	सिद्धार्थ राजा	निर्वाण तिथि	४२ वर्ष
जन्म-तिथि	चैत्र शुक्ला १३	कुल आयु	७२ वर्ष
कुमार अवस्था	३० वर्ष	चिह्न	सिंह
दीक्षा तिथि	मार्गशीर्ष कृष्णा १०		

मगध देश के 'क्षत्रियकुंड' नगर के महाराज 'सिद्धार्थ' के यहाँ 'त्रिशला' के उदर से भगवान् महावीर का जन्म हुआ। उस दिन चैत सुदी तेरस थी। भगवान् 'महावीर' जब माता के गर्भ में आये तब से ही राज्य में धन.धान्य, मान.सम्मान सभी तरह से बढ़ता ही गया। इसलिए महाराज ने अपने पुत्र का नाम 'वर्धमान' रखा। चौदह स्वप्नों से सूचित पुत्र का जन्म हुआ। स्वप्न.पाठकों ने पहले ही यह संकेत दे दिया था कि बालक वंशभास्कर, कुलदीपक, चक्रवर्ती या धर्मचक्रवर्ती होगा।

'वर्धमान' जब गर्भ में थे तब एक बार उनके मन में विचार आया कि मेरे हिलने-डुलने से माता को कष्ट होता होगा, यह सोचकर उन्होंने हिलना-डुलना बन्द कर दिया। गर्भ के न हिलने से माता यह सोचकर शोकाकुल हो उठी कि हो न हो मेरा गर्भ नष्ट हो गया है। यों विचारकर विलाप करने लगी। गीत-गान बन्द हो गए। क्रन्दन का कारण जानकर प्रभु हिलने लगे। सारा परिवार पुनः पुलकित हो उठा।

प्रभु ने गर्भ में ही सोचा—जब मेरे न हिलने मात्र से माता यों व्यथित हो उठी, तब मैं साधु बनूंगा तब तो माता को अत्यधिक व्यथा होगी। यों सोचकर संकल्प कर लिया कि 'माता-पिता के जीवित रहते मैं साधु नहीं बनूंगा।'

आमलकी क्रीड़ा में परास्त होकर देव ने इनका नाम वीर दिया। वैसे ही मनुष्य, तिर्यंच और देवों द्वारा किये गये अनेक उपसर्ग सहन करने में वे सक्षम होंगे, इसलिए 'महावीर' कहलाये। युवावस्था में 'यशोमती' नाम की राजकुमारी से विवाह हुआ। एक पुत्री भी हुई जिसका नाम था 'प्रियदर्शना'। माता-पिता के दिवंगत होने के बाद तीस वर्ष की अवस्था में मगसिर बदी दसमी के दिन दो दिन के व्रत में प्रभु ने दीक्षा स्वीकार की। उसी दिन प्रभु को मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति हुई।

अब प्रभु का छद्मस्थ विहार होने लगा। छद्मस्थ विहार कहो या उपसर्गों का संचार कहो, स्थिति वैसी ही बनी। प्रभु के अनुकूल-प्रतिकूल अनेक प्रकार के उपसर्ग आये। कहा यहाँ तक गया है कि तेईस तीर्थंकरों के कर्मों का भार

एक ओर और भगवान् 'महावीर' के कर्मों का भार एक ओर। उन सारे कर्मों के भार को उतारने का समय साढ़े बारह वर्ष ही तो था। अधिक क्या दीक्षा लेते समय शरीर पर चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों का जो विलेपन किया गया उसके योग से भी भृंग, मधुमक्खियाँ आदि जन्तु चार मास तक प्रभु के शरीर में दंश लगाते रहे, खून चूसते रहे। प्रभु ने उन्हें उड़ाने का प्रयास तो दूर रहा, मन में विचार भी नहीं किया।

निर्जन झोंपड़ी, पानी की प्याऊ, लुहार की शाला, शून्य और खण्डहर मकान, गुफा, पर्वत, वृक्ष जैसा भी जो स्थान मिलता, उसमें ही प्रभु ध्यानस्थ हो जाते। कई बार स्थानों से निकाल भी दिया गया। पर फिर भी प्रभु समता से विचलित नहीं हुए।

अनार्य क्षेत्रों में भी विहार किया। वहाँ भी अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। आहार के स्थान पर मार और पानी के स्थान पर कटुवाणी के प्रहार मिलते। प्रभु को वहाँ कुत्तों से नुचवाया गया। पत्थरों से पीटा गया। फिर भी आत्मभाव में लीन रहकर प्रभु ने उन्हें कर्मनिर्जरा में अपना सहयोगी ही माना।

शूलपाणि यक्ष का उपसर्ग भी अनूठा था। संगम देव भी छः महीनों तक प्रभु को कष्ट देता रहा। केवल एक ही रात्रि में संगम ने बीस मरणांतक कष्ट दिये। त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में जिस शय्यापालक के कानों में शीशा डलवाया था, वह यहाँ ग्वाला बना। उसने प्रभु के कानों में कील गाड़ दी, परन्तु प्रभु ने यह सब समभावपूर्वक सहा।

इन्द्र ने प्रार्थना की कि होने वाले कष्टों का निवारण करने के लिए मैं सेवा में रहूं या किसी देव को सेवा में रखना चाहता हूँ। तब प्रभु ने फरमाया—'साधक अपनी साधना अपने बलबूते पर ही किया करता है।'

'चण्डकौशिक' सर्प का कष्ट भी सहा। गोशालक ने भी प्रभु को संतापित करने में कमी नहीं रखी। तेरह बोल का जो भीषण अभिग्रह किया उसकी पूर्ति भी पाँच महीने पच्चीस दिन के बाद 'चन्दनबाला' के हाथ से हुई।

विविध प्रकार की ध्यान प्रतिमाएं, विचित्र प्रकार की तपस्याएं अपने छद्मस्थ काल में प्रभु करते ही रहे। तप:साधना में कम से कम दो दिन का व्रत तथा ऊपर में छह महीनों का निर्जल व्रत प्रभु ने किया। बारह वर्ष और

साढ़े छह महीनों में प्रभु ने तीन सौ उनचास दिन ही भोजन किया। शेष समय तपस्या में बिताया। यों घोर तप करके प्रभु ने वैशाख सुदी दशमी को जुम्भक ग्राम के बाहर ऋजुबालिका नदी के किनारे केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय प्रभु की अवस्था बयालीस वर्ष की थी।

जगत् की कल्याण-कामना को लेकर प्रभु ने तीर्थ की स्थापना की।

अन्तिम चातुर्मास प्रभु ने 'हस्तिपाल' राजा की रथशाला में पावापुरी में बिताया। वहाँ बहत्तर वर्ष की आयु में कार्तिक कृष्णा तेरस को अनशन कर दिया। सोलह प्रहर के अनशन में अमावस्या की रात्रि में सकल कर्म क्षय करके मुक्त बने।

निर्वाण-कल्याण मनाने चारों ओर से देवताओं का आगमन हुआ। उस अँधेरी रात्रि में चारों ओर रत्नों का प्रकाश हो गया। इसलिए दीपमालिका का पर्व शुरू हुआ।

भगवान् 'महावीर' ने अपने साधनाकाल में बयालीस चातुर्मास किये। वे इस प्रकार हैं—

१ अस्थिग्राम में, २ भद्रिका नगरी में, ३ पृष्ठ चम्पा में, १ आलंभिका नगरी में, १२ वैशाली ग्राम में, १ सावत्थी नगरी में, १४ नालंदी राजगृही में, १ अपापा नगरी में, ६ मिथिला में, १ अनिश्चित स्थान में

वर्तमान में भगवान् 'महावीर' का ही धर्मशासन चल रहा है।

धर्म-परिवार

गणधर	११	वादलब्धिधारी	४००
केवली साधु	७००	वैक्रियलब्धिधारी	७००
केवली साध्वी	१४००	साधु	१४,०००
मन:पर्यवज्ञानी	५००	साध्वी	३६,०००
अवधिज्ञानी	१३००	श्रावक	१,५६,०००
पूर्वधर	३००	श्राविका	३,१८,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

—आचारांग प्र., अ. ६

—कल्पसूत्र

१५६. महाशतक

'महाशतक' राजगृह में रहने वाला एक समृद्ध गाथापति था। उसके पास २४ कोटि स्वर्ण-मुद्राएँ थीं। उसने अपनी सम्पत्ति को तीन भागों में बाँट रखा था— आठ कोटि मुद्राएं व्यापार में, आठ कोटि मुद्राएं घर सामग्री में तथा आठ कोटि निधि रूप में जमीन में सुरक्षित रहती थीं। दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल थे। 'रेवती' प्रमुख सहित उसके तेरह पत्नियाँ थीं। 'रेवती' एक धनाढ्य पिता की पुत्री थी। दहेज में वह आठ कोटि स्वर्ण मुद्राएं तथा आठ गोकुल पीहर से लायी थी। 'महाशतक' की अन्य बारह पत्नियाँ भी अपने पिता के यहाँ से एक-एक कोटि सोनैये तथा एक-एक गोकुल लेकर आयी थीं।

इतना धनाढ्य होते हुए भी 'महाशतक' अभिमान से बहुत दूर था। अपना सीधा-सादा जीवन बिता रहा था। भगवान् 'महावीर' के पास श्रावकधर्म स्वीकार करने के बाद तो वह और भी साधनापूर्वक जीवन जीने लगा।

'रेवती' ने मन में विचार किया कि मेरे पति का सुख बाँटने वाली ये बारह सौत हैं। ये जब तक हैं, तब तक पति का प्रेम मुझे अधूरा ही मिलेगा, पूरा कैसे मिल सकेगा। इसलिए इन्हें मार दूं तो पतिदेव का अविकल सुख मुझे मिल जाएगा। यह सोचकर उसने उन सबका सफाया करने का षड्यंत्र रचा। बहुत ही गुप्त तरीके से छह पत्नियों को विष-प्रयोग से तथा छः को शस्त्र-प्रयोग से मार दिया। यह सारा काम इतनी चालाकी के साथ किया कि इस षड्यंत्र का श्रावक महाशतक को पता नहीं लग सका। अब 'रेवती' बिल्कुल ही स्वच्छन्द हो गई। उसे मनचाहा धन मिल गया। वह अपनी सपत्नियों के धन की भी स्वामिनी हो गयी।

स्वच्छन्द बनकर वह मद्य और मांस भी भरपेट खाने लगी। मद्य-मांस के अत्यधिक तामसी भोजन के सेवन से उसकी प्रकृति में क्रूरता और कामुकता का आना स्वाभाविक था।

उन्हीं दिनों महाराज 'श्रेणिक' ने 'राजगृही' नगरी में यह घोषणा कराई कि कोई भी व्यक्ति कहीं भी मेरे नगर में पंचेन्द्रिय जीव का वध न करे। घोषणा के कारण नगर का प्राणी-वध रुक गया।

यह घोषणा 'रेवती' के लिए मुसीबत बन गई। अब वह क्या करे? मांस बिना उससे रहा नहीं जाता था। एक-दो दिन तो उसने ऐसे ही निकाल लिये।

पर जब मांस के बिना नहीं रह सकी तब एक कुशल नौकर को बुलाकर कहा—'मेरे पीहर के गोकुल से दो बछड़ों को मारकर ले आओ।' नौकर गया और लुके-छिपे वहाँ से दो बछड़ों को मार लाया। 'रेवती' ने उन्हें पकाकर खा लिया। अब प्रतिदिन दो-दो बछड़ों का वध करवाकर खाने लगी।

इस सारी घटना का पता जब महाशतक को लगा तो उसके दिल में उसके प्रति घृणा हो आयी। फलस्वरूप वह धर्मध्यान में ही अधिक समय लगाने लगा।

एक बार वह पौषधशाला में बैठा आत्मचिन्तन में लगा हुआ था, इतने में कामुक बनी 'रेवती' वहाँ आयी। विविध प्रकार की कुचेष्टाओं द्वारा काम-याचना की। पर महाशतक स्थिर रहा। अपनी पत्नी का यह हाल देखकर वह और अधिक विरक्त बना। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वहन किया। अपने शरीर को दुर्बल हुआ देखकर अनशन स्वीकार कर लिया। अनशन में उसको अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई।

अनशन में स्थित महाशतक के पास रेवती आयी तथा बहुत ही निर्लज्जतापूर्वक हाव-भाव दिखाने लगी, काम-कुचेष्टा करने लगी। तब 'महाशतक' को क्रोध आ गया। कटु शब्दों में भर्त्सना करते हुए 'महाशतक' ने रेवती से कहा—'मांसलोलुप रेवती ! थोड़े जीने के लिए क्यों अनर्थ में फँस रही है? देख, तेरी आयु अब सात दिन की ही शेष है। विशूचिका से मरकर तू प्रथम नरक में जाएगी। वहाँ चौरासी हजार वर्ष तक भयंकर यातना सहेगी।' महाशतक के आक्रोश-भरे वचन सुनकर रेवती बिल्कुल ही निढाल हो गई। मेरे पति ने मुझे शाप दिया—यों सोचकर अधिक दुखित हो उठी। अन्त में धर्मध्यान करती हुई सातवें दिन मरकर नरक में गई।

उन्हीं दिनों भगवान् 'महावीर' राजगृही में पधारे। उन्होंने 'गौतम' स्वामी से सारी बात कहते हुए कहा—'महाशतक' ने रेवती को अनशन में ऐसे कटु शब्द कहे, जो उसे नहीं कहने चाहिए थे। तुम वहाँ जाओ और उससे कहो कि वह उन शब्दों का प्रायश्चित करे।

'गौतम' स्वामी ने वहाँ जाकर उसे प्रायश्चित कराया। 'महाशतक' ने सोचा—सत्य बात भी अप्रिय शब्दों में मुझे नहीं कहनी चाहिए थी। यों चिन्तन करता हुआ भगवान् महावीर का आभार माना और गौतम स्वामी से इस कष्ट के लिए क्षमायाचना करता हुआ गद्गद् हो उठा।

एक महीने के अनशन में समाधिमरण प्राप्त किया तथा प्रथम स्वर्ग में गया। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में होकर मोक्ष में जाएगा।

—उपाशकदशा, अ. ८

१५७. मुनिसुव्रत स्वामी

सारिणी

जन्म स्थान	राजगृही	दीक्षा तिथि	फाल्गुन शुक्ला १२
पिता	सुमित्र	चारित्र पर्याय	७५०० वर्ष
माता	पद्मावती	केवलज्ञान तिथि	फाल्गुन कृष्णा १२
जन्म-तिथि	ज्येष्ठ कृष्णा ८	निर्वाण तिथि	ज्येष्ठ कृष्णा ६
कुमार अवस्था	७५० वर्ष	कुल आयु	३०,००० वर्ष
राज्यकाल	१५,००० वर्ष	चिह्न	कूर्म

'मुनिसुव्रत' स्वामी बीसवें तीर्थंकर हैं। राजगृही नगरी के महाराज 'सुमित्र' की महारानी 'पद्मावती' के उदर से आपका जन्म हुआ। वे अपराजित नाम के चौथे अनुत्तर विमान से च्यवन करके माँ के उदर में आये। ज्येष्ठ बदी नवमी को आपका जन्म हुआ। जब प्रभु गर्भ में थे, तब महारानी पद्मावती की भावना मुनि के व्रतों का पालन करने की जगी। इसलिए पुत्र का नाम 'सुव्रत' रखा। युवावस्था में राजकुमार का प्रभावती आदि अनेक राजकन्याओं से विवाह हुआ। प्रभावती के एक पुत्र भी हुआ, जिसका नाम 'सुव्रत' रखा गया। साढ़े सात हजार वर्ष की आयु में 'सुव्रत' कुमार राजगद्दी पर बैठे। पन्द्रह हजार वर्ष तक राज्य का पालन किया। वर्षीदान देकर एक हजार पुरुषों के साथ फाल्गुन सुदी एकम को संयम ग्रहण किया।

ग्यारह महीने छद्मस्थ रहकर फाल्गुन बदी बारस को केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और तीर्थ की स्थापना की। साढ़े सात हजार वर्ष तक संयम पालन करके तीस हजार वर्ष की आयु में एक मास के अनशन में सम्मेदशिखर पर्वत पर एक हजार साधुओं के साथ ज्येष्ठ बदी नौवीं को प्रभु का निर्वाण हुआ।

मर्यादा पुरुषोत्तम 'राम' तथा आठवें वासुदेव लक्ष्मण आपके और नमि प्रभु के अन्तराल काल में हुए।

धर्म-परिवार

गणधर	१८	वादलब्धिधारी	१२००
केवली साधु	१८००	वैक्रियलब्धिधारी	२०००
केवली साध्वी	३६००	साधु	३०,०००
मन:पर्यवज्ञानी	१५००	साध्वी	५०,०००
अवधिज्ञानी	१८००	श्रावक	१,७२,०००
पूर्वधर	५००	श्राविका	३,५०,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१५८. मृगापुत्र

'मृगापुत्र' सुग्रीव नगर के महाराज 'बलभद्र' की महारानी 'मृगावती' का पुत्र था। सभी तरह सम्पन्नता में 'मृगापुत्र' का लालन-पालन हुआ। युवावस्था में अनेक राजकन्याओं से विवाह हुआ। वह भोगों में आसक्त बना जीवन बिता रहा था।

एक दिन अपने विशाल और सुन्दर महल के झरोखे से नगर की शोभा देख रहा था। इतने में एक मुनि कहीं जाते हुए दृष्टिगोचर हुए। मुनि का प्रशान्त मुखमण्डल, शान्तरस बरसाती आँखें देखकर 'मृगापुत्र' देखता ही रह गया। मन में आया—ऐसी मुद्रा मैंने कहीं देखी है। भावना ने करवट ली। चिन्तन करते-करते उसे जाति-स्मरणज्ञान हो गया। ज्ञान से देखा, ऐसे चारित्र का मैंने पूर्वभव में पालन किया था। सहसा संसार से अरुचि जगी। संयमी बनने का हृदय में दृढ़ संकल्प किया।

आज्ञा प्राप्त करने के लिए माता-पिता के पास आकर बोला—'मैंने अपना पूर्वभव देखा है। अनेक जन्मों में विविध गतियों में अनेक प्रकार के दु:ख भोगे हैं। अब संयम का भली-भांति पालन करने से मनुष्य भव मिला है। महान पुण्य के सुयोग से प्राप्त किये हुए मनुष्य-जन्म को सांसारिक रंग-राग, मोह-माया में गँवाना नहीं चाहता। संसार के भोगों से मेरा मन उचट गया है। अत: आप मुझे संयम लेने की आज्ञा दीजिए। देखिए, जो सुख-सामग्री मुझे मिली है, यह नाशवान है, क्षणभंगुर है। सारा राज-वैभव, अनूठे ठाट, अपरिमित वैभव, धन-धान्य, बाग-बगीचे, स्वर्ण-रजत, हीरे-पन्ने, परिजन-पुरजन—सारे-के-सारे यहीं रह जायेंगे। इस सबमें साथ जाने वाला कुछ भी नहीं है। अधिक क्या, यह

शरीर भी साथ जाने वाला नहीं है। साथ जाने वाला है—मात्र पुण्य और पाप। जब किसी घर में आग लग जाती है, तब उस घर का स्वामी घर में जो कुछ सार वस्तु होती है, वह निकालने की शीघ्रता करता है, त्यों ही जन्म-जरा-मृत्यु में झुलसते संसार से मैं मेरी आत्मा को निकालना चाहता हूँ। आप मुझे अनुमति दीजिए।'

मृगापुत्र की बात सुनकर, अकस्मात् लगे आघात को मन-ही-मन समेटे माता-पिता बोले—'वत्स ! तू बालक है, तेरा मन सुकोमल है। तुझे अभी धूप-छांह का भी पता नहीं है। तेरे-जैसे सुकोमल के लिए संयम का पालन बहुत दुष्कर है। तलवार की पैनी धार पर चलने के समान है। लोहे के चने चबाने हैं। अगाध समुद्र को भुजाओं से तैरने के समान कष्टकर है। संयम-मार्ग में आने वाले उपसर्ग-परीषहों का सहना भी आसान नहीं है। प्रासुक पानी पीना, जमीन पर सोना, नंगे पांव धूप में चलना, सर्दी में कम वस्त्रों में काम निकालना, केश लुंचन करना, जीवों की दया का पालन करना, सत्य बोलना, स्वामी की आज्ञा बिना कुछ भी नहीं लेना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, सर्वथा मोह, माया, ममता का परित्याग करना, भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, दंश-मशक आदि परीषहों को सहना तेरे लिए बिलकुल ही असंभव है। इसलिए साधु बनने की भावना को मन से निकालकर, संसार के भोगों का उपभोग कर। यदि साधु बनने की तेरी भावना प्रबल ही है तो वृद्धावस्था में साधु बन जाना।'

माता-पिता की बात सुनकर 'मृगापुत्र' बोला—'मिली हुई सामग्री को स्वेच्छा से ठुकराना ही सच्चा त्याग है। आप कहते हैं—इस विपुल ऋद्धि का परिभोग करके संयम ग्रहण करना। आप देखिए ऋद्धि से तृप्ति किसे हुई है? किसी को भी नहीं। मनुष्य की सम्पत्ति से अनन्त गुणी ऋद्धि देवगति में इस जीव को मिली है। अनेक बार मिली है। फिर भी इस जीव को तृप्ति नहीं हुई तो इन भोगों से क्या भूख मिटने की है? आपने संयम की जो दुष्करता बताई, उपसर्गों का भय दिखाया, यह सब उसके लिए ही है जो कायर और कमजोर है। आत्मबली के लिए ये सब छिटपुट हमले कुछ भी नहीं हैं। आप संयम के कष्टों की कथा मुझे सुना रहे हैं, पर इस जीव ने नरक में कितने-कितने भयंकर कष्ट सहे हैं। नरक की कुंभी में यह अनेक बार गिरा है, नरक की प्रचंड अग्नि में अनेक बार जला है, शाल्मली वृक्ष के उन तीखे पत्तों की तलवार जैसी धार से इसके अंग-प्रत्यंग अनेक बार काटे गये हैं, भालों

में इसे पिरोया गया है, यंत्रों में इसे पीला गया। वहाँ इसकी चीख, दु:ख की कथा सुनने वाला कौन था? वैसे ही तिर्यंच योनि में तथा मनुष्य योनि में भी परवशता से इसने क्या कम दु:ख सहे हैं? मैं किस-किस गति के कौन-कौन से दु:खों का वर्णन करूं ! मैं तो इतना कहना चाहूंगा यदि आप मुझे सुखी देखना चाहते हैं, दु:खों से छुटकारा दिलाना चाहते हैं, तो मुझे कहिये—'जा पुत्र ! आनन्दपूर्वक संयमी बन, संयम पथ पर सकुशलतापूर्वक बढ़। लक्ष्य को प्राप्त कर।'

'मृगापुत्र' की वैराग्यमय वाणी सुनकर माता-पिता गद्गद् हो उठे। पुत्र का गहरा वैराग्य जानकर संयम लेने की सहर्ष अनुमति दे दी।

सारे वैभव को ठुकराकर 'मृगापुत्र' संयमी बना। उत्कट तप और निरतिचार संयम साधना करते-करते क्षपकश्रेणी चढ़कर 'मृगापुत्र' ने केवलज्ञान प्राप्त किया तथा निर्वाण भी प्राप्त किया।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १९

१५६. मृगालोढा

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में एक नगर था, जिसके सौ दरवाजे होने से उसका नाम 'शतद्वार' था। वहाँ के महाराज का नाम 'धनपति' था। उस 'शतद्वार' नगर के अग्निकोण में 'विजयवर्धमान' नाम का ग्राम था। उस गाँव में एक 'इकाई राठोर' नाम का ठाकुर था जो राठोर जाति का था। वह पाँच सौ गांवों का स्वामी था। 'इकाई' बहुत ही क्रूर, अधर्मी और चण्ड प्रकृति का था। वह पाप-पुण्य को कुछ भी नहीं मानता था। केवल जनता को जैसे-तैसे निचोड़कर धन इकट्ठा करना चाहता था। इतना ही नहीं, धन के लिए चोरी करवाना, राहगीरों को लुटवाना उसका प्रतिदिन का कार्य था। जनता के दु:ख-दर्द की उसे तनिक भी चिन्ता नहीं थी। उसे चिन्ता रहती थी अपनी तिजोरियाँ भरने की। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी। पर सुनने वाला कौन था? वह तो स्वच्छन्द बना अत्याचार करने को तैयार रहता। परन्तु पाप किसी का बाप नहीं होता। संयोग की बात, उसके शरीर में सोलह प्रकार के महाभयंकर रोग एक साथ ही पैदा हो गये। अनेक रोगों से एक साथ घिर जाने से 'इकाई' बहुत पीड़ित-व्यथित हुआ तथा अपने-आपको दीन-हीन मानने लगा। चिकित्सकों को विविध प्रकार के प्रलोभन देकर चिकित्सा करने के लिए कहा। उन्होंने भी जी-जान लगाकर

प्रयत्न किया परन्तु पल्ले पड़ी निराशा। अन्तत: महावेदना भोगता हुआ मरकर प्रथम नरक में गया।

प्रथम नरक से निकलकर वह 'इकाई राठोर' का जीव 'मृगा' ग्राम में 'विजय' क्षत्रिय की रानी 'मृगावती' के उदर में आया। जिस दिन यह जीव 'मृगावती' के गर्भ में आया, उसी दिन से 'मृगावती' के प्रति 'विजय' क्षत्रिय का प्रेम कम हो गया। 'मृगावती' ने यह सारा गर्भ का प्रभाव माना। सोचा—हो न हो कोई पापात्मा मेरे गर्भ में आयी है। गर्भ के योग से उसे पीड़ा भी अधिक रहने लगी। रानी ने गर्भ को गिराने, नष्ट करने के लिए अनेक औषधोपचार किये। पर पापी ऐसे नष्ट थोड़े ही होते हैं। रानी उदासीन बनी गर्भ का पालन करने लगी।

गर्भावस्था में ही शिशु को भस्मक रोग हो गया। वह जो भी खाता वह उसके तत्काल रक्त हो जाता। नौ महीने में पुत्र जन्मा। नाम 'मृगापुत्र' दिया। परन्तु था जन्म से ही अन्धा, बहरा, गूंगा तथा अंगोपांग के आकार से रहित। इन्द्रियों के मात्र चिह्न ही थे। ऐसे भयानक बालक को देखकर रानी भयभीत हो उठी। कूरड़ी पर उसे फिंकवाने का विचार कर लिया। पर जैसे-तैसे रानी के मनोभावों का राजा को पता गल गया। राजा ने रानी से कहा—'देख, ऐसा काम नहीं करना चाहिए। यह पहला बालक है। इसे मारने से अन्य बालक भी जीवित नहीं रहेंगे। इसलिए इसका लालन-पोषण कर।'

पति की आज्ञा मानकर रानी उस बालक को एक भौंयरे (तलघर) में डाले रखती। प्रतिदिन उसे वहाँ भोजन दे देती। बालक जो भी भोजन करता उसके दुर्गन्धमय पदार्थ ही बनते थे। नरक के समान भयंकर वेदना को भोगता हुआ वहाँ वह रह रहा था।

एक बार भगवान् महावीर उसी 'मृगा' गाँव के चन्दनपादप नाम के उपवन में पधांरे। विजय राजा भी दर्शनार्थ आया। उसी गाँव का एक जन्मांध भिखारी, जिसके ऊपर हजारों मक्खियाँ भिनभिना रही थीं, वह अपने किसी सज्जन साथी के सहारे प्रभु के दर्शनार्थ आया था। प्रभु ने सभी को धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुनकर सभी अपने-अपने स्थान को गए।

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—'प्रभु ! उस जन्मांध व्यक्ति की भांति अन्य किसी स्त्री ने भी ऐसे किसी बालक को जन्म दिया है?' भगवान् ने कहा—'मृगा रानी ने इससे भी अधिक भयावने पुत्र को जन्म दिया है।

वह उसे भौंयरे में रखती है। वह जो भी खाता है उससे जो रुधिर-मांस बनता है, वह भी शरीर से झरता रहता है और वह उस रुधिर-मांस को पुनः-पुनः खाता रहता है। वह जन्म से ही अंधा, गूंगा, बहरा और लूला है। नरक से भी अधिक दुर्गन्ध उठती रहती है। वह मनुष्य केवल नाम का है, है तो लोढ़े का आकार।'

'गौतम' स्वामी प्रभु की आज्ञा लेकर उसे देखने गये। 'मृगावती' ने सोचा—इस गुप्त रहस्य का इन्हें कैसे पता लगा? 'गौतम' ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए भगवान् 'महावीर' का नाम बताया। 'मृगारानी' 'गौतम' स्वामी को भौंयरे के पास ले गई। उसे देखकर 'गौतम' स्वामी को बहुत आश्चर्य हुआ। कर्मों की विचित्र गति का चिन्तन करते हुए प्रभु के पास आए और उसका पूर्वभव पूछा।

प्रभु ने इसके सारे क्रूर कर्मों का कच्चा चिट्ठा सबके सामने रख दिया। भविष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु ने कहा—'यह छत्तीस वर्ष की आयु में मर कर सिंह होगा। वहाँ से मरकर प्रथम नरक में जाएगा। वहाँ से निकलकर नेवला होगा। वहाँ से दूसरी नरक में जाएगा। वहाँ से निकलकर पक्षी होगा। वहाँ से तीसरी नरक में जाएगा। इस प्रकार यह सातों नरक में जाएगा और अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करेगा। अन्त में महाविदेह क्षेत्र से मुक्त होगा।'

—विपाकसूत्र, १

१६०. मृगावती

महासती 'मृगावती' वैशाली गणतन्त्र के गणनायक महाराजा 'चेटक' की पुत्री थी। कौशाम्बीपति 'शतानीक' के साथ राजकुमारी का महाराज चेटक ने पाणिग्रहण किया था।

महाराज 'शतानीक' अपने यहाँ एक चित्रशाला बनवा रहे थे। यक्ष से वर प्राप्त करके ऐसा चित्रकार वहाँ चित्र बनाने लगा जो किसी के अंग का एक भाग देखकर भी सही चित्र बना सकता था। राजमहलों में खड़ी महारानी के पैर का एक अंगूठा देखकर उसने चित्रशाला में महारानी क चित्र बना दिया। ज्योंही चित्र तैयार हुआ, जांघ पर काले रंग का एक धब्बा पड़ गया। चित्रकार ने उसे मिटाना चाहा पर मिटा नहीं। 'हो न हो यहाँ तिल है,' यह सोचकर चित्रकार ने वैसे ही रहने दिया।

जब राजा ने उसे देखा तब सोचा, इस गुप्त चिह्न का इसे पता कैसे लगा? हो न हो यह दुराचारी है। इसे फांसी पर चढ़ा देना चाहिए। चित्रकार ने अपनी सफाई पेश करते हुए यक्ष के द्वारा वर-प्राप्ति की बात कही।

राजा ने परीक्षा लेने के लिए एक कुब्जा दासी का मुँह दिखाकर उसका चित्र बनाने के लिए कहा। चित्रकार ने सही-सही चित्र बना दिया।

राजा को प्रसन्न होना चाहिए था, पर कुपित होकर राजा ने उसका अंगूठा कटवा दिया।

अकारण दण्डित होने के कारण उसको बहुत दु:ख हुआ। मन में संकल्प किया कि राजा से बदला लेकर ही रहूंगा। उसने बाएं हाथ से चित्र बनाने का अभ्यास कर लिया। प्रतिशोध की भावना से 'मृगावती' का चित्र बनाकर उज्जयिनी नरेश 'चण्डप्रद्योत' को ले जाकर दिखाया। 'चण्डप्रद्योत' तो कामुक था ही। चित्र देखते ही कामान्ध हो गया। मृगावती को पाने के लिए कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। महाराज 'शतानीक' इस आकस्मिक हमले से भयभीत हो गये। अब क्या होगा? इस भय से ही अतिसार का रोग हो गया, साथ में प्राणान्त भी।

चण्डप्रद्योत ने नगर घेर ही रखा था। उस समय 'मृगावती' ने साहस से काम लिया। समयज्ञता का परिचय देते हुए महाराज चण्डप्रद्योत से कहलाया— 'अब मेरा तो आपके सिवा कौन है? मैं यह देखना चाहती हूँ कि आपका मेरे प्रति कितना लगाव है? आप मुझे चाहते हैं, मैं यह तब समझूँगी जब उज्जयिनी की चारदीवारी को तुड़वाकर उन ईंटों से कौशाम्बी की चारदीवारी जो तोड़ दी गई है उसे तैयार करवाओगे।'

राजा ने सती की चतुराई को प्रेम-निमंत्रण समझा। परकोटा तैयार होने लगा। 'मृगावती' तप:साधना में लग गई।

संयोगवश ज्योंही चारदीवारी तैयार हुई और प्रद्योत 'मृगावती' को पाने को उत्सुक हुआ। उसी समय अशरणशरण भगवान् 'महावीर' वहाँ पधार गए। 'प्रद्योत' भी प्रभु की सेवा में उपस्थित हुआ। 'मृगावती' अपने पुत्र 'उदायन' को लेकर समवसरण में पहुँची। 'प्रद्योत' के विकार-भाव समवसरण में पहुँचते ही शान्त हो गए। यह समवसरण की भूमि का ही प्रभाव था। वहाँ प्रभु के निकट पहुँचते ही सब परस्पर वैर-भाव भूल जाते हैं। 'मृगावती' ने प्रभु से प्रार्थना करते हुए कहा—'प्रभुवर ! मैं आपके पास संयम लेना चाहती हूँ, पर

मेरा पुत्र 'उदयन' बालक है। अतः इसकी रक्षा का भार मैं महाराज 'प्रद्योत' को सौंपती हूँ।' यों कहकर उसने अपने पुत्र उदयन को 'प्रद्योत' को सौंप दिया और 'प्रद्योत' से कहा—'आप मेरे पिता-तुल्य हैं। मुझे आज्ञा दीजिए, मैं संयम लेकर अपना कल्याण कर सकूं।'

'प्रद्योत' ने सहर्ष आज्ञा दी। 'मृगावती' ने संयम ग्रहण कर लिया। 'प्रद्योत' 'उदयन' को कौशाम्बी के सिंहासन पर बैठाकर मन-ही-मन 'मृगावती' के कारनामों पर आश्चर्य करता हुआ 'उज्जयिनी' चला गया।

एक बार भगवान् महावीर के समवसरण में सती 'मृगावती', साध्वी शेखरा 'चन्दनबाला' के साथ बैठी थी। उसी समय सूर्य-चन्द्र दोनों प्रभु के दर्शनार्थ आये। 'चन्दनबाला' आदि सतियां यथासमय अपने स्थान पर चली गईं। पर प्रकाश होने से 'मृगावती' को समय का ध्यान नहीं रहा। सूर्य-चन्द्र के चले जाने पर जब अकस्मात् अंधेरा छाया तो 'मृगावती' को ज्ञान हुआ। वह अपने स्थान पर आयी। आर्यश्रेष्ठा 'चन्दनबाला' ने इस अक्षम्य भूल के लिए 'मृगावती' को उलाहना दिया। 'मृगावती' ने अपनी भूल के लिए 'चन्दनबाला' से क्षमायाचना की। आर्यश्रेष्ठा 'चन्दनबाला' सो गई। 'मृगावती' मन-ही-मन अपनी भूल का पश्चात्ताप करने लगी। भावना का वेग इतना बढ़ा कि सहसा क्षपकश्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

'मृगावती' ने ज्ञानबल से देखा—लेटी हुई महासती 'चन्दनबाला' के हाथ के पास से एक सांप जा रहा था। 'मृगावती' ने तत्काल महासती 'चन्दनबाला' का हाथ ऊपर कर दिया। हाथ के उठाने से 'चन्दनबाला' की नींद खुल गई। नींद से जागने का कारण पूछा तो 'मृगावती' ने सांप वाली बात कही। 'चन्दनबाला' ने कहा—'अंधेरी रात में तुम्हें कैसे पता लगा?

'*मृगावती*'—'आपके प्रताप से'।

'*चन्दना*'—'क्या कोई विशिष्ट ज्ञान हुआ है?'

'*मृगावती*'—आपकी कृपा है।'

'*चन्दना*'—क्या केवलज्ञान हुआ है?'

'*मृगावती*'—'आपकी कृपा का ही सारा फल है।'

'चन्दनबाला' ने सोचा—'मैंने केवली की आशातना की। नींद खुलने से मुझे भी आवेश आ गया जो नहीं आना चाहिए था। सती 'मृगावती' ने फिर भी कितनी समता का परिचय दिया।' यों अन्तर्मुखी चिन्तन करते-करते

'चन्दनबाला' ने भी केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। 'मृगावती' ने केवल-पर्याय का पालन कर मोक्ष प्राप्त किया।

—आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १०४८
—दशवैकालिकनिर्युक्ति

१६१. मेघकुमार

राजगृजी के महाराज 'श्रेणिक' एक बार सिंहासन पर उदास बैठे थे। सदा की भांति 'अभयकुमार' पिता को प्रणाम करने आया। अपने पिता को चिन्तित देखकर 'अभय' ने चिंता का कारण जानना चाहा। महाराज 'श्रेणिक' ने चिन्ता को मिटाने वाला समझकर 'अभय' से कहा—'वत्स ! चिन्ता का एक कारण है, तेरी विमाता धारिणी के गर्भ के योग से मनोभाव बने हैं कि मैं महाराज के साथ हाथी पर सवार होकर वन-क्रीड़ा करने जाऊँ। उस समय वर्षा हो रही हो, चारों ओर हरियाली से वन, वनस्थली खिल रही हो। बस, इसी चिन्ता में दुर्बल हो रही है। इस असमय में वर्षा कैसे हो?'

'अभयकुमार' ने सांत्वना देते हुए कहा—'मैं मातु-श्री की भावना को पूरी करने का प्रयास करूंगा। आप चिन्ता न करें।'

'अभयकुमार' पौषधशाला में गया। तीन दिन का तप करके ध्यान में बैठ गया। अपने पूर्व-परिचित देव को आमन्त्रित किया। तीन दिन के बाद देवता आया। 'धारिणी' का मनोरथ पूरा करने को अकाल में देवता ने वर्षा की। महारानी भी महाराज के साथ हाथी पर चढ़कर वन में गई। हरित भूमि को देखकर परम प्रसन्न हो उठी।

सवा नौ महीनों के बाद पुत्र का जन्म हुआ। मेघ के दोहद से सूचित था, अत: पुत्र का नाम 'मेघकुमार' रखा। युवावस्था में आठ राजकन्याओं के साथ विवाह किया गया। एक बार भगवान् महावीर वहाँ पधारे। मेघकुमार उपदेश सुनकर संयम लेने को उद्यत हुआ। माता के पास से जब आज्ञा लेनी चाही तब माता ने कहा—'पुत्र ! तेरे इस कोमल शरीर से संयम का निर्वाह कठिन है। संयम का पथ तलवार की पैनी धार पर चलने जैसा है। इसलिए सांसारिक वैभव का उपभोग करो।' लेकिन जब महारानी 'धारिणी' ने देखा कि मेघकुमार की भावना तीव्र है, यह किसी भांति संसार में रहने को तैयार नहीं हो रहा है, तब मोह को एक ओर करते हुए कहा—'मेरा कहा मानकर

कम-से-कम एक दिन का राज्य तो कर लो।'

सोचा था, राज्य-सिंहासन मिलते ही उसमें फंस जाएगा। पर हुआ उल्टा। माता-पिता के आग्रह से जब राज्याभिषेक कर दिया गया, तब मेघ बोला—'अब मेरी आज्ञा सबको मान्य होगी ही। अतः शीघ्रतिशीघ्र रजोहरण एवं पात्र लाओ। मैं संयम लूंगा।' राजसी ठाठ को ठुकराकर 'मेघकुमार' संयमी बन गया।

रात्रि के समय मेघमुनि को सोने के लिए स्थान द्वार के पास मिला। रात में सन्तों के आने-जाने के कारण मेघ मुनि को नींद नहीं आयी। नींद नहीं आने से 'मेघमुनि' खिन्न हो गये। विचारों में शिथिलता आ गई। पहले तो सारे मुनिगण मुझसे इतने प्रेम से बोलते थे, पास में बिठाते थे। आज इन्होंने मुझे यों फुटबाल बना रखा है। पहली रात में ही यह हाल है तो आगे क्या शुभ की आशा की जाए। मैं तो प्रातःकाल प्रभु से पूछकर अपने घर चला जाऊँगा।

प्रातःकाल होते ही प्रभु को पूछने तथा झोली-झंडे सौंपने के लिए 'मेघमुनि' प्रभु के पास आए, वंदना की। भगवान् तो पहले ही 'मेघमुनि' की मनोभावना देख चुके थे। अतः सम्बोधित करते हुए एवं प्रबुद्ध करते हुए कहा—'मेघ एक रात्रि के कष्ट से तू यों घबरा गया। अधीर हो उठा। घर जाने को तैयार हो गया, पर तुझे याद है तू पिछले जन्म में कौन था? देख, तू पिछले जन्म में हाथियों के झुण्ड का स्वामी था। अनेक हथिनियों के साथ मस्त बना तू रह रहा था। तू पहले एक बार मेरुप्रभु हाथी के भव में दावानल में जल चुका था। इसलिए अगली बार तू चार कोस भूभाग के वृक्षों को तथा घास-फूस को उखाड़कर अपने-आपको सुरक्षित अनुभव कर रहा था। संयोगवश एक बार वन में दावानल लगा। जंगल के सभी जीव-जन्तु उसी मैदान में आ गए, जहाँ तू रह रहा था। वह मंडल जीवों से भर गया था। तू खड़ा था। तेरे पैर में खुजलाहट चली। तूने पैर को खुजलाने के लिए ऊपर किया। इतने में तेरे पैर के स्थान पर एक शशक आ बैठा। तूने पैर नीचे रखना चाहा तो उस खरगोश को देखकर सोचा, मेरे कारण यह मर जाएगा। यों तीन दिन तक ऊपर पैर किए खड़ा रहा। इतने में दावानल शान्त हुआ। सारे प्राणी अपने-अपने स्थान की ओर चले गये। जब तूने पैर नीचा किया तब तक पैर अकड़ चुका था। पैर रखते ही तू गिर गया और वहाँ तेरी मृत्यु हो गई। वहाँ से मरकर

तू राजा का पुत्र हुआ है। मेघ ! पशु-भव में तो तूने सारी बातें सुधारीं। इस मनुष्य-जीवन में थोड़े से कष्ट से घबराकर बात बिगाड़ रहा है। जरा सोच, कितनी विचार की बात है?'

'मेघमुनि' को प्रभु की वाणी सुनते-सुनते जाति-स्मरणज्ञान हो आया। झुलसते हुए मैदान को देखकर रोंमटे खड़े हो गये। प्रभु के पैरों में गिरकर दोषों की आलोचना की। मन को स्थिर करके पुनः व्रतों में सुस्थिर बने। अपने-आपको संघ के प्रति समर्पित करते हुए 'मेघमुनि' ने कहा—'प्रभुवर ! मैं अपनी इन दो आँखों के सिवा समूचा शरीर साधु-संतों की परिचर्या के लिए समर्पित करता हूँ। आप जैसे भी चाहें इसका उपयोग करें। केवल ये दो आँखें मैं ईर्याशोधन के लिए अपने अधिकार में रखता हूँ शेष सारा शरीर आपके लिए समुपस्थित है।'

यों समर्पित होकर उत्कट परिचर्या, संयम, साधना, तप, आराधना में जुटे। ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। गुणरत्न संवत्सर आदि विभिन्न प्रकार के तप किये। अन्त में सब संतों से क्षमायाचना करके प्रभु की आज्ञा लेकर एक महीने के अनशन में समाधिमरण प्राप्त किया और सर्वार्थ-सिद्ध विमान में पैदा हुए। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्ष में जाएंगे।

—ज्ञाताधर्मकथा, अ. १

१६२. मेतार्य गणधर

'वत्स' देश में तुंगिक नाम का एक नगर था। वहाँ कौंडिल्य गोत्र के कुछ ब्राह्मण रहते थे, जिनमें एक 'दत्त' नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम था वरुणदेवा। 'वरुणदेवा' ने एक सुकोमल, सौभाग्यवान पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम रखा 'मेतार्य'। मेतार्य अनेक शास्त्रों में पारंगत बने। वैदिक शास्त्रों के अधिकारी विद्वान बने। ये तीन सौ शिष्यों के अध्यापक थे, पर मन में एक सन्देह था—परलोक है या नहीं? अनेक प्रयत्न करने पर भी यह सन्देह नहीं मिट रहा था। इसे मिटाया भगवान् महावीर ने।

ये भी गौतम स्वामी के साथ 'सौमिल' के यहाँ अपापानगरी में यज्ञार्थ आये हुए थे। वहाँ से प्रभु के पास गये। अपनी शंका को मिटाकर प्रभु के पास अपने तीन सौ शिष्यों सहित संयमी बने। उस समय इनकी आयु सैंतीस वर्ष की थी। भगवान् महावीर के दसवें गणधर कहलाए। दस वर्ष छद्मस्थ रहे।

सैंतालीसवें वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष केवल-पर्याय रहे। अपनी बासठ वर्ष की आयु में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

—आवश्यकचूर्णि

१६३. मेतार्य मुनि

राजगृह में एक श्रेष्ठी रहता था। उसकी सेठानी मृतवत्सा थी, अर्थात् उसके मरे हुए बच्चे पैदा होते थे या होते ही मर जाते थे। सेठ-सेठानी इस कारण बड़े दुःखी रहते थे। उनके घर मेती नाम की एक चाण्डालिनी आया करती थी। सेठानी ने उससे अपना दुःख कहा। मेती ने अपना पुत्र सेठानी को देने का वचन दे दिया।

मेती के एक सुन्दर पुत्र हुआ और सेठानी के एक कुरूपा कन्या। दोनों ने अदला-बदली कर ली। पुत्र पाकर सेठ-सेठानी फूले न समाये। बड़ी धूमधाम से पुत्र का जन्मोत्सव मनाया और उसका नाम मेतार्य रखा।

मेतार्य का जीव इससे पूर्वजन्म में वैमानिक देव था और उससे पहले जन्म में उज्जयिनी के पुरोहित का पुत्र। यह पूर्व-जन्म में राजा के पुत्र के साथ मिलकर साधु-संतों को सताया करता था। किन्तु मुनि सागरचन्द्र के निमित्त से इसने संयम स्वीकार किया।

मुनि सागरचन्द्र साकेतपुर के राजा चन्द्रावतंसक के पुत्र थे। राजा चन्द्रावतंसक के सुदर्शना और प्रियदर्शना नाम की दो रानियाँ थीं। सुदर्शना से उनके दो पुत्र हुए—बड़ा सागरचन्द्र और छोटा मुनिचन्द्र। प्रियदर्शना से भी उनके दो पुत्र हुए—एक गुणचन्द्र और दूसरा बालचन्द्र।

एक बार राजा चन्द्रावतंसक पौषध में बैठे थे। उन्होंने अभिग्रह किया कि जब तक दीपक जलता रहेगा, मैं कार्योत्सर्ग में लीन रहूंगा। राजा के अभिग्रह से अनजान दासी दीपक में तेल डालती रही। उसकी भावना यह थी कि तेल समाप्त होने से दीपक बुझ न जाय, जिससे अन्धकार के कारण राजा के पौषध में विघ्न हो। इस प्रकार दीपक रात-भर जलता रहा और राजा भी कायोत्सर्ग में लीन रहे। रात-भर खड़े रहने से राजा का शरीर अकड़ गया। समभाव से देह त्यागकर वे स्वर्ग में देव बने।

पिता के यों आकस्मिक निधन से सागरचन्द्र के हृदय में वैराग्य की लहर उठी। वह संयम लेना चाहता था; लेकिन मुनिचन्द्र तो उज्जयिनी का शासन

संभाल रहा था और गुणचन्द्र तथा बालचन्द्र अभी छोटे थे; इसलिए उसे साकेतपुर का शासन चलाने के लिए रुकना पड़ा। विरक्त होते हुए भी विमाता प्रियदर्शना के आदेश से वह साकेतपुर का शासन संचालन करने लगा।

सागरचन्द्र के कुशल शासन-संचालन से उसका यश फैलने लगा। इससे विमाता को उससे ईर्ष्या हुई। उसने सागरचन्द्र को मारने के लिए विष-मोदक भेजा, लेकिन भाग्य योग से वह विष-मोदक उसी के पुत्र गुणचन्द्र-बालचन्द्र ने खा लिया। विष के लक्षण प्रकट होने लगे। सागरचन्द्र ने तुरन्त मणिमंत्र से उनका विष उतार दिया। वे स्वस्थ हो गए। लेकिन इस घटना से सागरचन्द्र विरक्त हो गया। उसने दीक्षा ले ली और मुनि सागरचन्द्र बन गये।

मुनि सागरचन्द्र विहार करते हुए उज्जयिनी आये। यद्यपि उज्जयिनी नरेश उनका छोटा भाई बहुत ही धर्मनिष्ठ था, किन्तु उसका पुत्र और पुरोहित-पुत्र दोनों ही श्रमणद्वेषी थे, वे साधु-संतों को तंग किया करते थे। उन्होंने मुनि सागरचन्द्र को भी बहुत परेशान किया। तब उन्हें शिक्षा देने के उद्देश्य से मुनिश्री ने उनकी हड्डियाँ उतार दीं और स्वयं उज्जयिनी से बाहर आकर इस अकृत्य का प्रायश्चित लेकर कायोत्सर्ग में लीन हो गये।

जब राजा मुनिचन्द्र को इस घटना का पता लगा तो उसे अपने पुत्र तथा पुरोहित-पुत्र के अकृत्य पर बड़ा दुःख हुआ। उसने मुनिराज से क्षमा माँगी और दोनों को स्वस्थ करने की प्रार्थना की। मुनिश्री ने उन दोनों को इस शर्त पर ठीक किया कि स्वस्थ होते ही वे मुनि-दीक्षा ले लेंगे। वचनबद्धता के अनुसार युवराज और पुरोहित पुत्र दोनों दीक्षित हो गये और आयु पूर्ण कर वैमानिक देव बने।

एक बार दोनों देव नंदीश्वर द्वीप गये। वहाँ तीर्थंकर देव के दर्शन करके पूछा—भगवन् ! हम सुलभबोधि होंगे या दुर्लभबोधि?

तीर्थंकरदेव ने बताया—युवराज ! तुम तो सुलभबोधि हो; किन्तु पुरोहित-पुत्र दूर्लभबोधि है।

यह सुनकर पुरोहित-पुत्र वाले देव ने अपने मित्र युवराज वाले देव से कहा—'तुम मुझे प्रतिबोध देना।' युवराज वाले देव ने भी ऐसा करने का वचन दिया।

वही पुरोहित-पुत्र वाला देव स्वर्ग से च्यवन करके मेतार्य नाम से मेती चाण्डालिनी के गर्भ से उत्पन्न हुआ और राजगृह के सेठ के यहाँ पला।

जब मेतार्य सोलह वर्ष का हो गया, तब राजपुत्र वाले देव ने अपने वचन के अनुसार उसे स्वप्न में प्रतिबोध दिया, लेकिन उसे प्रतिबोध लगा नहीं। उन्हीं दिनों सेठ ने मेतार्य का विवाह-सम्बन्ध आठ श्रेष्ठि-कन्याओं से निश्चित कर दिया।

अब देव ने मेती के शरीर में प्रवेश किया और आठों श्रेष्ठियों के सामने मेतार्य के जन्म का रहस्य खोल दिया। चाण्डाल-पुत्र के साथ कोई सेठ अपनी पुत्री का विवाह कैसे करता? परिणाम यह हुआ कि मेतार्य का विवाह-सम्बन्ध छूट गया और उसे श्रेष्ठी का घर छोड़कर चाण्डाल के घर जाना पड़ा।

जब देव ने उसे पुनः प्रतिबोध देने का प्रयास किया तो मेतार्य ने कहा—'यदि मेरी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुनः मिल जाए, राजा श्रेणिक मुझे अपना जामाता बना ले और श्रेष्ठी पुनः अपना पुत्र मान ले तो मैं दीक्षा लूंगा।'

देव ने मेतार्य की ये शर्तें भी स्वीकार कर लीं। उसने अपने देवशक्ति से चाण्डाल के घर एक बकरा बांध दिया, जो सोने की मींगणी (विष्ठा) करता था। ये मींगणियां मेतार्य के पिता मेहर चाण्डाल ने राजा श्रेणिक को भेंट कीं और अपने पुत्र के लिए उनकी पुत्री की याचना की। इस पर राजा श्रेणिक के पुत्र अभयकुमार ने यह शर्त रखी—यदि तुम राजगृह के चारों ओर सोने का परकोटा बनवा दो, वैभारगिरि पर पुल बाँध दो और उसके नीचे गंगा, यमुना, सरस्वती तथा क्षीर सागर का जल प्रवाहित कर दो, फिर उसमें स्नान करके तुम्हारा पुत्र पवित्र हो जाए तो उसे राजकन्या मिल सकती है।

यद्यपि यह शर्त असम्भव थी, किन्तु देवशक्ति के कारण सम्भव हो गई। मेतार्य को राजकन्या मिल गई। श्रेष्ठी ने उसे अपना पुत्र मान लिया और उसकी खोयी हुई प्रतिष्ठा से अधिक प्रतिष्ठा उसे मिल गई।

अब देव ने मेतार्य से चारित्र ग्रहण करने को कहा तो उसने बारह वर्ष तक गृहस्थ-सुख भोगने की इच्छा प्रकट की। बारह वर्ष बाद जब देव पुनः आया तो मेतार्य की पत्नी ने बारह वर्ष का समय मांग लिया।

इस प्रकार चौबीस वर्ष तक गृहस्थ-सुख भोगने के बाद मेतार्य ने भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण कर ली और मुनि मेतार्य बन गये। नौ पूर्वों का अध्ययन किया और जिनकल्प स्वीकार करके एकल विहारी बन गये।

एक बार मेतार्य मुनि विहार करते हुए राजगृही आए। मासखमण के

पारणे के लिए भिक्षा हेतु निकले और अनायास ही एक सुनार के यहाँ पहुँच गए। सुनार उस समय राजा के आदेश से सोने के यव बना रहा था। मुनि को देखते ही उस सुनार ने अपने भाग्य को सराहा और काम ज्यों का त्यों छोड़कर भिक्षा लेने चला आया।

इतने में एक क्रौंच पक्षी वहाँ आया और सोने के यवों को असली यव समझकर निगल गया। सुनार भिक्षा लेकर आया तो सोने के यव गायब थे। उसने मुनिश्री से पूछा। मुनिश्री ने मन में सोचा—यदि मैं सच बोलता हूँ, तो यह सुनार पक्षी को मार देगा और प्राणिवध का निमित्त बन जाऊँगा। यदि सावद्य वचन बोलूं तो मेरा सत्य महाव्रत भंग हो जाएगा। दोनों तरह से पाप लगेगा। यह सोचकर मुनिश्री मौन हो गए। उन्होंने कुछ भी न कहा।

सुनार ने बार-बार मुनि मेतार्य मुनि से यवों के बारे में पूछा। लेकिन जब उसे कोई उत्तर न मिला तो वह क्रोधित हो उठा। उसने समझ लिया कि इस ढोंगी मुनि ने ही स्वर्ण यव चुराये हैं। क्रोध में बेभान होकर उसने मुनि को पकड़ा और उनके मस्तक पर गीले चमड़े की पट्टी बाँधकर घर के आंगन में धूप में खड़ा कर दिया। धूप के कारण ज्यों-ज्यों गीला चमड़ा सूखा, उसका कसाव बढ़ता गया। मुनि को असह्य वेदना हुई। फिर भी वे समताभाव में लीन रहे। परिणामस्वरूप उनके समस्त कर्मों का क्षय हो गया। देह त्यागकर वे सिद्धशिला में जा विराजे।

उसी समय एक लकड़हारा सुनार के घर आया। उसने लकड़ियों का गट्ठर जोर से जमीन पर पटका। गट्ठर गिरने की आवाज से भयभीत होकर क्रौंच ने विष्ठा कर दी। स्वर्ण यव निकल आये। उन्हें देखकर स्वर्णकार चकित-भयभीत हो उठा। जाकर मुनि को देखा तो उनका शव ही वहाँ था। स्वर्णकार को बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह श्रमण भगवान महावीर की शरण में पहुँचा और निष्कपट हृदय से अपने घोर पाप की आलोचना-गर्हणा की। प्रायश्चित करके शुद्ध हुआ और पंचमहाव्रत धारण कर सद्गति प्राप्त की।

—आख्यानक मणिकोष, ४१/१२६

—उपदेशमाला (धर्मदास गणि), पृ. २६७

१६४. मौर्यपुत्र गणधर

भगवान् महावीर के सातवें गणधर थे 'मौर्यपुत्र'। ये काश्यप गोत्रीय 'मौर्य' गाँव

निवासी 'मौर्य' ब्राह्मण के पुत्र थे। इनकी माता का नाम 'विजयदेवी' था। ये चार वेद, चौदह विद्या के पारंगत थे। साढ़े तीन सौ शिष्यों के अध्यापक थे। *इनके मन में सन्देह था—'देव हैं या नहीं?' यह सन्देह भगवान् महावीर द्वारा* मिटाए जाने पर पैंसठ वर्ष की आयु में संयम स्वीकार कर लिया। सातवें गणधर बने। चौदह वर्ष छद्मस्थ रहे। अस्सीवें वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष केवलज्ञानी रहे। अनेक जीवों का मार्गदर्शन करते रहे। पिचानबे वर्ष की आयु में प्रभु महावीर के जीवनकाल में ही मोक्ष में जा विराजे।

—आवश्यकचूर्णि

१६५. आर्य मंगूसूरि

आर्य मंगू आर्य सागर के शिष्य थे। एक बार अनेक प्रदेशों में विहार करते हुए वे उत्तरमथुरा में आए। ये बहुश्रुत और बहुशिष्य परिवार वाले थे।

मथुरावासियों को इनकी उपदेश शैली बहुत अच्छी लगी। वे इनकी बहुत भक्ति करते और दूध, दही, घृत आदि से लाभान्वित करते।

श्रमण संघ ने जब-जब वहाँ से विहार करने का विचार किया, तब-तब मथुरावासियों ने अत्यधिक आग्रह करके रोक लिया। साथ ही आचार्यश्री को जो श्रद्धा-भक्ति और सुस्वादु भोजन प्राप्त हो रहा था, उससे उसके मन में भी रसासक्ति—मोहासक्ति जागृत हो चुकी थी। इसलिए वे भी श्रद्धालु भक्तों का आग्रह मानकर रुक जाते।

संघ के अन्य साधुओं ने आर्य मंगू को वहाँ से विहार करने के लिए बहुत आग्रह किया, लेकिन जब वे नहीं माने तो संघ के अन्य साधु वहाँ से विहार कर गये और आर्य मंगू वहीं रह गये।

स्थिरवास और सुस्वादु भोजन के कारण आर्य मंगू तप-संयम आदि साधना में शिथिल हो गये। वे प्रमाद का सेवन करने लगे। प्रमाद दशा में ही उन्होंने अपनी आयु पूर्ण की और चारित्रधर्म की विराधना के कारण यक्ष योनि में उत्पन्न हुए।

जब उन्होंने अवधिज्ञान से अपना पूर्वजन्म देखा तो उन्हें घोर पश्चात्ताप हुआ—अहो ! मैंने अपनी दुर्बुद्धि के कारण चारित्रधर्म की विराधना की। जिस श्रामणी दीक्षा का फल स्वर्ग-मोक्ष है, मैंने उसमें प्रमाद का सेवन किया, इसी कारण यक्ष योनि में उत्पन्न होना पड़ा है। सच है, चतुर्दशपूर्वी को भी

प्रमाद-सेवन के कारण अनन्तकाय में उत्पन्न होना पड़ता है,—इस प्रकार वे अपने प्रमाद की आलोचना करते रहते थे।

एक बार उन्होंने स्थंडिल भूमि की ओर जाते हुए अपने शिष्यों को देखा। उन्होंने मन में विचार किया—मुझे तो प्रमाद के कारण यक्ष योनि में आना ही पड़ा है, कहीं शिष्य भी भविष्य में प्रमादी न हो जायें, इसलिए इन्हें अभी से सावधान कर देना चाहिए। ऐसा विचार करके उन शिष्यों को सावधान करने के लिए अपना विचित्र रूप बनाकर और लम्बी जिह्वा निकालकर मार्ग में खड़े हो गये। ऐसे रूप वाले यक्ष को देखकर उनके एक शिष्य ने पूछा—भद्र ! तुम कौन हो और तुम्हारा क्या अभिप्राय है?

तब यक्ष ने कहा—मैं तुम्हारा गुरु मंगूसूरि हूँ।

आश्चर्य प्रकट करते हुए शिष्यों ने पूछा—गुरुदेव ! आपकी यह दशा किस कारण हुई है?

यक्ष ने बताया—मैंने प्रमादवश होकर चारित्रधर्म की विराधना की थी, उसके परिणामस्वरूप मेरी यह दशा हुई है। यदि तुम लोग भी ऐसी दशा से बचना चाहो तो प्रमादरहित साधना करते रहना।

शिष्यों ने गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रकट हुए कहा—आपने हमें उचित समय पर सावधान किया। हम संयम-साधना में कभी भी प्रमाद नहीं करेंगे।

नंदीसूत्र स्थविरावली में आर्य मंगू को सूत्रों का पाठ करने वाले, सूत्रोक्त आचरण करने वाले और धर्मध्यान करने वाले आदि विशेषणों से युक्त कहा है। ये ज्ञान-दर्शन के परम प्रभावक और श्रुतरूपी सागर के पारगामी विद्वान थे। जब ऐसी विशेषताओं से युक्त आर्य मंगू को भी यक्ष योनि में उत्पन्न होना पड़ा तो साधारण साधक की बात ही क्या है? इसलिए चारित्र-पालन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

—निशीथचूर्णि, भाग २-३

—दर्शनशुद्धि सटीक, श्लोक ३-४

१६६. मंडितपुत्र गणधर

'मंडितपुत्र' भगवान् महावीर के छठे गणधर थे। इनका गोत्र वासिष्ठ था। ये 'मौर्य' गाँव में रहने वाले 'धनदेव' ब्राह्मण की पत्नी 'विजयादेवी' के आत्मज

थे। प्रतिभाशाली, प्रत्युत्पन्नमति तथा अनेक विद्याओं के अधिकारी विद्वान थे। ३५० शिष्यों के अध्यापक थे। इतना सब कुछ होते हुए भी इनके मन में सन्देह था—'बंध और मोक्ष है या नहीं? है तो कैसे और क्यों है?' इस शंका का समाधान भगवान् महावीर ने किया। शंका का समाधान पाते ही अपने शिष्यों सहित इन्होंने संयम ले लिया। प्रभु के शिष्य बन गये। ५४ वर्ष के आयु में इन्होंने संयम स्वीकार किया। चौदह वर्ष छद्मस्थ रहे। अड़सठवें वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष केवली रहकर ८३ वर्ष की आयु पूर्ण करके निर्वाण प्राप्त किया।

—आवश्यकचूर्णि

१६७. यवराजर्षि

यवपुर नामक सुन्दर नगर के राजा थे यव। उनकी रानी का नाम धारिणी था। धारिणी ने एक पुत्र और पुत्री को जन्म दिया। पुत्र का नाम गर्दभिल्ल रखा गय और पुत्री का नाम अणोलिका (अणुल्लिया)। राजा के मंत्री का नाम दीर्घपृष्ठ था।

एक बार राजा यव अपनी राजसभा में बैठे थे और उनकी गोद में थी अणुल्लिया। उस समय एक नैमित्तिक आया। अणुल्लिया के लक्षण देखकर उसने भविष्यवाणी की कि इस कन्या का पति बहुत बड़ा राजा बनेगा।

अभी गर्दभिल्ल बालक ही था कि चतुर्ज्ञानी मुनि अभिधान सूरि के उपदेश से राजा यव प्रतिबुद्ध हो गये। उन्होंने बालक गर्दभिल्ल का राज्याभिषेक किया, शासन-सूत्र मंत्री दीर्घपृष्ठ को दिया और प्रव्रजित हो गये।

यवराजर्षि में संयम-साधना तथा सेवा-वैयावृत्त्य के प्रति बहुत उत्साह था, लेकिन शास्त्र-स्वाध्याय के बारे में उनके मन-मस्तिष्क में यह भ्रम प्रवेश कर गया था कि उम्र अधिक होने से याद नहीं हो सकेगा। इसलिए ज्ञानार्जन के प्रति वे उत्साहशील नहीं थे। उनके इस भ्रम को निकालने और ज्ञानार्जन में रुचि जागृत करने के लिए आचार्य ने एक उपाय सोचा—उन्हें यवपुरवासियों को धर्मोपदेश देने भेज दिया।

गुरु-आज्ञा मानकर यवराजर्षि चल दिये। मार्ग में विश्राम-हेतु एक वृक्ष की शीतल छाया में बैठे। सामने जौ का खेत लहलहा रहा था। किसान अपने खेत की रखवाली कर रहा था। पास ही खड़ा एक गधा जौ खाने को ललचा रहा

था। वह आगे बढ़ता और किसान का डंडा देखकर पीछे हट जाता। गधे की इस चेष्टा को देखकर किसान गुनगुनाने लगा—

अवधससि धससि धुत्ता, ममं चेव निरक्खसि।
लक्खिओ ते अभिप्पाओ, जवं पेच्छसि गद्दहा।।

अर्थात्—हे गर्दभ ! तू आगे बढ़ता है, पीछे हट जाता है; मुझे भी देख रहा है। तेरा विचार यव (जौ) खाने का है; मैं समझ गया।

यह गाथा यवराजर्षि को अच्छी लगी और उन्होंने यह गाथा रट ली।

कुछ और आगे बढ़े तो गाँव के बाहर मैदान में बच्चे 'गिल्ली-डंडा' खेल रहे थे। गिल्ली दूर जाकर एक गड्ढे में गिर पड़ी। बालक इधर-उधर झाँकने लगे। एक बालक को वह गिल्ली दिखाई दे गई। वह एक गाथा बोला—

इओ गया, तओ गया, जोइज्जंती न दीसई।
वयं एवं वियाणामो, अगडे पडिया अणुल्लिया।।

अर्थात्—इधर गई, उधर गई, तुझे देखने पर भी नहीं दिखाई देती; लेकिन मैं जानता हूँ कि अणुल्लिया (गिल्ली) गड्ढे में पड़ी हुई है।

यह गाथा भी यवराजर्षि को अच्छी लगी और याद कर ली तथा आगे बढ़ गये।

अब यवराजर्षि यवपुर पहुँच गये। संध्या हो चुकी थी अतः नगर के बाहर ही एक कुंभकार के घर पर शुद्ध स्थान प्राप्त कर रात्रि-विश्राम के लिए ठहर गये।

संध्याकालीन प्रतिक्रमण करके मुनि स्वाध्याय कर रहे थे। सामने ही ओटले (अन्दर के चबूतरे) पर कुम्भकार बैठा था। उसने देखा—एक चूहा बड़े मजे से इधर-उधर दौड़ रहा है। कुंभकार जरा-सा हिला तो चूहा डरकर बिल में घुस गया। उस चूहे की भयाकुल दशा देखकर कुंभकार गुनगुनाया—

सकुमालय भद्दलया, रत्ति हिंडणसीलया।
मम समासाओ नत्थि भयं, दीहपिट्ठाओ ते भयं।।

अर्थात्—हे सुकुमार भद्र मूषक (चूहे) ! मुझे मालूम है रात के अंधेरे में घूमते रहने का तेरा स्वभाव है, तो भाई आनन्द से घूमो-फिरो। तुम्हें मुझसे कोई भय नहीं है। भय तो तुम्हें दीर्घपृष्ठ (सर्प) से है।

यवराजर्षि को यह गाथा भी बड़ी अच्छी लगी। इसलिए उन्होंने याद कर ली। मन में सोचा—इन गाथाओं के सहारे प्रवचन चल सकेगा। इसलिए वे

इन तीनों गाथाओं को गुनगुनाने लगा।

राजकुमार गर्दभिल्ल यद्यपि बालक था, लेकिन कर्त्तव्य के प्रति असावधान नहीं था। वह रात को नगर में घूमकर प्रजा के सुख-दुःख को जानने का प्रयास करता रहता था। इधर यव राजा के साधु बनने के बाद मन्त्री दीर्घपृष्ठ के विचार कलुषित हो गये थे। यह तो वह निमित्तज्ञ के भविष्य-कथन से जान ही गया था कि अणोलिका से विवाह करने वाला पुरुष बड़े राज्य का स्वामी बनेगा। उसके हृदय में भी लालच समा गया। अणोलिका के साथ विवाह करने की इच्छा से प्रेरित होकर उसने अपने विश्वस्त सेवकों से उसका अपहरण करा लिया और उसे अपने भवन के तलघर में डाल दिया। भाई ने बहन की बहुत खोज कराई पर सफल न हो सका।

इधर यवराजर्षि के नगर में आने से मन्त्री घबरा गया। उसने सोचा—कहीं राजर्षि ने अपने ज्ञानबल से मेरा भाण्डा फोड़ दिया तो मैं कहीं का न रहूंगा। इसलिए यवराजर्षि को ही ठिकाने लगवा देना चाहिए। अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए उसने राजकुमार गर्दभिल्ल को चुना। रात को ही वह उसके पास पहुँचा और यह कहकर उसे भड़काया कि तुम्हारे पिता संयम नहीं पाल सके, इसलिए वापस आये हैं। वे तुम्हें मारकर सिंहासन छीनना चाहते हैं। इसलिए तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम पिता को पहले ही ठिकाने लगा दो। गर्दभिल्ल ने पिता को मारना अधर्म बताया तो मन्त्री बोला—तुम्हारे पिता भी तो धर्म का मार्ग छोड़कर राज्य छीनने आये हैं। ऐसे अधर्मी पिता को मारना अधर्म नहीं है।

यह बात गर्दभिल्ल की समझ में आ गई। वह नंगी तलवार लेकर यवराजर्षि को मारने कुंभकार के घर जा पहुँचा। दबे पाँव इधर-उधर घूमने लगा और अन्दर जाकर राजर्षि को मारने की योजना बनाने लगा। तब तक उसके कान में अन्दर से गुनगुनाहट की आवाज़ सुनाई दी। राजकुमार ने एक बड़े छेद में से झांका तो देखा राजर्षि गुनगुना रहे थे। वह कान लगाकर सुनने लगा। राजर्षि गाथा गुनगुना रहे थे—

> अवधससि धससि धुत्ता, ममं चेव निरक्खसि।
> लक्खिओ ते अभिप्पाओ, जवं पेच्छसि गद्दहा।।

इस गाथा को सुनकर राजकुमार ने सोचा—राजर्षि मुझे ही संबोधित करके कह रहे हैं—हे गदहा (गर्दभिल्ल) ! तू इधर-उधर घूम रहा है, मुझको बार-

बार देख रहा है। मैं तेरा अभिप्राय समझ गया हूँ। तेरी नजर यव (यवराजा) पर है।

ऐसा विचार आते ही राजकुमार ने मन में समझ लिया कि मुनि ज्ञानी हैं, ये मेरा इरादा जान चुके हैं। संभवतः यह मेरी बहन के बारे में भी कुछ *जानते हों। तभी राजर्षि ने दूसरी गाथा गुनगुनाई—*

इओ गया, तओ गया, जोइज्जंती न दीसई।
वयं एवं वियाणामो, अगडे पडिया अणुल्लिया।।

इस गाथा के अर्थ पर विचार करते हुए राजकुमार के हृदय में हलचल मच गई। उसने अणुल्लिया का अभिप्राय अपनी बहन अणोलिका से लगाया। वह सभी जगह अणोलिका की खोज करा चुका था, सिर्फ मन्त्री का भवन ही बाकी था। उसने समझा कि मन्त्री ने ही अपने तलघर में मेरी बहन को कैद कर रखा होगा। तभी राजर्षि ने तीसरी गाथा गायी—

सकुमालय भद्दलया, रत्ति हिंडणसीलया।
मम समासाओ नत्थि भयं, दीहपिट्ठाओ ते भयं।।

'दीहपिट्ठाओ' शब्द से राजकुमार ने मन्त्री दीर्घपृष्ठ का नाम समझा। अब तो उसे विश्वास हो गया कि मन्त्री ही मेरा शत्रु है। इसीलिए वह मुझसे पितृवध जैसा जघन्य और निंद्य कार्य करवाना चाहता है।

वह वहाँ से उल्टे पांवों लौट आया। प्रातः होते ही उसने मन्त्री के घर की तलाशी ली तो तलघर में अणोलिया मिल गई। मन्त्री के इस कुकृत्य से राजकुमार का रोष तो उमड़ा ही; जनता में भी रोष का तूफान उमड़ आया। राजा-प्रजा ने मिलकर मंत्री को सपरिवार देश-निकाले का दण्ड दिया।

यवराजर्षि ने सुबह प्रवचन दिया तो वहाँ समस्त जनता उमड़ पड़ी। राजर्षि ने बताया कि किस तरह तीन गाथाओं ने अनर्थ होने से बचा लिया।

यवराजर्षि के मन में तो ज्ञानार्जन के प्रति उत्साह जागा ही, उनकी प्रेरणा से नगर के सभी आबाल-वृद्ध ज्ञानार्जन में जुट गये।

इस घटना से रानी धारिणी और राजकुमार गर्दभिल्ल को भी संसार से विरक्ति हो गई। धारिणी ने अपने भान्जे के साथ अणोलिका का विवाह कर दिया और उसे राजा बनाकर त्याग-मार्ग अपना लिया। माता के साथ गर्दभिल्ल भी प्रव्रजित हो गया।

स्वाध्याय की इस छोटी-सी घटना से हजारों-लाखों का जीवन चमक उठा।

—आख्यानक मणिकोश, १४/४४

—उपदेश प्रासाद, १५/२१४

—भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक, ८७

१६८. रहनेमि-राजीमती

'द्वारिका' नगरी श्रीकृष्ण वासुदेव की राजधानी थी। सोलह हजार राजाओं पर उनका अधिकार था। उन सोलह हजार राजाओं में महाराज 'उग्रसेन' भी थे। इनकी रानी 'धारिणी' से उत्पन्न एक पुत्री थी। उसका नाम राजुल था। इसे राजीमती भी कहते हैं। श्री नेमिनाथ गृहस्थावास में रहकर भोगों से विमुख थे। श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित होकर उनकी महारानियों के द्वारा फैलाए वाक्जाल द्वारा नेमिनाथ को ज्यों-त्यों विवाह करने के लिए मना लिया गया। विवाह के दिन जब बारात सज-धजकर तोरण में पहुँची तब पशुओं की करुण चीत्कार सुनकर प्रभु अविवाहित लौट गए। समुद्रविजय, उग्रसेन, श्रीकृष्ण वासुदेव का अत्याग्रह भी नेमिनाथ को विवाह के लिए तैयार नहीं करा सका। वर्षीदान देकर प्रभु संयमी बन गए।

राजीमती भी ऐसी-वैसी कन्या नहीं थी। नेमिनाथजी से नौ भवों का सम्बन्ध था। वह भी एक सुसंस्कारी कन्या थी। सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यवन करके यहाँ आयी थी। राजीमती को पाने के लिए कई राजकुमार लालायित थे। पर राजुल इस निर्णय पर आयी कि स्त्री का पति एक ही हुआ करता है। जब वे ही मुझे छोड़कर चले गये हैं तो मेरे लिए भी उसी पथ का अनुसरण समुचित रहेगा जो नेमिनाथजी ने ग्रहण किया है। मैं भी संयम लूंगी। यों निर्णय करके संयम स्वीकार करके साधना में लीन रहने लगी।

एक बार भगवान नेमिनाथ के दर्शनार्थ राजीमती जा रही थी। सतियों का समूह साथ था। अकस्मात् घनघोर वर्षा होने के कारण सारी सतियां तितर-बितर हो गयीं। कोई किधर गयी, कोई किधर गयी। वर्षा में सब-की-सब तरबतर थीं। राजुल वर्षा के उत्पात से बचने के लिए एक गुफा में पहुँच गयी। गुफा में अंधेरा था। निर्जन स्थान समझकर राजीमती अपने कपड़े उतारकर निचोड़ने लगी। उसी समय सहसा बिजली की चमक से 'राजीमती' का दिव्य रूप गुफा में ध्यानस्थ खड़े 'रथनेमि (रहनेमि) मुनि ने देखा। 'रथनेमि' भगवान्

'नेमिनाथ' के लघु भ्राता थे। 'राजुल' के देवर थे। वे पहले भी 'राजुल' के प्रति आकृष्ट थे। 'राजीमती' को पाने का प्रयत्न भी किया था, पर वे असफल रहे। जब उसे आज पुनः देखा तो अपना सारा भान भूल बैठा। संयम की शान को भूलकर प्रणय की याचना करते हुए बोले—भद्रे ! इस यौवन को यों गंवाना उचित नहीं है। मैं तेरे लिए सर्वात्मना समर्पित हूँ। आ जा, हम दोनों मिलकर एक नया ही संसार बसाएं।

सिंहनी की भांति दहाड़ती हुई राजीमती बोली—रथनेमि ! यह आप क्या बोल रहे हैं? आपने संयम लिया है। एक संयमी को क्या ऐसे शब्द शोभा देते हैं? देखिए, विचार करिए, आप कौन हैं? मैं कौन हूँ? अपना कुल कैसा उज्जवल है? इसे कलंकित मत कीजिए।

रथनेमि—माना मैंने संसार छोड़ा है, पर तेरे लिए तो अब संयम भी छोड़ने के लिए तैयार हूँ। कुछ दिन वैषयिक सुखों का उपभोग करके क्या संयम फिर नहीं लिया जा सकता?

राजीमती—धिक्कार है आपके इन विचारों को ! आपके बड़े भाई नेमिनाथ मुझे छोड़कर गए। उनके द्वारा वमित की हुई मुझको आप पुनः लेने को ललचा रहे हैं। जातिवान सर्प अग्नि में पड़कर जल जाता है, पर वमित विष को वापस नहीं चूसता। मुनिवर, आप भी जातिवान हैं। संयम-रत्न का मोल आंकें। मैं तो स्वप्न में भी आपको नहीं चाहूंगी। भला जब आप मुझे यों देखते ही भान भूल बैठे, तब घर-घर में भिक्षा को जायेंगे, सुन्दर बालाओं को देखेंगे, यों मन को विचलित करेंगे तो आपको कौन साधु कहेगा? साधुत्व का निर्वाह कैसे कर सकेंगे? अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अपने आप को काबू करिये।

राजीमती की इस शिक्षा ने रथनेमि के लिए अंकुश का काम किया। मुक्तकंठ से राजुल का गुणगान करते हुए भगवान् 'नेमिनाथ' के पास गये। अपने विचलित मन की आलोचना की। प्रायश्चित लेकर संयम-मार्ग पर पुनः आरूढ़ हुए और निरतिचार संयम की साधना करके केवलज्ञान प्राप्त किया।

सती राजीमती ने भी अपने कपड़े अवेर कर प्रभु के दर्शन किये। संयम-तप में लीन रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् नेमिनाथ से चौवन दिन पहले निर्वाण प्राप्त लिया।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २२

१६६. राम-लक्ष्मण

'राम' और 'लक्ष्मण' भगवान् 'मुनिसुव्रत' के शासन-काल में होने वाले जैनजगत् के सुप्रसिद्ध आठवें बलदेव और वासुदेव थे। ये दोनों 'अयोध्या' के सूर्यवंशी महाराज 'दशरथ' के पुत्र थे। 'श्रीराम' की माता का नाम 'कौशल्या' तथा 'लक्ष्मण' की माता का नाम 'सुमित्रा' था। महाराज 'दशरथ' के दो पुत्र और भी थे जिनमें एक 'कैकेयी' का पुत्र 'भरत' तथा दूसरा 'सुप्रभा' का पुत्र 'शत्रुघ्न' था।

राम और लक्ष्मण का प्रेम अधिक विश्रुत है। बड़े होने पर 'राम' का विवाह 'मिथिला' के महाराज 'जनक' की राजकुमारी 'सीता' के साथ हुआ।

राजा दशरथ ने दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण करने का विचार किया। उनके साथ ही भरत ने भी संयम लेने की इच्छा प्रकट की। कैकेयी पति और पुत्र—दोनों के वियोग को सहन करने में असमर्थ पाकर भान भूल बैठी। जब 'राम' का राज्याभिषेक होने ही वाला था, उस समय राजा दशरथ को उनके द्वारा दिये गये वचन की याद दिलाते हुए कहा—'आप संयम ले रहे हैं तो मैं चाहती हूँ मेरे पुत्र को राज्य-पद दिया जाए।' इस मांग का रहस्य सिर्फ इतना-सा था कि राज्य-भार पड़ने से भरत संयम नहीं ले सकेगा और कैकेयी को एक साथ पति एवं पुत्र—दोनों का वियोग नहीं सहना पड़ेगा।

राजा दशरथ भरत को राज्य-पद देने को तैयार हो गये। लेकिन भरत तो राज्य से निस्पृह थे। उन्होंने साफ-साफ कह दिया—बड़े भाई राम के रहते मैं किसी भी मूल्य पर राज्य नहीं करूंगा।

'राम' ने तत्क्षण भरत के इस शब्द को पकड़कर कहा—यह मेरे रहते राज्य नहीं करेगा तो मैं वन को जाता हूँ। तुम यहाँ रहकर राज्य करो। यों 'राम' ने स्वयं ही बनवास ले लिया। सती 'सीता', लघु भाई 'लक्ष्मण' भी साथ गये। पीछे से 'दशरथ' ने संयम ग्रहण कर निर्वाण प्राप्त किया। 'भरत' निस्पृह रहकर शासन संचालन करने लगे।

वनवास में एक जगह 'लक्ष्मण' के हाथ से 'सूर्पणखा' के पुत्र 'शंबूक' का अनजाने में वध हो गया। 'सूर्पणखा' के बहकाने से लंका नगरी का स्वामी 'रावण' 'सीता' को लेने आया। 'शंबूक' के पिता खर आदि के साथ युद्ध छिड़ा। 'लक्ष्मण' और 'राम' उधर चले गये। अकेली देखकर सीता को राजा रावण चुराकर लंका ले गया। रावण ने सीता को अपनी पटरानी बनाने के बहुत

प्रलोभन दिये। परन्तु सीता ने अपने सतीत्व पर तनिक भी आंच न आने दी। राक्षस के चंगुल में रहकर भी बिलकुल बेदाग रही। 'राम' और 'लक्ष्मण' ने 'सुग्रीव' और 'हनुमान' के द्वारा खोज कराई और भारी सेना के साथ वहाँ गये। भीषण युद्ध हुआ। अन्त में राजा 'रावण' की मृत्यु 'लक्ष्मण' के हाथ से हुई। 'रावण' आठवां प्रति-वासुदेव था। 'रावण' को मारकर 'लक्ष्मण' आठवें वासुदेव बने। 'राम' ने लंका का राज्य 'विभीषण' को दे दिया। इसके बाद 'सीता' को लेकर अनेक राजाओं के साथ 'राम-लक्ष्मण' अयोध्या में आये। वहाँ आने पर 'राम' के आठवें बलदेव के पद का तथा 'लक्ष्मण' के आठवें वासुदेव के पद का अभिषेक हुआ।

जब लक्ष्मण का आकस्मिक देहान्त हो गया, तब श्री राम छः महीनों तक लघु-बन्धु-बिछोह का दुःख करते रहे। उनके मोह में अपना भान भूल बैठे। फिर सेनापति देव के द्वारा प्रबुद्ध करने पर संयम स्वीकार किया। श्री 'राम' जब क्षपक-श्रेणी चढ़ने लगे तब सीतेन्द्र (महासती 'सीता' का जीव जो संयम लेकर बारहवें स्वर्ग का स्वामी हुआ था) ने वहाँ आकर विविध प्रकार के मोहक, कामुक और आकर्षक दृश्यों की विकुर्वणा की। 'सीतेन्द्र' चाहता था—श्री 'राम' मोक्ष में न जाकर मेरे यहाँ आ जायें तो हम मित्र बनें। वहाँ आनन्द करें। पर श्री 'राम' अविचल रहे। केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। पन्द्रह हजार वर्ष की आयु में श्री 'राम' ने निर्वाण प्राप्त किया।

श्रीराम का जन्म का नाम पद्म है, किन्तु वे राम के नाम से ही सर्व विश्रुत हुए। राम की कथा भारतीय संस्कृति में बहुत विश्रुत है। अनेक भाषाओं में रामायण लिखी गई है। यह राम की अधिक लोकप्रियता का परिचायक है।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ७

१७०. रावण

भगवान् 'मुनिसुव्रत' के शासन-काल में दक्षिण भारत में 'लंका' नगरी में राजा 'रावण' का जन्म हुआ। इसके पिता का नाम 'रत्नश्रवा' और माता का नाम 'केकसी' था। रावण के दो भाई, एक बहन और भी थी जिसका नाम 'कुंभकर्ण', 'विभीषण' तथा बहन चन्द्रनखा था, किन्तु यह सूर्पणखा के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हुई।

'रावण' के कुल में कुल क्रम से राक्षसी विद्या का प्रचलन था। अत: ये राक्षस कहलाते थे। 'रावण' के प्रपितामह को भीमेन्द्रदेव ने राक्षसी विद्या और नवमाणिक का हार दिया था। यह नवमाणिक हार राजा 'रावण' ने अपने शैशवकाल में ही एक दिन सहसा गले में पहन लिया। नवमाणिक में उसके नौ मुख दिखने लगे। एक मुंह स्वयं का था ही। इससे उसका नाम दशमुख पड़ गया। यह दशकंधर के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। इन्द्रजीत, मेघवाहन आदि रावण के कई दुर्दान्त पुत्र थे। मंदोदरी आदि कई रानियां थीं।

राजा रावण अद्‌भुत बलवान, समृद्धिवान तथा प्रतिभावान शासक था। तीन खण्ड पर अपना अधिकार जमाकर प्रतिवासुदेव कहलाया। कई सद्‌गुणों में एक गुण राजा रावण में यह भी था कि उसने नियम ले रखा था—जो स्त्री उसे नहीं चाहेगी, उसे वह बलात् स्वीकार नहीं करेगा।

इतना सब कुछ होने पर भी अपनी बहन 'सूर्पणखा' के बहकाने पर महासती 'सीता' को उठाकर ले गया। राम-लक्ष्मण ने सेना सज्जित करके रावण पर चढ़ाई की। भयंकर युद्ध हुआ। रावण ने अपना चक्र लक्ष्मण को मारने के लिए फेंका, लेकिन उससे लक्ष्मण का कुछ नहीं बिगड़ा। लक्ष्मण ने उसी चक्र को रावण पर फेंका। रावण अपने ही चक्र से धराशायी हो गया। होता भी यही है। सभी प्रतिवासुदेव अपने ही चक्र से मरते हैं। रावण नरक में गया। आगे कई जन्मों के बाद तीर्थंकर बनकर निर्वाण प्राप्त करेगा।[१]

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ७

१७१. रुक्मिणी

'रुक्मिणी' 'विदर्भ' देश के 'कुंडिनपुर' नगर के महाराज 'भीम' की पुत्री थी। उसका रूप-सौन्दर्य अनन्य था। 'रुक्मिणी' की माँ का नाम 'शिखावती' तथा भाई का नाम 'रुक्मी' था।

'सत्यभामा' का मान भंग करने के लिए नारद मुनि एक ऐसी कन्या की

---

१. २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ वासुदेव, ६ बलदेव और ६ प्रतिवासुदेव—ये ६३ शलाका (शलाघ्य) पुरुष कहलाते हैं जिनमें तीर्थंकरों की गति तो मोक्ष ही होती है। चक्रवर्ती की गति मोक्ष, स्वर्ग और नरक—तीनों ही हो सकती है। बलदेव स्वर्ग अथवा मोक्ष के अधिकारी होते हैं। वासुदेव और प्रतिवासुदेव निदान करके ही उस पद पर आते है। इसलिए ये अधोभूमि के ही अधिकारी होते हैं। इतना अन्तर जरूर है कि अधोभूमि में जाने वाले वासुदेव और चक्रवर्ती कुछ ही भवों के बाद निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

खोज में थे जो श्रीकृष्ण के लिए सब विधि समुचित हो। जब 'रुक्मिणी' को उन्होंने देखा तो नारद मुनि पुलकित हो उठे। उसका चित्र बनाकर लाए। श्रीकृष्ण को दिखाया। इसी बीच 'रुक्मिणी' के भाई 'रुक्मी' ने अपने पिता तथा बहन की इच्छा की अवहेलना करके 'रुक्मिणी' का सम्बन्ध चन्देरी नगरी के महाराज शिशुपाल के साथ कर दिया।

पिता पुत्र की इस हठ को मूक बना देख रहा था। उधर नारद ऋषि रुक्मिणी के महलों में जाकर उसे कृष्ण के प्रति आकर्षित कर आये तथा यह भी कह दिया कि यदि तेरी तरफ से कुछ संकेत श्रीकृष्ण को मिल गया तो वे अवश्य समय पर पहुँचकर तेरी भावना पूरी करेंगे।

'रुक्मी' के आमन्त्रण पर 'शिशुपाल' बारात लेकर वहाँ आ पहुँचा। चारों ओर नगर में सेना का घेरा डाल दिया, ताकि कोई अन्य बीच में न आने पाए।

'रुक्मिणी' ने चिन्तित होकर 'कुशल' पुरोहित के द्वारा 'श्रीकृष्ण' को पत्र भेजा। पत्र मिलते ही 'बलभद्र' को साथ लेकर श्रीकृष्ण वहाँ पहुँचे और नगर के बाहर 'प्रमद बाग' में आकर ठहरे। 'रुक्मिणी' अपनी बुआ के साथ कामदेव की पूजा के लिए उपवन में पहुँची। श्रीकृष्ण उसे वहाँ मिल ही गए। जब उसे लेकर श्रीकृष्ण जाने लगे तब नारद मुनि के सचेत करने से 'श्रीकृष्ण' ने शंखनाद किया। उस नाद से रुक्मिणी का हरण श्रीकृष्ण के द्वारा जानकर रुक्मी और शिशुपाल क्रुद्ध हो युद्ध करने आये। किन्तु युद्ध में दोनों को ही मुँह की खानी पड़ी। शिशुपाल अपनी शान गंवाकर भाग गया तथा रुक्मी को बांध लिया गया। बंधा हुआ देखकर रुक्मिणी ने दया दिखाकर उसके बंधन खुलवा दिए। भीम राजा अपनी पसन्द का जामाता पाकर परम प्रसन्न हुआ। 'रुक्मिणी' के साथ श्रीकृष्ण का सानन्द पाणिग्रहण कर दिया गया। नारद मुनि को 'सत्यभामा' के ऊपर सौत लाकर बहुत अधिक प्रसन्नता हुई। रुक्मिणी श्रीहरि की पटरानी बनी।

रुक्मिणी के सामर्थ्यवान् 'प्रद्युम्नकुमार' नाम का पुत्र हुआ। द्वारिका-दहन का प्रसंग सुनकर 'श्रीकृष्ण' की अनेक रानियां संसार से विरक्त हो उठीं। उसी प्रसंग पर श्रीकृष्ण की आज्ञा लेकर 'रुक्मिणी' ने भी प्रभु के पास संयम लिया। महासती 'राजीमती' के नेतृत्व में रहकर उत्कट तपोबल के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके निर्वाण प्राप्त किया।

—अन्तकृद्दशा
—आवश्यक कथा

१७२. रेवती

'रेवती' 'मींढा' गाँव में रहने वाली एक धनाढ्य सेठ की पत्नी थी। जैनशासन के प्रति उसकी बहुत अधिक निष्ठा थी। भगवान् महावीर की परम उपासिका थी।

भगवान् महावीर के तीर्थंकर अवस्था के चौदहवें वर्ष में जब गोशालक का उपसर्ग हुआ, उस समय गोशालक ने प्रभु के शरीर को तेजोलेश्या से जलाने का प्रयत्न किया था। वह तीव्रतम तेजोलेश्या भी प्रभु के शरीर के अन्दर नहीं घुस सकी, पर परिताप अवश्य लगा। उसके परिताप से छः महीनों तक पेचिश के दस्त प्रभु को लगते रहे। उस रोग को मिटाने हेतु प्रभु ने सिंह मुनि से कहा—'सिंह ! तुम रेवती के यहाँ जाओ। उसके यहाँ दो तरह के पाक हैं। एक है कूष्माण्ड पाक। वह उसने मेरे लिए बनाया है, और हमें अकल्प्य है इसलिए उसे मत लाना। उसके यहाँ ही दूसरा है विजोरापाक, जो उसने अपने घोड़े के लिए बनाया है, वह ले आओ।'

सिंह मुनि रेवती के यहाँ गए। रेवती मुनि को देखकर परम प्रसन्न हुई। मुनि ने जब पाक की याचना की तब वह कूष्माण्ड पाक देने लगी। मुनि ने उसे अग्राह्य बताकर विजोरा पाक देने के लिए कहा। रेवती ने बहुत ही चढ़ते भावों से मुनि को वह पाक दिया। भावना इतनी तीव्र थी कि उसी तीव्रता के कारण तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया। पाक के सेवन से भगवान् का शरीर निरोग हुआ। रेवती गृहस्थधर्म का परिपालन कर स्वर्ग में गई।

—भगवती, १५

१७३. रोहिणी

राजगृही में रहने वाले 'धन्ना सार्थवाह' के चार पुत्र थे—धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। इन चारों की पत्नियों के नाम थे—उज्झिता, भोगवती, रक्षिता और रोहिणी।

धन्ना सार्थवाह का जीवन सानन्द चल रहा था। एकदा सार्थवाह के मन में आया—लोग मुझे मेरे परिवार में अग्रगण्य गिनते हैं। सारे कार्य मुझे पूछकर करते हैं। मेरी राय का सम्मान करते हैं। परन्तु मेरे पीछे इस परिवार की व्यवस्था किसको सौंपनी चाहिए? कौन ऐसा है जो किसी को गलत रास्ते पर

जाते हुए रोक सकेगा? इसलिए अच्छा होगा मैं अपनी चार पुत्रवधुओं की परीक्षा करके देख लूं—इनमें कौन बुद्धिमती है। मैं बुद्धिमान उसे समझूंगा जो सम्पत्ति को बढ़ाने वाली हो। यह भी केवल चावल के पाँच अखंड दाने देकर मुझे देखना है इनमें से उन दानों की कौन वृद्धि करता है, कौन रक्षा करता है तथा कौन नष्ट करता है?

यही सोचकर सारे मित्र, ज्ञातिजनों के लिए भोज का व्यवस्था की। पुत्रवधुओं के परिवारवालों को भी बुला लिया गया। सबके सामने चारों को चावल के पाँच-पाँच दाने देकर कहा—जब मैं माँगूं, तब मुझे ये दाने वापस लौटा देना।

सबसे बड़ी बहू 'उज्झिता' नें सोचा—इतना आडम्बर करके श्वसुरजी ने ये दाने दिये। वह भी यह कहकर कि जब मैं माँगूं तब मुझे वापस देना है। इनमें भी क्या खास बात है। हमारे घर में चावलों के भण्डार भरे हैं। श्वसुरजी जब भी माँगेंगे, उनमें से पाँच दाने लाकर दे दूंगी। ऐसा विचार कर उसने उन दोनों को एक ओर फेंक दिया।

दूसरी भोगवती ने सोचा—ससुरजी ने इतने ठाट-बाट से दिए हैं। हो न हो, इनमें कोई दिव्य शक्ति है। अतः उन्हें तो खा लूं। मांगेंगे तो घर में से लाकर दे दूंगी।

तीसरी रक्षिता ने सोचा—ससुरजी के दिये हुए हैं। वापस उन्हें लौटाना पड़ेगा। अतः इन्हें सुरक्षित रखना चाहिए। यों सोचकर एक सुन्दर कपड़े के छोर में बाँधकर उसने चावल के पाँचों दाने अपनी आभूषणों की पेटी में रख दिये।

चौथी रोहिणी ने सोचा—इन्हें ऐसे बाँधकर रखने में क्या लाभ है? इन्हें बढ़ाना चाहिए। ऐसा विचार कर दानों से अपने पीहर में खेती करवा दी। पाँचों दानों से बढ़ते-बढ़ते कई मन धान हो गया।

पाँच वर्ष के बाद सार्थवाह ने पहले की तरह सभी स्वजन-परिजनों को एकत्रित करके भोज की व्यवस्था की। सबको प्रीति-भोज देकर चारों बहुओं से वे दाने माँगे। उज्झिता ने पाँच दाने लाकर दे दिए। पूछने पर उसने सच्ची बात बताते हुए कहा—'वे तो मैंने उसी समय फेंक दिये थे।' भोगवती ने कहा—'मैंने खा लिये।' रक्षिता ने जेवर की पेटी में से वे दाने सेठ के हाथ में लाकर थमा दिये। रोहिणी ने अपने पीहर से कई गाड़ियों में लदा धान

मँगाकर सेठ के सामने रख दिया।

सेठ ने सबके सामने कार्य का बँटवारा करते हुए कहा—सबसे बड़ी पुत्रवधु उज्झिता फेंकने में बहुत चतुर है। इसलिए घर की सफाई का काम इसे सौंपा जाता है, ताकि कूड़े-कचरे को अच्छे ढंग से बाहर फेंकती रहेगी।

दूसरी भोगवती खाने में बहुत चतुर है, इसलिए रसोई का काम इसे सौंपता हूँ, क्योंकि यह भोजन चख-चखकर अच्छा बनायेगी। तीसरी रक्षिता वस्तु को सुरक्षित रखने में बहुत दक्ष है, अतः भण्डार की चाबियाँ इसे सौंपता हूँ। यह उसे बिल्कुल सुरक्षित रखेगी। चौथी रोहिणी वस्तु को बढ़ाने में चतुर है, अतः पारिवारिक उत्तरदायित्व का सम्पूर्ण भार इसे सौंपता हूँ। यह मेरे परिवार की श्रीवृद्धि विशेष रूप से करती रहेगी।

सेठ के निर्णय से सभी पुलिकत हो उठे। सभी ने माना—योग्यता के आधार पर कार्य का बँटवारा किया गया है। रोहिणी को सुयोग्य मानकर सारा भार सौंपा गया।

—ज्ञातासूत्र ७

१७४. रोहिणेय चोर

राजगृही नगर के बाहर पाँच पर्वत थे—वैभारगिरि, विपुलगिरि, उदयगिरि, सुवर्णगिरि और रत्नगिरि। उनमें वैभारगिरि पर्वत की एक गुफा में रोहिणेय चोर रहता था। चोरी करने का पुश्तैनी धन्धा था। एक बार उसके पिता ने अपने अन्तिम समय में पुत्र को शिक्षा देते हुए कहा—'महावीर नाम का एक व्यक्ति है। वह बहुत ही प्रभावशाली धर्मोपदेशक है। पर तुम उसका उपदेश कभी मत सुनना। जिस रास्ते में वह हो, उस मार्ग में भी मत जाना। क्योंकि उसके उपदेश से हमारे कार्य में बहुत बड़ा नुकसान हो सकता है। इसलिए मेरी इस शिक्षा का विशेष रूप से ध्यान रखना।'

पिता की शिक्षा का रोहिणेय पूरा-पूरा ध्यान रखने लगा। महावीर का नाम सुनते ही वहाँ से दूर चला जाता।

एक बार ऐसा प्रसंग आया कि प्रभु उद्यान में उपदेश दे रहे थे। रोहिणेय अकस्मात् वहाँ आ पहुँचा। उसके बीच में से होकर जाने के सिवाय अन्य कोई रास्ता नहीं था। महावीर की बात सुनाई न पड़ जाए इसलिए कानों में अंगुली डालकर उधर से दौड़ा—यह सोचकर कि जल्दी से जल्दी यहाँ से चला जाऊँ।

संयोग की बात, दौड़ते समय वहाँ उसके पैर में काँटा चुभ गया। अब क्या करता? बाध्य होकर काँटा निकालने बैठा। कानों में दी हुई अंगुलियाँ निकालनी पड़ी। सहसा उसके कान में प्रभु महावीर का एक वाक्य पड़ा जो उस समय भगवान महावीर प्रसंगवश कह रहे थे—देवताओं के चार चिह्न होते हैं—

१. वे आँखों की पलक नहीं झपकाते।

२. उनकी प्रतिच्छाया नहीं पड़ती।

३. भूमि से चार अंगुल ऊपर रहते हैं, तथा

४. उनके गले में रहने वाली माला नहीं कुम्हालती।

'रोहिणेय' ने सोचा—बुरा हुआ। 'महावीर' की बात मेरे कान में पड़ गई। इसे भूलना है। ज्यों-ज्यों भूलने का प्रयत्न करता, त्यों.त्यों वह अधिक याद होता।

उन दिनों नगर में चोरियाँ अधिक होती थीं। सारे शहर में आतंक छाया हुआ था। 'रोहिणेय' को गिरफ्तार कर लिया गया। पर इसके पास माल कुछ भी नहीं मिला। बिना प्रमाण के हो भी क्या? अन्त में अभयकुमार को एक युक्ति सूझी। मादक द्रव्य के योग से उसे मूर्च्छित कर दिया गया। उसी अवस्था में राजमहल में सुन्दर शय्या पर लिटा दिया। चारों ओर देवियों की भाँति सिखाकर स्त्रियों को सज्जित करके खड़ा कर दिया गया। कुछ समय बाद जब उसका नशा उतरा, उसने आँखें खोलीं। तब देवियों की भांति उन स्त्रियों ने कहा—नाथ ! आपने पूर्वजन्म में कौन से सत्कर्म किये थे, जिसके योग से यहाँ हमारे स्वामी बने। आपको पाकर हम कृतकृत्य हैं।

अभय ने सोचा था—इस प्रश्न के उत्तर में यह कहेगा—मैंने सत्कर्म नहीं अपितु चौर्यकर्म किया था। बस, इसी आधार पर पकड़ लिया जायेगा।

पर रोहिणेय भी असमंजस में पड़ा। क्या सचमुच ही मैं स्वर्गलोक में आ गया हूँ? क्या यह स्वर्ग ही है? इतने में भगवान महावीर की वे चारों बातें याद आयीं। इसने देखा—ये तो पलकें झपकाती हैं, छाया भी पड़ती है, मालाएं भी कुम्हलाई हुई हैं तथा भूमि पर खड़ी भी हैं। हो न हो कोई प्रपंच है। यों सोचते ही सम्हलकर बोला—'मैंने बहुत से सत्कर्म किये थे' इसलिए यहाँ आया हूँ।

'अभय' का षड्यन्त्र असफल हो चुका था। 'अभय' प्रकट हो गया।

'रोहिणेय' ने सोचा—भगवान् महावीर के एक वाक्य ने ही मेरी रक्षा

कर दी, वह भी बिना मन से सुने हुए वाक्य ने। क्या ही अच्छा होता यदि मैं उनके सम्पर्क में आ जाता। कुछ लाभ लिया होता। यों चिन्तन करते-करते ही सारी भावना बदल गई। 'अभय' के सामने अपने सारे कृत्यों का पर्दाफाश करते हुए अनुताप किया। चुराया हुआ सारा द्रव्य 'श्रेणिक' को सौंपकर स्वयं संयमी बन गया। त्याग-तपस्या के बल से स्वर्ग गया।

—व्यवहारसूत्र वृत्ति

१७५. वरुण

वरुण वैशाली नगरी के महाराज 'चेटक' के रथिक 'नाग' का पुत्र था। वरुण महावीर का परमभक्त बारहव्रती श्रावक था। यह महासमर्थ सेनापति था, तो तप करने में भी महासमर्थ था। एक बार बेले के तप में इसे महाराज 'चेटक' ने युद्ध में जाने के लिए कहा। यह 'कूणिक' के विरुद्ध युद्ध में गया। परन्तु इसका नियम था कि प्रथम अपनी ओर से किसी पर आक्रमण नहीं करना। प्रत्याक्रमण करने के लिए तैयार होकर रणभूमि में जाता था। 'कूणिक' के सेनापति ने 'वरुण' पर आक्रमण किया। वह आक्रमण मर्मभेदी था। फिर भी इसने प्रत्याक्रमण में 'कूणिक' के सेनापति को एक बाण में ही परलोक पहुँचा दिया। पर स्वयं भी अधिक घायल हो चुका था। अतः समरांगण के बाहर आकर एकान्त स्थान पर पहुँचा। वहाँ सम्यक् विधि से भूमि का परिमार्जन कर आलोचना की। अनशन स्वीकार किया। विशुद्ध परिणामों से मृत्यु प्राप्त करके प्रथम स्वर्ग में गया। वहाँ से महाविदेह में होकर निर्वाण प्राप्त करेगा।

—भगवती, ५/६

१७६. वायुभूति गणधर

'वायुभूति' भगवान् महावीर के प्रथम गणधर 'इन्द्रभूति' और द्वितीय गणधर 'अग्निभूति' के सहोदर थे। इनका भी 'गौतम' गोत्र, 'वसुभूति' ब्राह्मणपिता तथा 'पृथ्वी' माता थी। इनके मन में सन्देह था—'शरीर ही आत्मा है या शरीर आत्मा से भिन्न है?' ये अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर के पास पहुँचे। भगवान् महावीर ने इनके इस सन्देह का निवारण किया। सन्देह मिट जाने पर इन्होंने अपने शिष्यों सहित भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार

किया। ये भगवान् के तीसरे गणधर थे। ४३ वर्ष की आयु में दीक्षित हुए। दस वर्ष छद्मस्थ रहे। अठारह वर्ष केवलीवस्था में रहे। अपनी सत्तर वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया।

—आवश्यकचूर्णि

१७७. वासुपूज्य भगवान्

जन्म-स्थान	चम्पा	केवलज्ञान तिथि	माघ शुक्ला २
माता	वसुपूज्य	निर्वाण तिथि	आषाढ़ शुक्ला १४
पिता	जया	चारित्र पर्याय	५४ लाख वर्ष
जन्म-तिथि	फाल्गुन कृष्णा १४	कुल आयु	७२ लाख वर्ष
कुमार अवस्था	१८ लाख वर्ष	चिह्न	महिष
दीक्षा तिथि	फाल्गुन कृष्णा ३०		

भगवान् 'वासुपूज्य' 'चम्पानगरी' के महाराज 'वासुपूज्य' की महारानी 'जयादेवी' के आत्मज थे। ये दसवें प्राणत स्वर्ग से च्यवन करके माता के उदर में आए। चौदह स्वप्नो से सूचित करने पर तीर्थंकर होंगे, ऐसा सबका विश्वास था। फाल्गुन बदी चौदह को भगवान् का जन्म हुआ। युवावस्था मे महाराज वासुपूज्य ने इन्हें विवाह के लिए तथा राजसिंहासन स्वीकार करने के लिए कहा। किन्तु प्रभु ने स्वीकार नहीं किया। बाल ब्रह्मचारी ही रहे।[1] लोकांतिक देवों द्वारा विधि का परिपालन होने के बाद वर्षीदान दिया। सात सौ राजाओं के साथ दो दिन के व्रत में फाल्गुन बदी अमावस्या के दिन प्रभु संयमी बने। भगवान् 'वासुपूज्य' के समय में ही दूसरा वासुदेव 'द्विपृष्ठ', बलदेव 'विजय' तथा प्रतिवासुदेव 'तारक' हुआ। प्रभु एक महीना छद्मस्थ रहे। दो दिन के व्रत में केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थ की स्थापना की। प्रभु के 'सूक्ष्म' आदि ६६ गणधर थे।

अपना मोक्षकाल निकट जानकर प्रभु 'चम्पानगरी' में पधारे और छः सौ मुनियों के साथ अनशन स्वीकार कर लिया। एक महीने के अनशन में प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया। वासुपूज्य भगवान् का आयुष्य बहत्तर लाख वर्ष का था। ये वर्तमान चौबीसी के बारहवें तीर्थंकर हैं।

---

१. आचार्य श्रीलांक का मत है विवाह किया—चउपन्न महा. पृ. १०४

धर्म-परिवार

गणधर	६६	वादलब्धिधारी	४७००
केवली साधु	६०००	वैक्रियलब्धिधारी	१०,०००
केवली साध्वी	१२,०००	साधु	७२,०००
मनः पर्यवज्ञानी	६०००	साध्वी	१,०३,०००
अवधिज्ञानी	५४००	श्रावक	२,१५,०००
पूर्वधर	१२००	श्राविका	४,३६,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१७८. विजय-विजया

कच्छ देश में श्रेष्ठी अर्हद्दास रहता था। उसकी पत्नी का नाम अर्हद्दासी था। उनके पुत्र का नाम था—विजय। यह पूरा परिवार ही सदाचारी, धर्मनिष्ठ और श्रमणोपास था। एक बार एक मुनि का उपदेश सुनकर विजय ने आजीवन शुक्ल पक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन का नियम ले लिया।

विजय का विवाह हुआ कच्छ देश के एक अन्य श्रेष्ठी धनावह की पुत्री विजया के साथ। विजया ने भी विवाह से पहले ही एक साध्वी के मुख से ब्रह्मचर्य की महिमा सुनकर कृष्णपक्ष में आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का नियम ले लिया था।

इन दोनों के इन नियमों से इनके परिवार वाले अनभिज्ञ थे।

प्रथम रात्रि को जब विजय-विजया मिले, तब दोनों एक-दूसरे के नियम की बात मालूम हुई। यह जानकर कि विवाहित जीवन में भी आजन्म ब्रह्मचारी रहना पड़ेगा, इन दोनों के मन में तनिक भी खेद न हुआ। दोनों ने ही नियम वाली बात को गुप्त रखने का निश्चय कर लिया साथ ही यह भी निश्चय किया कि जब हमारा रहस्य (ब्रह्मचर्य-पालन का नियम) परिवारी जनों के समक्ष प्रकट हो जायेगा, उसी समय हम दोनों दीक्षा ले लेंगे। इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके दोनों साथ-साथ रहने लगे।

दोनों एक ही कक्ष में रहते, एक ही शय्या पर सोते, अन्य सभी जनों की दृष्टि में विवाहित जीवन बिताते, लेकिन वास्तविकता यह थी कि वे दोनों मन-वचन-काय से स्वप्न में भी अपने ब्रह्मचर्य को खण्डित न करते। किसी को

भी नहीं मालूम था कि वे विवाहित होते हुए भी अखण्ड ब्रह्मचारी हैं। इसी तरह रहते उन्हें कई वर्ष बीत गये।

अंगदेश की चम्पानगरी में द्वादशव्रती श्रावक जिनदास रहता था। साधु-साध्वियों की सेवा करने में उसे बहुत आनन्द आता था। मुनि-जनों में उसकी प्रगाढ़ भक्ति थी। उसने मन-ही-मन एक संकल्प किया कि मैं चौरासी हजार श्रमणों को अपने हाथ से आहार दूं।

एक बार जब चम्पानगरी में केवली मुनि विमल पधारे तो वह भी उनकी देशना सुनने गया। देशना के अनन्तर अपने मन की बात बताकर विनम्रता से पूछा—भंते ! मेरी यह भावना कैसे पूरी होगी?

केवली मुनि विमल ने कहा—चौरासी हजार श्रमणों का एकत्र होना तो असंभव-सा ही है। पर जितनी उससे प्रसन्नता होगी उतनी ही प्रसन्नता की बात तुझे बताता हूँ। ऐसे दो व्यक्तियों से तेरा मिलन होगा जो विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए एक शय्या पर रहकर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं।

जब जिनदास ने ऐसे युगल का नाम पूछा तो केवली मुनि ने विजय-विजया का परिचय बता दिया।

जिनदास यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। वह परिवार-सहित कच्छ देश की ओर चल दिया। श्रेष्ठी अर्हद्दास के घर पहुँचा और विजय-विजया की स्तुति करने लगा। लोगों को इस स्तुति-पाठ से बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने जब इस प्रशंसा का कारण जानना चाहा तो श्रेष्ठी जिनदास ने बताया—ये दोनों विवाहित होकर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं। इनका माहात्म्य चौरासी हजार श्रमणों के समान ही आनन्दप्रद है।

अपना रहस्य खुलने पर पूर्व निश्चय के अनुसार विजय-विजया दोनों ने संयम स्वीकार कर लिया। उन्होंने कठोर तपःसाधना की और अन्त में मुक्त हुए।

१७६. विमलनाथ भगवान्

सारिणी

जन्म स्थान	कम्पिलपुर	कुमार अवस्था	१५ लाख वर्ष
पिता	कृतवर्मा	राज्यकाल	३० लाख वर्ष

माता	श्यामा	दीक्षा तिथि	माघ शुक्ला ४
जन्म तिथि	माघ शुक्ला ३	केवलज्ञान तिथि	पौष शुक्ला ६
चारित्र पर्याय	१५ लाख वर्ष	कुल आयु	३० लाख वर्ष
निर्वाण तिथि	आषाढ़ कृष्णा ७	चिह्न	वराह

'कम्पिलपुर' नगर के महाराज 'कृतवर्मा' की महारानी का नाम था 'श्यामा'। श्यामारानी के उदर में आठवें सहस्रार स्वर्ग से च्यवन करके भगवान् 'विमलनाथ' आये। चौदह स्वप्न देखकर महारानी पुलिकत हो उठी। भगवान् का जन्म माघ सुदी ३ को हुआ। सारा परिवार हर्ष-विभोर हो उठा। प्रभु का नाम 'विमलनाथ' रखा। युवावस्था में प्रभु का अनेक राजकन्याओं से पाणिग्रहण कराया गया। पन्द्रह लाख वर्ष की आयु में पिता की राजगद्दी पर अवस्थित हुए। तीस लाख वर्ष तक राज्य किया। वर्षीदान देकर एक हजार राजाओं के साथ माघ सुदी ४ के दिन प्रभु ने दीक्षा स्वीकार की। दो वर्ष छद्मस्थ रहकर प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया और तीर्थ की स्थापना की। प्रभु के संघ में 'मंदर' आदि ५७ गणधर थे। अन्त में विमलनाथ प्रभु ने सम्मेदशिखर पर्वत पर छः हजार साधुओं के साथ अनशन स्वीकार किया। एक मास के अनशन में प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया।

ये वर्तमान चौबीसी के तेरहवें तीर्थंकर हैं।

धर्म-परिवार

गणधर	५७	वादलबिधधारी	३२००
केवली साधु	५५००	वैक्रियलब्धिधारी	६०००
केवली साध्वी	११,०००	साधु	६८,८००
मन:पर्यवज्ञानी	५५००	साध्वी	१,००,८००
अवधिज्ञानी	४८००	श्रावक	२,०,८०००
पूर्वधर	११००	श्राविका	४,२४,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१८०. व्यक्त गणधर

'व्यक्त' भगवान् महावीर के चौथे गणधर थे। ये 'कोल्लाक' गाँव के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम 'धनमित्र' और माता का नाम 'वारुणी' था। ये

'भारद्वाज' ब्राह्मण और अनेक शास्त्रों के सिद्धहस्त विद्वान थे। ५०० शिष्यों के अध्यापक थे, फिर भी इनके मन में संदेह था—पाँच भूत हैं या नहीं? इन्द्रभूति की भांति ये भी अपने शिष्यों के साथ सोमिल के यज्ञ में अपापानगरी आए थे। यज्ञभूमि से ये भी इन्द्रभूति गौतम के समान भगवान् महावीर को शास्त्रार्थ में पराजित करने के उद्देश्य से उनके समवसरण में गए। लेकिन भगवान् महावीर ने ही इनकी सुगुप्त शंका का निराकरण कर दिया। फिर क्या था? अपनी ५१ वर्ष की आयु में सभी शिष्यों के साथ संयम स्वीकार किया और भगवान् के शिष्य बन गये। बारह वर्ष छद्मस्थ रहे। १८ वर्ष केवलीपर्याय का पालन करके ८० वर्ष की आयु में निर्वाण प्राप्त किया।

—आवश्यकचूर्णि

१८१. शकट कुमार

'साहंजनी' नगरी का महाराज 'महचंद' था। उसके प्रधान का नाम था 'सुषेण'। वहाँ एक गणिका थी, जिसका नाम था 'सुदर्शना'। नगर में एक साहूकार था, जिसका नाम था 'सुभद्र' और सेठानी का नाम था 'भद्रा'। उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम रखा गया 'शकट कुमार'।

एक बार भगवान् महावीर जनपद में विहार करते हुए उसी साहंजनी नगरी में पधारे। गौतम भिक्षार्थ नगर में गये तो वहाँ एक विचित्र दृश्य देखा—अनेक हाथी, घोड़ों और मनुष्यों के समूह में एक स्त्री के पीछे एक पुरुष को बांध रखा था। दोनों के नाक-कान काटे हुए थे। उन्हें वधभूमि में ले जाया जा रहा था। वे दोनों स्त्री-पुरुष जोर-जोर से क्रन्दन कर रहे थे—'हम अपने पापों के कारण मारे जा रहे हैं। कोई हमें बचाओ। हमारे पाप ही हमें खा रहे हैं।' यह दृश्य देखकर लोग काँप रहे थे।

गौतम स्वामी भगवान् के पास आये। गौतम ने सारी बात कहकर प्रभु से पूछा—'प्रभु, ऐसा उन्होंने पूर्वजन्म में कौन-सा पाप किया था, जिससे यों मारे जा रहे हैं?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! 'छगलपुर' नगर में एक 'सिंहगिरि' नाम का राजा था। वहाँ एक 'छणिक' नाम का कसाई था। वह कसाई धनवान तो था, पर था क्रूरकर्मी, पापात्मा और दुराचारी। अपने बाड़े में बकरे-बकरियाँ, गौएं, बैल, भैंसें, पांडे, हरिण, मोर, मारेनियां आदि अनेक जानवरों को लाखों की

संख्या में मारने के लिये इकट्ठा किये रखता। उन्हें मारकर मांस बेचता। औरों से मरवाकर *मांस खरीदता। वह मांस का बहुत बड़ा क्रेता-विक्रेता था।* पशुओं का वध करने में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता। यों पापों में रत रहकर सात सौ वर्ष की आयु में वहाँ से मरकर वह चौथी नरक में गया। वहाँ से निकलकर वह इस नगर में 'सुभद्र' सेठ का पुत्र 'शकट कुमार' हुआ है। कोढ़ में खुजलाहट हुआ ही करती है। 'शकटकुमार' के माता-पिता बचपन में मर गए। अब इसे रोकने-टोकने वाला कौन? धीरे-धीरे वह सभी दुर्व्यसनों में लिप्त हो गया। नगर का प्रमुख जुआरी, व्यभिचारी तथा चोर कहलाने लगा तथा धीरे-धीरे सुदर्शना वेश्या के प्रेम में वह फंस गया। सुदर्शना और शकट के प्रेम का महामात्य सुषेण को पता लग गया। अमात्य ने शकट को धक्के देकर निकाल दिया और सुदर्शना को अपने यहाँ महलों में बुलवा लिया। शकट फिर भी नहीं संभला। मौका लगाकर वेश्या के पास वह पहुँच ही गया। प्रधान ने उसे रंगे हाथों पकड़ लिया। फिर क्या था? प्रधान ने राजा से कहा—'इसे कठोर से कठोर दण्ड दिया जाये।' बस, राजा और प्रधान के आदेश से उनके नाक-कान काटकर तर्जना देते हुए वधभूमि में ले जाकर मारने का आदेश हो गया। गौतम, तुम उन्हीं दोनों को देख आये हो।'

बात को आगे बढ़ाते हुए भगवान् ने कहा—वह शकट कुमार अपनी ५७ वर्ष की आयु में आज तीसरे पहर में लोह की गर्म भट्टी में होमे जाने के कारण मृत्यु को प्राप्त करेगा। आर्त-रौद्रध्यान में मरकर प्रथम नरक में पैदा होगा। अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण करता रहेगा। अन्त में कर्म-रहित होगा।

—विपाक सूत्र ४

१८२. शान्तिनाथ भगवान्

सारिणी

जन्म स्थान	गजपुर	दीक्षा तिथि	ज्येष्ठ कृष्णा १४
पिता	विश्वसेन	चारित्र पर्याय	२५ हजार वर्ष
माता	अचिरा	केवलज्ञान तिथि	पौष शुक्ला ६
जन्म-तिथि	ज्येष्ठ कृष्णा १३	निर्वाण तिथि	ज्येष्ठ कृष्णा १३

कुमार अवस्था	२५ हजार वर्ष	कुल आयु	१ लाख वर्ष
राज्यकाल	५० हजार वर्ष	चिह्न	हरिण

श्री शान्तिनाथ इस चौबीसी के सोलहवें तीर्थंकर तथा पाँचवें चक्रवर्ती हुए। ये हस्तिनापुर के महाराज 'विश्वसेन' की महारानी 'अचिरा' के अंगजात थे। सर्वार्थसिद्ध विमान से इनका च्यवन हुआ। जिस समय ये माता 'अचिरा' के गर्भ में आये, उस समय कुरुजांगल प्रदेश में मरी रोग का प्रकोप था। अनेक प्रयत्न करने पर भी रोग शान्त नहीं हो रहा था। परन्तु प्रभु के गर्भ में आते ही सारी बीमारियाँ स्वत: शान्त हो गईं। इसलिए इनका नाम 'शान्तिकुमार' रखा गया। युवावस्था में शान्किुमार का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह हुआ। इनके चौंसठ हजार रानियां थीं। आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा हुआ। छ: खण्डों पर अधिकार स्थापित करके चक्रवर्ती बने। ये २५ हजार वर्ष कुमार पद पर तथा ५० हजार वर्ष चक्रवर्ती पद पर आसीन रहे। वर्षीदान देकर संयम स्वीकार किया। उस समय इनके साथ एक हजार अन्य राजा दीक्षित हुए। एक मास तक छद्मस्थ रहे। पीछे केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थ की स्थापना की।

इनके संघ में ६० गणधर थे। २५ हजार वर्ष तक प्रभु ने चारित्र का पालन किया। अन्त में १०० मुनियों के साथ में सम्मेदशिखर पर्वत पर प्रभु ने अनशन किया। एक महीने के अनशन से ज्येष्ठ बदी १३ के दिन प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया।

धर्म-परिवार

गणधर	३६	वादलब्धिधारी	२४००
केवली साधु	४३००	वैक्रियलब्धिधारी	६०००
केवली साध्वी	८६००	साधु	६२,०००
मन:पर्यवज्ञानी	४०००	साध्वी	६१,६००
अवधिज्ञानी	३०००	श्रावक	२,६०,०००
पूर्वधर	८३०	श्राविका	३,६३,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१८३. शालिभद्र

राजगृही नगरी में गोभद्र नाम का एक समृद्धिशाली सेठ था। उसकी पत्नी का

नाम 'भद्रा' तथा पुत्री का नाम 'सुभद्रा' था। सुभद्रा का विवाह धन्यकुमार के साथ सेठ ने यह मानकर कर दिया कि धन्यकुमार के योग से मैं काने के कुचक्र से बच सका। धन्य न होता तो मेरी इज्जत, धन और प्रतिभा सारी ही यह काना मिट्टी में मिला देता।

'सुभ्रद्रा' के पतिगृह चले जाने पर घर सूना-सूना लगने लगा। भद्रा को सान्त्वना देते हुए सेठ ने मन में यह संकल्प लिया कि यदि मेरे पुत्र हो जाएगा तो मैं उसे घर का भार सौंपकर संयमी बन जाऊँगा। संयोग की बात, भद्रा गर्भवती हुई। उसने शालि के खेत का स्वप्न देखा। यथासमय पुत्र हुआ। पुत्र का नाम 'शालिभद्र' रखा। गोभद्र संयमी बन गया। भद्रा ने पुत्र का लालन-पालन किया। कुमार ७२ कलाओं में पारंगत हुआ। युवावस्था में ३२ कन्याओं के साथ कुमार का विवाह हुआ।

गोभद्र मुनि संयम का पालन करके देव बने। देव बनने पर भी उनका शालिभद्र पर विशेष अनुराग था। पितृ देव के योग से शालिभद्र के यहाँ दिव्य ऋद्धि रहने लगी। देव प्रतिदिन तैंतीस पेटियाँ स्वर्गलोक से शालिभद्र के यहाँ पहुँचाता। प्रत्येक पेटी में तीन-तीन विभाग होते—एक में जेवर, एक में वस्त्र, एक में भोजन-सामग्री। बत्तीस पेटियाँ बत्तीस पुत्रवधुओं के लिये तथा एक शालिभद्र के लिए। जो वस्त्राभूषण एक दिन काम में लिये जाते, वे अगले दिन फेंक दिए जाते। यों असाधारण, अद्वितीय ऋद्धि का उपभोग शालिभद्र कर रहा था। रहने के लिए महल भी सात मंजिले थे। शालिभद्र घरेलू कामकाज से भी बिल्कुल अनभिज्ञ रहता, वह भी सारा भद्रा निपटाती।

एक दिन नेपाल के कुछ व्यापारी सोलह रत्नकम्बलें लेकर राजगृही आये। वे चाहते थे—सभी कम्बलें एक साथ ही बिकें। एक ही सिक्के के सोनैये मिलें। बहुत बड़ी आशा दिल में लिये महाराज श्रेणिक के पास गये। महाराज श्रेणिक ने यह कहकर व्यापारियों को लौटा दिया कि इतनी विशाल राशि राज्य भण्डार से मैं अपने मौज-शौक के लिए व्यय नहीं करना चाहता।

व्यापारी अपना मुँह लटकाये निराश होकर जा रहे थे। भद्रा की दासियों ने उनसे सेठानी का परिचय कराया। भद्रा ने अफसोस करते हुए कहा—'बत्तीस कम्बलें होतीं तो अच्छा रहता। सभी बहुओं के हिस्से में एक-एक आ जाती। अब इन सबके दो-दो टुकड़े कर दो।' यों बत्तीस टुकड़े करवाकर सारी कम्बलें

ले लीं। मनचाहे सोनैये व्यापारियों को दे दिये। व्यापारी सेठ की दिव्य ऋद्धि देखकर दंग रह गए।

भद्रा की पुत्रवधुओं ने उन रत्नकम्बलों के टुकड़ों से पैर पोंछकर पीछे नाली में फेंक दिया। वहाँ की सफाई करने वाली महतरानी ने उन टुकड़ों को उठा लिया। एक टुकड़ा ओढ़कर महाराज श्रेणिक के यहाँ सफाई करने गई। महारानी चेलना ने रत्नकम्बल के खण्ड को देखा। जब सारा भेद खुला, तब श्रेणिक राजा को उलाहना देते हुए कम्बल लेने के लिए कहा। महाराज ने व्यापारियों से पूछा तो उन्होंने बताया—'शालिभद्र के यहाँ भद्रा सेठानी ने सारी कम्बलें ले लीं।' राजा ने शालिभद्र को देखना चाहा। भद्रा के नम्र निवेदन पर महाराज श्रेणिक सपरिवार शालिभद्र के यहाँ आए। भद्रा ने उनका हार्दिक स्वागत किया। चौथी मंजिल में महाराज को सिंहासन पर बिठाकर भद्रा ने ऊपर जाकर पुत्र को आवाज दी—'बेटा ! नीचे आओ। आज अपने घर नाथ आए हैं।' शालिभद्र ने बात सुनकर कहा—'नाथ आए हैं तो क्या खास बात है। खरीदकर भण्डार में डाल दो। आज तक कभी आपने मुझे किसी बात के लिए नहीं पूछा। आज पूछने जैसी क्या बात आ गई?'

भद्रा—यह क्या बच्चों जैसी बातें करता है। महाराज श्रेणिक हमारे मालिक हैं, नाथ हैं। उनके दर्शन करो।

शालिभद्र नाथ का 'नाम' शब्द सुनकर चौंका और सोचा—मेरे पास इतना ऐश्वर्य है, फिर भी मेरे सिर पर दूसरे नाथ हैं, मैं परवश हूँ। यों विचार करता हुआ नीचे आया। महाराज श्रेणिक को प्रणाम किया। महाराज ने कुमार को गोद में बैठाकर प्यार दिया। पर यह क्या? राजा ने शालिभद्र के चेहरे की ओर देखा तो पाया कि उसके मुंह पर पसीना ही पसीना हो गया था। सारा शरीर पसीने से ऐसे तरबतर हो गया मानो महाराज श्रेणिक की गोद भी शालिभद्र को अंगीठी-सी प्रतीत हुई। राजा ने विदा दी। शालिभद्रकुमार ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते चिन्तन में भी चढ़ने लगा। अपने-आपको असहाय अनुभव किया कि सहसा जाति-स्मरणज्ञान हो गया। जाति-स्मरणज्ञान से उसने देखा—मैंने संगम ग्वाले के भव में मासोपवासी मुनि को खीर का जो दान दिया था, लगता है—उस खीर ने ही मेरी तकदीर बदल दी, पर मेरी साधना में अवश्य ही कुछ कमी रही है, इसलिए मैं परवश हूँ। यों वैराग्य जगा और साधु बनने को उद्यत हो गया। एक-एक पत्नी को प्रतिदिन छोड़ने लगा।

सुभद्रा के ताने से प्रबुद्ध होकर जब धनजी ने आकर ललकार लगाई तब शालिभद्र भी सभी पत्नियों को एक साथ छोड़कर नीचे उतर आया। भद्रा की प्रार्थना पर महाराज श्रेणिक ने दोनों के दीक्षा-महोत्सव किये। दोनों ने भगवान् महावीर के पास संयम ग्रहण किया। धनजी की आठों पत्नियों ने भी संयम लिया। शालिभद्र ने मास-मास का तप करके शरीर का सार निकाला। अन्त में अनशन करके शालिभद्र मुनि सर्वार्थसिद्ध में पहुँचे। वहाँ से महाविदेह में होकर मोक्ष में जायेंगे। धनमुनि ने निर्वाण प्राप्त किया।

—स्थानांगसूत्रवृत्ति

—धन्य-शालिभद्र चरित्र

१८४. शिवराज ऋषि

'हस्तिनापुर' के महाराज 'शिव' ने अपने पुत्र 'शिवभद्र' को राज्य का भार सौंपकर तापसी दीक्षा स्वीकार की। दो-दो दिन का व्रत करने लगे। इस प्रकार उत्कट तप करते हुए काफी समय व्यतीत हो गया तब 'शिवराज' ऋषि को विभंगज्ञान हुआ। उन्होंने अपने ज्ञान से सात द्वीप तथा सात समुद्र देखे।

अल्पज्ञ की यही प्रकृति होती है कि वह अपने-आपको सर्वज्ञ मानने लग जाता है। शिवराज ऋषि के साथ भी यही हुआ। उन्होंने भी अपने इस सिद्धान्त की स्थापना पूरे जोश से करनी शुरू कर दी कि लोक में सात द्वीप और सात समुद्र ही हैं। इससे आगे कुछ भी नहीं है।

संयोगवश भगवान् महावीर वहाँ पधारे। गौतम स्वामी शहर में भिक्षा लेने के लिए गये। लोगों के मुँह से शिवराज ऋषि की मान्यता की चर्चा सुनी। गौतम स्वामी के मन में विचार आया तथा उन्होंने प्रभु के पास आकर सारी बात कही।

भगवान् महावीर ने कहा—द्वीप, समुद्र सात नहीं हैं अपितु संख्यातीत हैं। शिवराज ऋषि ने अपने विभंगज्ञान (जो कि अपूर्ण हुआ है) से इतना ही देखा है, इसलिए वह इतना ही बता रहा है।

प्रभु की देशना की बात नगर में फैली। जब शिवराज ऋषि के पास यह बात पहुँची, तब स्वयं चलकर वह प्रभु के पास में आया। सही तत्त्व समझकर सम्यक्त्वी बना, संयमी बना और उसी क्षेत्र और उसी भव में निर्वाण प्राप्त किया।

—भगवती ११/६

१८५. शिवा

महासती 'शिवा' महाराज 'चेटक' की चौथी पुत्री थी। यह उज्जयिनीपति 'चण्डप्रद्योत' की पटरानी थी। महाराज 'चण्डप्रद्योत' का परम प्रीतिपात्र प्रधानमंत्री 'भूदेव' 'शिवा' पर आसक्त हो गया। अन्त:पुर आने-जाने की इसे छूट थी ही। एक दिन मौका देखकर रानी के सामने अपनी कुत्सित भावना उस निर्लज्ज ने रख ही दी। 'शिवा' ने उसे बहुत बुरी तरह से फटकारा, दुत्कारा तथा राजदण्ड का भय दिखलाया। वह विफल होकर अपने घर आ गया। कहीं राजा को पता लग जायेगा तो क्या होगा? इस भय से अस्वस्थ हो गया। राजा को इसकी रुग्णता का संवाद मिला तो महारानी को साथ लेकर राजा उसके यहाँ पहुँचा। राजा और रानी को देखकर 'भूदेव' शिवा के पैरों में गिरकर पश्चात्ताप करने लगा। रानी ने सान्त्वना देते हुए कहा—भूल होना कोई बड़ी बात नहीं है। सँभलना देवत्व है। चिन्ता मत करो, भविष्य के लिए सजग रहो।

एक बार 'उज्जयिनी' में भीषण अग्नि का प्रकोप हो गया। अनेकानेक प्रयत्न करने पर भी अग्नि की लपटें शान्त नहीं हो रही थीं; प्रत्युत बढ़ती जा रही थीं। उस समय महासती 'शिवा' ने अपने महल पर चढ़कर महामन्त्र नमस्कार पढ़कर कहा—'यदि मैंने पति के सिवा किसी अन्य पुरुष की स्वप्न में भी इच्छा नहीं की हो तो यह अग्नि-ज्वाला शान्त हो जाए।' यों कहकर चारों ओर जल छिड़का। सहसा अग्नि शान्त हो गई। महासती शिवा के शील की महिमा सभी ओर गूंजने लगी।

महासती शिवा ने भगवान् महावीर के पास संयम लेकर सिद्धगति की प्राप्ति की।

—आवश्यकनिर्युक्ति, १२८४

१८६. शीतलनाथ भगवान्

सारिणी

जन्मस्थान	भद्दिलपुर	दीक्षा-तिथि	माघ कृष्णा १२
पिता	दृढ़रथ	केवलज्ञान तिथि	पौष कृष्णा १४
माता	नन्दा	निर्वाण तिथि	वैशाख कृष्णा २
जन्मतिथि	माघ कृष्णा १२	चारित्र पर्याय	२५ हजार पूर्व

कुमार अवस्था	२५ हजार पूर्व	कुल आयु	१ लाख पूर्व
राज्यकाल	५० हजार पूर्व	चिह्न	श्रीवत्स

'भद्दिलपुर' नगर के महाराज 'दृढ़रथ' की महारानी 'नन्दा' देवी के उदर में 'शीतलनाथ' भगवान् दसवें प्राणत स्वर्ग से च्यवन करके आए। माघ बदी १२ को प्रभु का जन्म हुआ। प्रभु जब माता के उदर में थे, तब महाराज 'दृढ़रथ' का अत्यधिक गर्म शरीर भी महारानी के कर-स्पर्श से शीतल हो गया। इसलिए पुत्र का नाम 'शीतलनाथ' रख दिया। प्रभु जब युवावस्था में पहुँचे, तब स्वयं की इच्छा न होते हुए भी पिता के आग्रह से पाणिग्रहण किया। पच्चीस हजार पूर्व की आयु में राज्य-सिंहासन पर विराजमान हुए। पचास हजार पूर्व तक राज्य का उपभोग किया। पीछे वर्षीदान देकर माघ बदी १२ को प्रभु एक हजार राजाओं के साथ संयमी बने। तीन महीनों के बाद केवलज्ञान प्राप्त किया एवं तीर्थ की स्थापना की। प्रभु ने गण में ८१ गणधर थे।

अन्त में प्रभु ने एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर अनशन किया। एक मास के अनशन में वैशाख बदी २ को प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया। ये वर्तमान चौबीसी के दसवें तीर्थंकर हैं।

धर्म-परिवार

गणधर	८१	वादलब्धिधारी	५८००
केवली साधु	७०००	वैक्रियलब्धिधारी	१२,०००
केवली साध्वी	१४,०००	साधु	१,००,०००
मन:पर्यवज्ञानी	७५००	साध्वी	१,२०,०००
अवधिज्ञानी	७२००	श्रावक	२,८९,०००
पूर्वधर	१४००	श्राविका	४,५८,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ३/८

१८७. शंख-पोखली

'सावत्थी' नगरी में धनाढ्य, धर्मिष्ठ, क्षमामूर्ति और भगवान् महावीर ने अनन्य उपासक दो श्रावक थे जिनका नाम था शंख और पोखली।[1]

---

१. इसे शतक भी कहते हैं।

एक बार भगवान् महावीर 'सावत्थी' नगरी में पधारे। शंख-पोखली आदि अनेक श्रावक प्रभु के दर्शनार्थ गये। उपदेश सुनकर जब घर को लौटने लगे तब 'शंख' ने श्रावकों से कहा—आज चार ही प्रकार के भोजन तैयार करवाओ। हम सब लोग साथ भोजन करेंगे। बाद में पाक्षिक पौषध करके धर्म-जागरण में अपना समय सफल बनायेंगे।

'शंख' की कही हुई बात सबको जंच गयी। भोजन तैयार करवाया गया। सभी एकत्रित होकर 'शंख' के आने की प्रतीक्षा करने लगे।

उधर घर आकर 'शंख' की विचारधारा ने पलटा खाया। उसने सोचा—यों आरंभ-समारंभपूर्वक भोजन तैयार करके तथा पौष्टिक आहार करके पौषध करना उचित नहीं होगा। इसलिए मुझे तो पौषध करके धर्मजागरण करना चाहिए। यों विचार करके पत्नी से कहकर पौषधशाला में चला गया। सभी एकत्रित होकर शंख के आने की प्रतीक्षा करने लगे; वहाँ पौषध लेकर शंख आत्मभाव में तल्लीन हो गया।

जब शंख वहाँ नहीं पहुँचा, तब 'पोखली' श्रावक सबके कहने से उसके घर पहुँचा। 'पोखली' श्रावक को अपने घर आया देखकर 'शंख' की पत्नी उत्पला ने उसे आदर-सत्कार दिया। जब पोखली को पता लगा कि शंख पौषध लिये हुए पौषधशाला में बैठा है, तब पोखली पौषधशाला में गया। शंख को उलाहना देता हुआ बहुत कुछ कह-सुनकर चला गया।

दूसरे दिन 'शंख' ने प्रभु के दर्शन करके ही पौषध पूरा करने की सोची। प्रातःकाल समवसरण में पहुँचा। 'पोखली' आदि श्रावक वहाँ भी उपस्थित थे। सभी ने कहा—'शंख ने हमारे साथ धोखा किया है। इसलिए वह निन्दा करने लायक है।'

तब प्रभु ने कहा—'पोखली' ! 'शंख' निन्दा के योग्य नहीं है। वह तो दृढ़धर्मी है। प्रमाद निद्रा से दूर रहकर इसने अच्छी धर्म-जागरणा की है। सुदृष्ट जागरिका से जगा है। इसका चिन्तन कपटमयी नहीं, अपितु धर्ममय था।

अब सब करें भी क्या? सभी ने 'शंख' श्रावक से क्षमायाचना की।

तब गौतम ने प्रभु से पूछा—'भगवन् ! सुदृष्ट जागारिका किसे कहते हैं?'

प्रभु ने फरमाया—गौतम ! जागरिका तीन प्रकार की होती है—बुद्ध जागरिका, अबुद्ध जागरिका और सुदृष्ट जागरिका। केवलज्ञानी भगवन्तों की बुद्ध जागरिका (अप्रमत्तता) कहलाती है। शेष असर्वज्ञ मुनियों की अप्रमत्तता

अबुद्ध जागरिका तथा तत्त्वज्ञ श्रावक का धर्मचिंतन सुदृष्ट (सुदर्शन) होने से सुदृष्ट जागरिका कहलाती है।

सभी श्रावक भगवान के इस कथन को सुनकर शंख के प्रति विनत थे।

गौतम स्वामी ने प्रभु से आगे पूछा—'भगवन् ! शंख आपके पास साधु बनेगा?'

प्रभु ने कहा—'नहीं बनेगा।'

गौतम—'गृहस्थावस्था में कालधर्म प्राप्त करके कहाँ जायेगा?'

भगवान् महावीर—'यहाँ से प्रथम स्वर्ग में जायेगा। वहाँ से महाविदेहक्षेत्र में उत्पन्न होकर मोक्ष जायेगा।'

—भगवती, १२/१

१८८. श्रीदेवी

'राजगृही' में 'सुदर्शन' नाम का एक समृद्धिशाली गाथापति था। उसकी पत्नी का नाम 'प्रिया' था। प्रिया के एक पुत्री हुई, जिसका नाम रखा गया 'भूता'। पर 'भूता' जन्म से ही वृद्ध जैसी लगती थी। शरीर भी जीर्ण था। युवावस्था तो मानो उसके पास ही नहीं फटकी थी। इसलिए उसके साथ विवाह करने को कोई तैयार नहीं था। 'भूता' और उसके माता-पिता इसी चिन्ता में थे। उसी समय भगवान् 'पार्श्वनाथ' का पर्दापण हुआ। प्रभु का उपदेश सुनकर 'भूता' का वैराग्य जगा। संयम लेने को तैयार हो गयी। माता-पिता से पूछकर संयम ले लिया। संयमी बनकर 'पुष्पचूला' नामक साध्वी के नेतृत्व में संयम साधना करने लगी। पर 'भूता' धीरे-धीरे शिथिलाचार की ओर बढ़ने लगी और शरीर की विभूषा में फंस गयी। गुरुणी ने उसे ऐसा करने के लिए टोका। पर उसे बुरा लगा वह स्वच्छन्द बन गयी और पृथक् स्थान में रहने लगी। वहाँ रहकर बेला-तेला आदि विविध तथा उग्र तप भी करती। यों कई वर्ष संयम का पालन करके मृत्यु पाकर प्रथम स्वर्ग में गयी। वहाँ श्रीदेवी नाम से उत्पन्न हुई। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर निर्वाण प्राप्त करेगी।

—निरयावलिया ४

१८९. श्रीपाल-मैनासुन्दरी

अंग देश की राजनगरी चम्पापुरी थी और इस देश का शासक था राजा सिंहरथ।

सिंहरथ के मन्त्री का नाम मतिसागर था। वह राजा का दाहिना हाथ था। राजा सिंहरथ की रानी का नाम कमलप्रभा था। कमलप्रभा कोंकण देश के राजा वसुपाल की छोटी बहन थी। राजा वसुपाल कोंकण देश की राजधानी थानापुरी में राज्य करता था।

रानी कमलप्रभा ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम श्रीपाल रखा गया। अभी श्रीपाल पाँच-छह वर्ष का शिशु ही था कि राजा सिंहरथ का स्वर्गवास हो गया। सिंहरथ की चिता ठंडी भी नहीं हो पायी थी कि उसके छोटे भाई वीरदमन ने सिंहासन पर अधिकार कर लिया। उसने श्रीपाल को भी मौत के घाट उतारने का षड्यन्त्र किया; लेकिन मन्त्री मतिसागर की सावधानी से रानी कमलप्रभा अपने पुत्र श्रीपाल को लेकर निकल गई। वन में उसे सात सौ कोढ़ियों का दल मिला। वीरदमन के सैनिकों से बचने के लिए कमलप्रभा अपने पुत्र को लेकर कोढ़ी-दल में मिल गई और उनके साथ रहने लगी। कोढ़ियों के सम्पर्क से श्रीपाल को भी कोढ़ हो गया। यद्यपि श्रीपाल कोढ़ी हो गया था, फिर भी सभी कोढ़ी उसे उम्बर राणा कहते और राजा के समान ही आदर देते।

श्रीपाल के कोढ़ी होने से रानी कमलप्रभा चिन्तित हो गई। जब कोढ़ी-दल एक नगर के समीप पहुँचा तो कमलप्रभा नगर में कोढ़ की दवाई लेने चली गयी। जाते-जाते उसने कोढ़ियों के मुखिया से इतना अवश्य पूछ लिया कि आगे वे लोग किस नगर को जाएंगे। कोढ़ियों के मुखिया ने उज्जयिनी नगरी का नाम बता दिया। कमलप्रभा के जाने के बाद कोढ़ी-दल आगे बढ़ा और उज्जयिनी नगरी की सीमा पर जा पहुँचा।

मालव देश की राजधानी उज्जयिनी में उस समय प्रजापाल नाम का राजा राज्य करता था। उसकी दो पुत्रियाँ थीं—बड़ी सुरसुन्दरी और छोटी मैनासुन्दरी। सुरसुन्दरी की माता का नाम सौभाग्यसुन्दरी और मैनासुन्दरी की माता का नाम रूपसुन्दरी था। राजा प्रजापाल बहुत ही अभिमानी था। वह अपने को सबका भाग्यविधाता मानता था। समझता था कि मैं किसी को भी सुखी अथवा दुःखी कर सकता हूँ। सुरसुन्दरी तो राजा के अहं को तुष्ट करती थी; लेकिन मैनासुन्दरी जिन धर्म और कर्मसिद्धान्त में दृढ़ निष्ठा वाली थी, वह सुख-दुःख का कारण अपने ही कर्मों को मानती थी।

एक दिन राजसभा म दोनों पुत्रियाँ आयीं। बातों के दौरान सुरसुन्दरी ने

अपने पिता के विचारों का ही समर्थन किया। अतः राजा प्रसन्न हो गया और उसने उसका विवाह उसके इच्छित वर शंखपुर के राजकुमार अरिदमन के साथ कर दिया। किन्तु मैनासुन्दरी ने अपने पिता के विचारों का समर्थन नहीं किया—सुख-दुःख का कारण प्राणी के अपने कर्मों को बताया। इस पर राजा प्रजापाल उससे नाराज हो गया। उसने उसका विवाह कोढ़ी उम्बर राणा के साथ कर दिया।

मैनासुन्दरी इस दुखद परिस्थिति में न घबराई, न निराश हुई। उसने नवपद की आराधना की और न केवल पति को वरन् उन सभी सात सौ कोढ़ियों को स्वस्थ कर दिया। सभी के कोढ़ जड़-मूल से नष्ट हो गये और उनका शरीर कुंदन के समान दमकने लगा। श्रीपाल की माता भी आ गयी। वह अपने पुत्र और पुत्रवधू को देखकर बहुत हर्षित हुई।

इसके बाद श्रीपाल विदेश-यात्रा को चला गया। वहाँ उसने रैनमंजूषा, गुणमाला आदि सात राजकन्याओं से और विवाह किया, अत्यधिक यश-सम्मान और ऋद्धि-समृद्धि प्राप्त की। उसने चतुरंगिणी सेना भी तैयार कर ली।

जब वह लौटकर आया तो उसके वैभव को देखकर राजा प्रजापाल ने भी स्वीकार किया कि वास्तव में किये हुए कर्म ही व्यक्ति को सुख-दुःख देते हैं। उसका अहंकार झूठा था। उसके बाद श्रीपाल का युद्ध उसके चाचा वीरदमन से हुआ। वीरदमन की पराजय हुई। पराजय से खिन्न होकर उसने वहीं मुनि-व्रत स्वीकार कर लिये।

श्रीपाल ने नौ सौ वर्ष तक राज्य किया। अपने बड़े पुत्र त्रिभुवनपाल को राज्य देकर संयम ले लिया। मैनासुन्दरी भी साध्वी बन गई। तपाराधना करके श्रीपाल मुनि ने आयु पूर्ण किया और नौवें देवलोक में उत्पन्न हुए। नवें भव में इन्हें मोक्ष की प्राप्ति होगी।

—रत्नशेखर सूरिकृत सिरि सिरिवाल कहा

१६०. श्रेणिक राजा

'कुशाग्रपुर' नगर के स्वामी महाराज 'प्रसेनजित्' के सौ पुत्र थे, जिनमें सबसे ज्येष्ठ पुत्र का नाम था 'श्रेणिक'। महाराज 'प्रसेनजित्' ने एक बार एक पल्लीपति की कन्या से इस शर्त पर विवाह किया कि उसका पुत्र सिंहासन

का अधिकारी होगा। उस रानी के पुत्र भी हुआ। उसका नाम रखा गया 'चिलातीकुमार'।

'प्रसेनजित्' ने आवेशवश वचन तो दे दिया, पर फिर सोचा—हुआ यह बुरा। 'श्रेणिक' का हक छीनकर मैंने अच्छा नहीं किया। नैमित्तिक के कहने से कुछ परीक्षाएं भी राजकुमारों की ली गयीं। उन सब परीक्षाओं में श्रेणिक सब विधि उत्तीर्ण हुआ, फिर भी 'प्रसेनजित्' ने श्रेणिक का शब्दों द्वारा अपमान किया। श्रेणिक ने यों अपमानित जीवन जीने से नगर-त्याग अच्छा समझा। नगर का परित्याग कर साहस बल से एकाकी चल पड़ा। मार्ग में बौद्ध मठ में विश्राम किया।

बौद्धाचार्य ने उसके लक्षण देखकर शीघ्र ही उसे अंग-मगध का शासक बनने का संकेत दिया। श्रेणिक ने भी वैसा होने पर उनका सम्मान बढ़ाने को कहा। श्रेणिक आगे बढ़ा। मार्ग में बेनातट नगर के सेठ इन्द्रदत्त का साथ हो गया। कुछ दूर साथ-साथ चले। सेठ ने अपनी पुत्री नंदश्री का विवाह श्रेणिक के साथ कर दिया। नंदा के पुत्र का नाम 'अभयकुमार' रखा गया।

'प्रसेनजित्' ने 'चिलाती' का राजतिलक किया, पर वह अयोग्य निकला। राजा ने सारी अव्यवस्था देखकर मन ही मन अनुताप करते हुए अपना श्वास छोड़ते हुए सचिवों से कहा—श्रेणिक का पता लगाकर उसका राजतिलक करो।

'प्रसेनजित्' की मृत्यु के बाद सचिवों के प्रयत्न से 'श्रेणिक' अंग मगध का शासक बन गया। अपने कर्तृत्व के बल पर समृद्धिशाली सम्राट् बना।

'श्रेणिक' के नंदा, चेलणा, धारिणी, काली आदि अनेक रानियाँ और अभयकुमार, कूणिक, नंदीसेन, मेघकुमार, कालिकुमार आदि अनेक पुत्र थे।

श्रेणिक प्रारम्भ में बौद्धमतावलम्बी था। अनाथी मुनि की संगति से वह जैन धर्मी बना। पटरानी चेलना महाराज चेटक की पुत्री थी। इसलिए वह जैन धर्मावलम्बिनी थी। महारानी की तरह राजा श्रेणिक भी प्रभु महावीर का परम भक्त बना। राज्यलिप्सा में फँसकर दुर्बुद्धि के योग से तथा पूर्वजन्म के वैरभाव से 'कूणिक' ने 'श्रेणिक' को पिंजरे में बन्द कर दिया। 'चेलणा' ने जब उसे समझाया तब 'कूणिक' हाथ में तीक्ष्ण कुठार लिये अपने पिता राजा श्रेणिक के बन्धन तोड़ने पिंजरे की ओर बढ़ा। श्रेणिक ने 'कूणिक' को अपनी ओर यों आते देखा तो सोचा—'मुझे मारने के लिए आ रहा है। इस दुष्ट के हाथ

से मरने से तो अपघात करके मरना अच्छा है।' यों सोचकर अपनी हीरे की अंगूठी निगल ली। उस कालकूट विष के प्रयोग से उसके प्राण क्षणमात्र में ही निकल गये।

एक बार महाराज श्रेणिक ने हरिणी का शिकार करते समय एक बाण से हरिणी और उसके गर्भस्थ शिशु को बींधकर बाण भूमि में रोप दिया था। उसी के फलस्वरूप उसे नरकायु का बन्ध हुआ और उसे प्रथम नरक में जाना पड़ा। जैन शासन की अखण्ड भक्ति के कारण उसने तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया था। इससे अगली चौबीसी में 'पद्म' नाम का प्रथम तीर्थंकर होगा। भगवान् महावीर के समान ही ७२ वर्ष की आयु तथा सारी ऋद्धि आदि भी वैसी ही होगी।

—ठाणांग वृत्ति ४/३
—आवश्यक कथा

१६१. श्रेयांसकुमार

'आदिनाथ' भगवान् के पुत्र का नाम था 'सोमप्रभ'। 'सोमप्रभ' हस्तिनापुर का राजा था। उसके पुत्र का नाम था 'श्रेयांसकुमार'।

'आदिनाथ' प्रभु संयम लेकर विहार कर रहे थे। उस समय लोग साधुओं की भिक्षा-विधि से परिचित नहीं थे। इसलिए प्रभु को एक वर्ष तक आहार-पानी का सुयोग नहीं मिला। इससे पहले न तो किसी ने भिक्षा मांगी ही थी और न ही किसी ने भिक्षा दी थी। आहार न मिलने से चार हजार साधु जो साथ में दीक्षित हुए थे, उनमें से अनेक भूख-प्यास से हाल-बेहाल होकर संयम-पथ को छोड़कर कंदमूल-फलाहारी बन गये। प्रभु भिक्षा के लिए जाते, अन्यान्य कई चीजें प्रभु को लोग देना चाहते, परन्तु प्रासुक आहार देना किसी को भी याद न आता। बारह महीने के भूखे-प्यासे प्रभु 'हस्तिनापुर' पधारे।

संयोग की बात, उसी रात में श्रेयांसकुमार ने स्वप्न देखा—'मानो काले पड़ते हुए मेरु पर्वत को वह अपने हाथों से 'अमृत घट' से सींच रहा है।'

उसी रात नगर के एक सुबुद्धि नामक सेठ ने स्वप्न देखा—'हजारों किरणों से रहित होते सूर्य को श्रेयांसकुमार अपने हाथ से किरणों से संयुक्त बना रहा है।'

उसी रात महाराज सोमप्रभ ने स्वप्न में देखा—'एक दिव्य पुरुष द्वारा शत्रुओं

की सेना को हराया जा रहा है। उसने श्रेयांसकुमार के सहयोग से विजय प्राप्त कर ली।'

प्रातःकाल जागकर श्रेयांसकुमार महल के झरोखे में इसी चिन्तन में बैठा था—आज मैंने कैसा स्वप्न देखा? इतने में उसने प्रभु को आते देखा। तब श्रेयांसकुमार ने सोचा—'ऐसा रूप मैंने कहीं देखा है।' यों चिन्तन करते-करते उसे जातिस्मरणज्ञान हो आया। उस ज्ञान से भिक्षा-विधि का परिज्ञान करके प्रभु के पास आया और अपने घर चलने की प्रार्थना की। अपने घर लाकर, शुद्ध इक्षु रस के घट जो वहां रखे थे, उसका प्रभु को दान दिया। भगवान् ने अपने कर को पात्र बनाकर बारह महीनों के व्रत को खोला।

चारों ओर श्रेयांसकुमार का सुयश फैला। सभी के स्वप्न साकार हो उठे। वह इस युग का पहला दातार कहलाया। वह दिन वैशाख सुदी तीज का था इसलिए वह अक्षय तृतीया का पर्व कहलाया। आज उसी तप के उपलक्ष में बहुत से लोग वर्षी तप किया करते हैं।

—कल्पसूत्र

१६२. श्रेयांसनाथ भगवान्

सारिणी

जन्मस्थान	सिंहपुर	दीक्षातिथि	फाल्गुन कृष्णा १३
पिता	विष्णु	केवलज्ञान	माघ कृष्णा ३०
माता	विष्णुदेवी	चारित्र पर्याय	२१ लाख वर्ष
जन्मतिथि	फाल्गुन कृष्णा १२	कुल आयु	८४ लाख वर्ष
कुमार अवस्था	२१ लाख वर्ष	निर्वाण तिथि	श्रावण कृष्णा ३
राज्यकाल	४२ लाख वर्ष	चिह्न	गेंडा

'सिंहपुर' के महाराज 'विष्णु' की पटरानी 'विष्णुदेवी' के उदर में प्रभु श्रेयांसनाथ बारहवें अच्युत स्वर्ग से च्यवन करके आये। फाल्गुन बदी १२ को प्रभु का जन्म हुआ। युवावस्था में अनेक राजकन्याओं के साथ प्रभु का पाणिग्रहण हुआ। वर्षीदान देकर एक हजार राजाओं के साथ भगवान् श्रेयांसनाथ ने फाल्गुन बदी १३ को दीक्षा स्वीकार की। प्रभु २१ लाख वर्ष तक कुमारावस्था में रहे। ४२ लाख वर्ष तक राज्य किया। ११ महीने छद्मअवस्था

में रहे। दो महीने कम २१ लाख वर्ष तक केवलज्ञानी रहकर तीर्थंकर पद पर रहे। अन्त में एक हजार साधुओं के साथ सम्मेदशिखर पर अनशन किया। एक मास के अनशन में प्रभु ने श्रावण बदी ३ के दिन निर्वाण प्राप्त किया।

श्रेयांसनाथ इस चौबीसी के ग्यारहवें तीर्थंकर हैं।

धर्म-परिवार

गणधर	७६	वैक्रियलब्धिधारी	११,०००
केवली साधु	६५००	वादलब्धिधारी	५०००
केवली साध्वी	१३,०००	साधु	८४,०००
मन:पर्यवज्ञानी	६०००	साध्वी	१,०६,०००
अवधिज्ञानी	६०००	श्रावक	२,७६,०००
पूर्वधर	१३००	श्राविका	४,४८,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१६३. सकडालपुत्र

'पोलसपुर' नगर में एक ऋद्धि-सम्पन्न कुम्हार रहता था, जिसका नाम 'सकडालपुत्र' था। वह तीन कोटि धन का स्वामी था। दस हजार गायों का एक गोकुल उसके पास था। बर्तन बनाने और बेचने का उसका प्रमुख धन्धा था। नगर में उसके बर्तनों की पाँच सौ दुकानें थीं, जिनमें हजारों आदमी काम करते थे। इसकी कुम्भकारशाला के बर्तन नगर में बहुत अधिक बिकते थे। इसकी पत्नी का नाम 'अग्निमित्रा' था। गोशालक के सिद्धान्तों पर इसकी अच्छी निष्ठा थी। इतना विशाल व्यापार होते हुए भी सकडालपुत्र धार्मिक वृत्ति वाला व्यक्ति था।

एक दिन अपनी अशोकवाटिका में बैठा सकडालपुत्र धार्मिक चिन्तन कर रहा था। इतने में आकाश से एक देव ने कहा—'देवानुप्रिय ! कल तुम्हारे नगर में महामाहन आने वाले हैं। वे त्रिकालदर्शी जिन भगवान् हैं। तुम उनकी भली-भांति सेवा करना।'

सकडालपुत्र ने सोचा—'महामाहन जिन भगवान् तो मेरे धर्माचार्य गोशालक ही हैं। लगता है, वे यहाँ कल आयेंगे। बहुत प्रसन्नता की बात है। मैं उनकी सेवा करूंगा।'

दूसरे दिन सूर्योदय के बाद सकडालपुत्र गोशालक के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था। इतने में संवाद मिला—नगर के सहस्राभवन में भगवान् महावीर पधारे हैं।

सकडालपुत्र ने सोचा—'यह क्या! मुझे तो गोशालक के आगमन की सूचना मिली थी, आये भगवान् महावीर। देववाणी असत्य तो नहीं होती। यह क्या हुआ? खैर, चलो। भगवान् महावीर भी तो जिन और देवाधिदेव कहलाते हैं। हो सकता है, देव ने उनके लिए ही संकेत दिया हो। मुझे वहाँ चलना चाहिए।'

यों विचारकर सपरिवार प्रभु के दर्शनार्थ वहाँ पहुँचा। भगवान् ने बात का भेद खोलते हुए देशना के बाद सकडालपुत्र से पूछा—'कल तुम्हें एक देव ने कुछ संकेत दिया था। तुमने महामाहन का अर्थ गोशालक से समझा। क्या यह सत्य है?'

सकडालपुत्र ने कहा—'हाँ प्रभु ! मैं गोशालक को समझा, यह बात सत्य है।'

भगवान् ने कहा—'अब तो तुम्हें विश्वास हो गया होगा कि देव का संकेत गोशालक के लिए नहीं था।'

तब सकडालपुत्र ने कहा—'प्रभु, आप कह रहे हैं, वह सही है। अब मेरी प्रार्थना है—आप मेरी कुंभकारापणशाला में विराजें।'

सकडालपुत्र की प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् वहाँ पधारे।

सकडालपुत्र गोशालक का अनुयायी था। उसका सिद्धान्त था—'जो होने वाला है, वह होता है। पुरुषार्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं है।'

उसे समझाने के लिए भगवान् महावीर ने कहा—'सकडालपुत्र ! ये मिट्टी के बर्तन जो बने हैं, कैसे बने हैं?'

सकडालपुत्र—'ये तो बनने थे, इसलिए बन गये। इसमें किसी प्रकार के प्रयत्न की जरूरत नहीं थी।'

महावीर—'मान लो, इन बर्तनों को कोई फोड़ दे, चुरा ले, इधर-उधर फेंक दे या तुम्हारी पत्नी अग्निमित्रा के साथ कोई बलात्कार करे तो उस समय तुम क्या करोगे? क्या उस दुष्ट अनार्य को दण्ड दोगे?'

सकडालपुत्र—'भगवन् ! यह भी कोई पूछने की बात है? ऐसे दुष्ट अपराधी को मैं कैसे छोडूंगा? उसे कठोर से कठोर दण्ड दूंगा। प्राण तक भी ले लूंगा।'

भगवान्—'क्यों, ऐसा क्यों करोगे? तुम्हारा सिद्धान्त तो यह है कि जो होना है, वह होकर रहता है। सारी स्थितियाँ नियत हैं, तब उसका क्या अपराध है? उसे दण्ड क्यों दोगे?'

अब सकडालपुत्र के सामने नियतिवाद की अनुपयोगिता तथा तर्कहीनता स्पष्ट नजर आ गई थी। भगवान् महावीर की बात को सत्य मानकर सही तत्त्व को स्वीकार कर लिया। भगवान् महावीर के पास श्रावक के बारह व्रतों के नियम भी लिये।

जब गोशालक को सकडालपुत्र के धर्म-परिवर्तन का पता लगा तो चिन्तित हो उठा। सोचा—पोलासपुर का तो मेरा स्तम्भ ही ढह गया। उसे समझाने के लिए वह पोलासपुर चला आया। गोशालक जब सकडालपुत्र के पास पहुँचा, तब वह उसे देखा-अनदेखा करके भी धर्मध्यान में लीन बना बैठा रहा। गोशालक ने उसे दृढ़ श्रद्धालु समझकर फोड़ना चाहा। भेदनीति को अपनाते हुए, भगवान् महावीर के गुणानुवाद मुक्त कण्ठ से किये। यहाँ तक भी कहा—'जो देव का संकेत जिन, महान् गोप, देवाधिदेव, महामाहन आदि था वह उसके लिए ही था।'

गोशालक के मुँह से महावीर के गुणानुवाद सुनकर सकडालपुत्र ने गोशालक को प्रभु से शास्त्रार्थ करने के लिए कहा। गोशालक ने भगवान् महावीर से शास्त्रार्थ करने में अपने-आपको असमर्थ बताया।

सकडालपुत्र ने गोशालक को स्पष्ट कहा—'आप मेरे धर्माचार्य, धर्मगुरु भगवान् महावीर के गुणानुवाद करते हैं। मैं अपनी कुंभकारापण में शय्या संस्तारक के लिए आपको आमन्त्रित करता हूँ। आप आइये और वहाँ रहिये। अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।'

गोशालक वहाँ आकर ठहर गया। उसे अपनी ओर खींचने का काफी प्रयत्न किया, पर सफल न हो सका।

सकडालपुत्र श्रावकधर्म में विशेष लीन रहने लगा। एकदा वह पौषधशाला में बैठा था। उस समय रौद्र रूप बनाकर एक दैत्य हाथ में तीक्ष्ण तलवार लिये उसे चलित करने आया और बोला—'तू यदि धर्म नहीं छोड़ता है तो तेरे बड़े पुत्र को तेरे सामने लाकर उसके शरीर के नौ टुकड़े करूंगा। तेल की कड़ाही में उसके मांस के सूले पकाऊँगा। उस रक्त-मिश्रित तेल से तेरा शरीर सींचूंगा। तू उस असह्य पीड़ा से प्राण छोड़ देगा।'

देवता ने वैसा ही किया। दूसरे-तीसरे पुत्र को भी मारकर वैसे ही किया। सकडालपुत्र फिर भी अविचल रहा। अन्त में उसकी पत्नी अग्निमित्रा को मारने को उद्यत हुआ, तब वह उसे पकड़ने के लिए शोर मचाता हुआ उठा। ज्योंही वह दौड़ा, त्योंही एक खम्भे से टकरा गया।

सकडालपुत्र की चिल्लाहट सुनकर अग्निमित्रा अन्दर से आयी। पति को समझाते हुए कहा—हो न हो देव परीक्षा करने आया था। आप चिन्ता न करें। सब कुशल है। तीनों पुत्र सोये हुए हैं। आप अपने व्रत में दृढ़ता रखिये। जो अतिचार लगा है, उसकी आलोचना कीजिए।

सकडालपुत्र पुनः दृढ़ बना। पत्नी के लिए भी मन में जो अनुरक्ति थी, उसे मिटाने का प्रयत्न करने लगा। उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का वहन भी किया। अन्त समय में समाधिभाव से मृत्यु को प्राप्त कर सौधर्मकल्प में देवता बना। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर निर्वाण प्राप्त करेगा।

—उपासकदशा ५

१६४. सगर चक्रवर्ती

'अयोध्या' नगरी के महाराज का नाम था 'विजय'। उनके एक भाई था, जिसका नाम था 'सुमित्र'। 'सुमित्र' की महारानी 'यशोमती' ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम रखा गया 'सगर'।

वैसे महाराज 'विजय' की महारानी 'विजया' ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम था 'अजित'। संयोग की बात, दोनों का जन्म एक ही दिन हुआ। दोनों ही चौदह स्वप्नों से सूचित आये। 'अजित' दूसरे तीर्थंकर बने तो 'सगर' दूसरे चक्रवर्ती।

महाराज 'विजय' अपना राज्य 'अजितनाथ' को सौंपकर मुनि बन गये, साथ में 'सुमित्र' भी। 'अजितनाथ' कई वर्ष तक राज्य करके अपना राज्य सगर को सौंपकर स्वयं मुनि बन गए और केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थ की स्थापना की।

आयुधशाला में चक्ररत्न पैदा होने पर सगर छह खण्ड में अपना आधिपत्य स्थापित करने चल पड़ा। सगर के साठ हजार पुत्र थे। सागर दिग्विजय के लिए गया हुआ था। उधर सगर के पुत्रों ने अष्टापद पर्वत के पास एक खाई खोदने का विचार किया। उन्होंने सोचा—इस खाई में गंगा के प्रवाह को मोड़

दें तो अष्टापद पर्वत सुरक्षित हो जाएगा। जब साठ हजार पुत्रों ने खाई खोदकर गंगा का पानी उसमें भरना चाहा तब नागकुमार देवों के भवनों में वह पानी जाने लगा। देवताओं ने ऐसा करने के लिए मनाही की। वे कब मानने वाले थे ! नागकुमार देव कुपित हो उठे। साठ हजार पुत्रों को एक साथ ही जलाकर भस्म कर दिया।

जब सब पुत्रों की राख हो गई, तब देवता ने सोचा—अब यह संवाद सुनकर महाराज सगर पता नहीं क्या अनिष्ट कर दें। इसलिए इस दुःसंवाद की खबर उसके पास कैसे पहुँचाई जाए? सगर को संवाद देने के लिए इन्द्र ने एक ब्राह्मण का रूप बनाया। सगर के सामने बैठकर बहुत बुरी तरह बिसूर-बिसूरकर रोने लगा। पूछने पर ब्राह्मण ने सगर से कहा—'महाराज ! मेरा एकाकी पुत्र चल बसा।'

सगर ने धैर्य बँधाते हुए कहा—'भाई ! धैर्य रखो। मरा हुआ जीवित थोड़े ही हो सकता है? इस तरह विलाप करने से क्या होगा?'

ब्राह्मण ने कहा—'ठीक है, महाराज ! आपके तो साठ हजार पुत्र हैं। एक मर भी जाये तो फर्क नहीं पड़ता। पर मेरे तो इकलौता ही था।'

सगर ने कहा—'मरे हुए के पीछे मरा थोड़े ही जाता है। एक क्या, मेरे तो साठ हजार पुत्र भी मर जायें तो भी मैं धैर्य रखूंगा।'

तब इन्द्र अपने रूप में प्रकट हुआ। सारा वृत्तान्त सुनाकर पुत्रों के मरने की सूचना दी। साठ हजार पुत्रों की यों दुःखद मृत्यु सुनकर सगर को अकल्पित दुःख हुआ। देवेन्द्र ने बहुत धैर्य बंधाते हुए शान्त रहने के लिए कहा, किन्तु पुत्रों की मृत्यु से सगर का मन संसार से बिल्कुल ही उचट गया। अजितनाथ भगवान् के पास दीक्षा लेकर उत्कृष्ट तपस्या की। साधना के द्वारा केवलज्ञान तत्पश्चात् निर्वाण प्राप्त किया।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १८
—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१६५. सनतकुमार चक्रवर्ती

'हस्तिनापुर' के महाराज 'अश्वसेन' की महारानी का नाम 'सहदेवी' था। महारानी ने चौदह स्वप्नों से सूचित एक सौभाग्यवान्, रूपवान पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम रखा गया 'सनतकुमार'। सनतकुमार पिता की मृत्यु के बाद

गद्दी पर बैठे और सानन्द राज्य का संचालन करने लगे। सभी राजाओं पर विजय पाकर छह खण्ड पर अपना अधिकार जमाकर चौथे चक्रवर्ती बने।

'सनतकुमार' चक्रवर्ती की रूप-संपदा असाधारण थी। एक बार प्रथम स्वर्ग के स्वामी सौधर्मेन्द्र ने अपनी देवसभा में चक्रवर्ती के रूप की मुक्त कंठ से सराहना की। दो देवताओं को इस प्रशंसा में कुछ चाटुकारिता-सी लगी। दोनों देव परीक्षा करने चले आये। ब्राह्मण के वेश में वहाँ पहुँचे। जिस समय वे वहाँ पहुँचे, उस समय चक्रवर्ती स्नान करने बैठे थे। शरीर पर विलेपन किया हुआ था। देवताओं ने रूप-लावण्य देखकर मस्तक झुकाया।

चक्रवर्ती ने पूछा—'भूदेव ! कैसे आये?'

भूदेव ने कहा—'राजन् ! आपके रूप की महिमा सुनी थी। उसे देखने को हम ललचा उठे। इसलिए बहुत दूर से हम चले आये, पर जो सुना था उससे अधिक ही सौन्दर्य आप में देखने को मिला।' अपनी महिमा सुनकर चक्रवर्ती मन-ही-मन फूल उठा। ब्राह्मणों से कहा—'भूदेव ! अभी क्या देख रहे हो? अभी तो कुछ वस्तुओं का शरीर पर विलेप नहीं हुआ है। वस्त्राभूषण भी उतारे हुए हैं। जब वस्त्राभूषण पहनकर राज्य-सिंहासन पर बैठूं, तब आकर देखना।'

ब्राह्मण देव ने कहा—'बहुत अच्छा, राजन् ! उस समय भी आयेंगे।'

चक्रवर्ती स्नानघर से निकलकर विविध वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर राज्यसभा में स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान हो गये। सभी चक्रवर्ती के ऐश्वर्य की सराहना कर रहे थे। वे दोनों भूदेव भी आये। चक्रवर्ती को देखा। चक्रवर्ती ने सोचा—ये मेरी प्रशंसा करेंगे, पर दोनों ब्राह्मणों ने निःश्वास फेंका। उन्हें निःश्वास फेंकते देखकर चक्रवर्ती चौंका और उनसे निःश्वास फेंकने का कारण पूछा।

तब द्विजवर बोले—'राजन् ! पहले वाला रूप अब नहीं रहा। पहले आपका शरीर अमृतमय था, अब वही विषमय बन गया है। लगता है, सोलह रोगों के अंकुर फूट पड़े हैं। यदि इसे परखना हो तो थोड़ा-सा मुंह से थूककर देख लीजिए। थूक पर मक्खियाँ बैठते ही मर जाएंगी।'

चक्रवर्ती ने सहसा थूककर देखा। थूक पर जो भी मक्खियाँ बैठीं, वे मर गईं। तब 'सनतकुमार' को भान हुआ, हो न हो मेरे शरीर में अभिमान के कारण रोग का आक्रमण हुआ। नश्वर शरीर से मोह हटाया। सारे वैभव को ठुकराकर संयमी बनकर चल पड़े। सारे रत्न, सभी नरेन्द्र, सेना और नौ निधियाँ छह माह

तक चक्रवर्ती मुनि के पीछे-पीछे चलते रहे। पर मुनि सनतकुमार ने उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा।

शरीर में अनेक रोगों ने डेरा डाल दिया, फिर भी समता में लीन बने आत्मभाव में रमण करते रहते। फिर एक देव अनूठे वैद्य का रूप बनाकर आया और चिकित्सा कराने को कहा।

उसकी प्रार्थना सुनकर समाधिस्थ बने 'सनतकुमार' ने कहा—'वैद्यराज ! यदि मेरे कर्मों का रोग मिटा सकते हो तो शीघ्रता करो। इस शारीरिक कष्ट को मिटाने का जहाँ तक प्रश्न है, वह तो मैं भी मिटा सकता हूँ।'

यों कहकर अंगुली पर अपने मुँह का थूक लगाया। थूक लगाते ही कुष्ठरोग से गलित अंगुली भी कंचन जैसी चमकने लगी। शरीर स्वस्थ हो गया। रोग शान्त हो गया।

देव आश्चर्यचकित होकर अपने मूलरूप में प्रकट हुआ। पुनः-पुनः वन्दना करता हुआ कहने लगा—'धन्य है आपको, इतने लब्धि-संपन्न होते हुए भी इतने समताशील बने हुए हैं। समाधिपूर्वक वेदना को सहन कर रहे हैं। वास्तव में ही इन्द्र महाराज ने आपके धैर्य को सही परखा है।' यों सात सौ वर्षों तक मुनि सनतकुमार ने वेदना को समता से सहा। देव अपने स्थान पर गये। सनतकुमार मुनि ने विविध तपःसाधना के द्वारा निर्वाण प्राप्त किया।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १८

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

१६६. समुद्रपाल मुनि

'चम्पानगरी' में रहने वाला 'पालित सेठ' भगवान् महावीर का परम भक्त था। एक बार गाथापति पालित विविध भाँति के क्रय-विक्रय के सामान से जहाज भरकर व्यापार के लिए 'पिहुंड' नगर पहुँचा।

'पिहुंड' नगर के एक वणिक ने अपनी पुत्री की शादी 'पालित' के साथ कर दी। 'पालित' अपनी पत्नी को लेकर स्वदेश की ओर आ रहा था। रास्ते में एक पुत्र पैदा हुआ। समुद्र में पैदा होने से पुत्र का नाम 'समुद्रपाल' रखा।

'समुद्रपाल' अपनी युवावस्था में पहुँचकर बहत्तर कलाओं में पारंगत बना। एक रूपवती कन्या से 'समुद्रपाल' का विवाह हुआ। 'समुद्रपाल' महलों में सभी प्रकार का सुखोपभोग कर रहा था।

एक दिन 'समुद्रपाल' अपने महल के झरोखे में बैठा था। वहाँ से उसने नगरी की सड़क पर एक चोर को बंधा हुआ ले जाते देखा। देखते ही समुद्रपाल चौंका और सोचा—हन्त ! कैसे कर्मों का परिणाम भोगना पड़ता है।

चिन्तन कुछ गहराई में गया। उसे जाति-स्मरणज्ञान हो गया। माता-पिता की आज्ञा लेकर समुद्रपाल संयमी बन गया। सिंह की भांति उसने संयम का पथ स्वीकार किया और सिंह की भांति ही उसका परिपालन किया।

संयम की विशुद्ध आराधना के बल पर केवलज्ञानी बनकर निर्वाण प्राप्त किया।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २१

१६७. सात निन्हव

जैन परम्परा की वेशभूषा में रहते हुए भी जैन दर्शन की किसी बात का अन्यथा प्रतिपादन करने वाले को निन्हव कहा गया है। वे सात हुए हैं। दो भगवान् के केवलज्ञान होने के बाद तथा पाँच प्रभु के निर्वाण के बाद।* पहला निन्हव बहुरतवाद का प्ररूपक जमाली था। इसकी कथा 'जमाली' नाम से पहले आ गई है। शेष छह निन्हवों की कथा यहाँ दी जा रही है। दूसरा निन्हव तिष्यगुप्त था। वह जीव प्रादेशिकवाद का प्ररूपक था। उसकी कथा इस प्रकार है—

तिष्यगुप्त

आचार्य 'वसु' विहार करते हुए राजगृह में आये। गुणशीलक उद्यान में ठहरे। वे चौदहपूर्वी थे। उसमें प्रसंग आया—गौतम के प्रश्न पर भगवान्

* १. जमाली—भगवान् महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के १४ वर्ष के बाद। बहुरतवाद का प्ररूपक।
२. तिष्यगुप्त—भगवान् महावीर के कैवल्य-प्रापित के १६ वर्ष बाद। जीव प्रादेशिक वाद का प्ररूपक।
३. आचार्य आषाढ़ के शिष्य—महावीर-निर्वाण के २१४ वर्ष बाद। अव्यक्तवाद के प्ररूपक।
४. अश्वमित्र—महावीर-निर्वाण के २२० वर्ष बाद। समुच्छेदवाद के प्ररूपक।
५. आचार्य गंग—महावीर-निर्माण के २२८ वर्ष बाद। द्वैक्रियवाद के प्ररूपक।
६. रोहगुप्त—महावीर-निर्वाण के ५५४ वर्ष बाद। त्रैराशिकवाद के प्ररूपक।
७. गोष्ठामाहिल—महावीर-निर्वाण के ५८४ वर्ष बाद। अबद्विकवाद के प्ररूपक।

महावीर ने कहा—'जीव न एक प्रदेश को कहा जाता है, न दो, तीन, चार को। यावत् संख्यात प्रदेश वाले को जीव कहा जाता है; यहाँ तक कि अखण्ड चेतन द्रव्य में एक प्रदेश कम को भी जीव नहीं कहा जाता। असंख्यात प्रदेशी अखण्ड चेतन द्रव्य ही जीव कहलाता है।'

तिष्यगुप्त ने सोचा—'अन्तिम प्रदेश के बिना शेष प्रदेश जीव नहीं है। अतः जीव का अन्तिम एक प्रदेश ही जीव है।' गुरु ने उसे बहुत समझाया पर वह अपने आग्रह पर अड़ा रहा। तब उसे संघ से अलग कर दिया गया।

अपनी बात का पुरजोर प्रचार करता हुआ तिष्यगुप्त 'आमलकल्पा' नगर में आया। वहाँ अंबशाल वन में ठहरा। नगर में मित्रश्री नाम का एक श्रमणोपासक था। 'मित्रश्री' जान गया कि ये मिथ्या प्ररूपणा कर रहे हैं, फिर भी प्रतिदिन प्रवचन में आता। एक दिन उसके जीमनवार था। 'मित्रश्री' तिष्यगुप्त को अपने यहाँ भोजन देने के लिए ले गया। विविध प्रकार की सामग्री उसने उसके सामने रखी, पर दिया सबका बहुत छोटा-छोटा टुकड़ा। इसी प्रकार चावल का एक दाना, घास का एक तिनका (शय्या के लिए), वस्त्र का एक तार मित्रश्री ने तिष्यगुप्त को दिया। तिष्यगुप्त अवाक् बना देखता रहा। सोचा, पूरी सामग्री बाद में देगा। इतने में मित्रश्री वन्दन कर बोला—'मैं धन्य हूं। आपने मुझे निहाल कर दिया। दान देने का आज मुझे अच्छा अवसर मिला।' इतना सुनते ही तिष्यगुप्त गुस्से में आकर बोला—'मेरा यों तिरस्कार करने के लिया लाया था क्या? देना कुछ नहीं था तो लाया ही क्यों'?

मित्रश्री ने नम्रता से कहा—'भला मैं आपका तिरस्कार कैसे कर सकता हूं? मैंने प्रचुर मात्रा में आपको भिक्षा दी है। हाँ, इतना अवश्य है, भिक्षा दी है आपके सिद्धान्तानुसार, न कि भगवान् महावीर के सिद्धान्तानुसार। क्योंकि आप अन्तिम प्रदेश को ही वास्तविक मानते हैं, शेष को नहीं। मैंने भी पदार्थ का अन्तिम भाग ही दिया है, शेष नहीं। इतने से आप अपनी भूख मिटा लीजिये।'

अब तिष्यगुप्त की समझ में अपनी भूल आ गई। मिथ्या धारणा से दूर हटे और पुनः संघ में सम्मिलित हो गये।

आचार्य आषाढ़ के शिष्य

श्वेताम्बिका नगरी के पोलास उद्यान में आचार्य आषाढ़ अपनी शिष्य-मण्डली सहित ठहरे हुए थे। उस समय वे ही एक वाचनाचार्य थे। अपने

शिष्यों को योगाभ्यास करा रहे थे। एक दिन सहसा हृदयशूल के रोग से आचार्य आषाढ़ दिवंगत हो गये। 'सौधर्म कल्प' के 'नलिनीगुल्म' विमान में वे उत्पन्न हुए। वहाँ अवधिज्ञान से देखकर सोचा—शिष्यों को मेरी मृत्यु की जानकारी नहीं है। उनकी योग-साधना अधूरी रह जायेगी। यों सोचकर उसी शरीर में पुनः प्रविष्ट हो गये। यथासमय शिष्यों को जगाया, सभी योग-साधना में लग गये। योग-साधना जब सम्पन्न हुई, तब देव ने प्रकट होकर कहा—'श्रमणो ! मुझे क्षमा करें। मैंने असंयमी होते हुए संयमात्माओं से वन्दना करवाई।' यों अपनी मृत्यु की सारी बात कहकर चले गये।

पीछे से सन्तगण सन्देहशील हो गये। हममें से भी कौन साधु है और कौन देव—निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। क्या पता हम सब में भी ऐसा कोई और हो? अन्य स्थविरों ने उन्हें बहुत समझाया, पर वे अपनी बात पर अड़े रहे। उन्हें संघ से अलग कर दिया गया।

एक बार वे विहार करते हुए 'राजगृह' आये। वहाँ मौर्यवंशी राजा 'बलभद्र' श्रमणोपासक था। उसने उन्हें समझाने का अद्भूत तरीका अपनाया—अपने यहाँ उन सबको बुलवाकर सेवकों से उन्हें कोड़े मारने के लिए कहा। चार पुरुष हाथी को मारने वाले कोड़े ले आये। साधुओं ने कहा—'राजन् ! तुम श्रावक होकर हम साधुओं को ताड़ना दोगे?'

राजा ने कहा—'क्या पता महाराज? मैं श्रावक हूँ या नहीं, आप साधु हैं या नहीं, निश्चयपूर्वक कौन कह सकता है?' श्रमण चौंके। राजा ने कहा—'आप इस अव्यक्तवाद का प्रसार ही तो कर रहे हैं।'

सन्त समझ गये। अपने अज्ञान पर खेद हुआ। राजा ने क्षमायाचना करते हुए कहा—'मैंने आपको प्रतिबोध देने के लिए ही ऐसा किया था।'

अश्वमित्र

'मिथिला नगरी के लक्ष्मीगृह चैत्य में आचार्य महागिरि विराजमान थे। उनके शिष्य का नाम था 'कौण्डिन्य' तथा प्रशिष्य का नाम था 'अश्वमित्र'। अश्वमित्र दसवें विद्यानुवाद पूर्व के 'नैरयुणिकवस्तु' (अध्याय) का अध्ययन कर रहा था। वहाँ प्रसंग आया—'पहले समय में उत्पन्न सभी नैयायिक दूसरे समय में विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे वाले तीसरे समय में। यों सभी जीव नष्ट हो जाते हैं।' यह पढ़कर अश्वमित्र का मन शंकाकुल हो गया। उसने सोचा—

वर्तमान समय में उत्पन्न सभी जीव विचिछन्न हो जायेंगे तो सुकृत-दृष्कृत का वेदन कौन करेगा?

समाधान देते गुरु ने कहा—यह नयवाक्य है। पर्याय की अपेक्षा से सभी जीव नाशवान हैं। पर्याय से नष्ट हो भी जायेंगे, पर द्रव्य रूप में स्थिर रहेंगे। पर अश्वमित्र अपने हठ पर अड़ा रहा। बहुत-बहुत समझाने पर भी नहीं समझा, तब उसे संघ से अलग कर दिया।

अश्वमित्र अपने समुच्छेदवाद का प्रसार करता हुआ कांपिल्यपुर में आया। वहाँ खण्डरक्षा नाम के श्रावक थे जो चुंगी अधिकारी थे। उन्होंने उसे समझाने के लिए कुछ साधुओं को पीटा। उसने कहा—श्रावक होते हुए भी इस प्रकार साधुओं को पीटना क्या समुचित है?

श्रावकों ने कहा—आपके मतानुसार वे श्रावक नष्ट (विच्छिन्न) हो गये और वे साधु भी विनष्ट हो गये जो पीटे गये।

अश्वमित्र को अब अपनी भूल समझ में आ गई। प्रतिबुद्ध होकर संघ में पुनः सम्मिलित हो गये।

आचार्य भंग

'उल्लुका' नदी के इस किनारे एक खेड़ा था और उस किनारे था उल्लुकातीर नाम का नगर। वहाँ आचार्य 'महागिरि' के शिष्य आचार्य 'धनगुप्त' रहते थे। उनके शिष्य का नाम था 'भंग'। वे भी आचार्य थे। आचार्य 'भंग' उस खेड़े में वास करते थे।

एक बार शरद् ऋतु में अपने आचार्य को वन्दना करने आचार्य 'गंग' चले। वे उल्लुका नदी में उतरे। वे गंजे थे, ऊपर सूर्य के ताप से सिर को गर्मी लग रही थी और नीचे पैरों को जल ठंडा लग रहा था। उन्होंने सोचा—'आगमों में कहा गया है कि एक समय में एक ही क्रिया का वेदन होता है, दो का नहीं। किन्तु मुझे प्रत्यक्षतः एक साथ दो क्रियाओं का अनुभव हो रहा है।' अपनी धारणा उन्होंने गुरु के समक्ष रखी। गुरु ने कहा—'वत्स ! एक समय में एक ही क्रिया का वेदन होता है, दो का नहीं। मन का क्रम बहुत सूक्ष्म है, अतः हमें इसकी पृथकता का पता नहीं लगता। छद्मस्थ का कोई भी अनुभव असंख्यात समय बिना नहीं होता, यानी छद्मस्थ का प्रत्येक वेदन असंख्यात समय का ही होता है।' गुरु के बहुत-बहुत समझाने पर भी वे नहीं समझे, तब उन्हें संघ से अलग कर दिया गया।

अब आचार्य गंग अकेले विचरने लगे। विहार करते हुए वे राजगृह में आये। वहाँ 'महातपःतीर' नाम का एक झरना था। उसके समीप ही 'मणिप्रभ' नामक चैत्य में ठहरे। परिषद् में आचार्य गंग अपने द्वैक्रियावाद का प्रतिपादन कर रहे थे। तब मणिनाग ने प्रकट होकर कहा—"तुम असत्य प्ररूपणा क्यों कर रहे हो? क्या तुम भगवान् से भी अधिक ज्ञानी हो गये हो? इस असत्य प्ररूपणा को छोड़ो, अन्यथा तुम्हारा कल्याण नहीं होगा।"

मणिनाग की बात सुनकर आचार्य गंग मन में कंपित हुए। सोचा, मेरा चिन्तन सही नहीं है। आचार्य के पास आये और प्रायश्चित कर संघ में सम्मिलित हो गये।

रोहगुप्त

'अतिरंजिका' नगरी के महाराज का नाम था 'बल्लश्री'। वहाँ भूतगृह नामक चैत्य में आचार्य श्रीगुप्त ठहरे हुए थे। उनका संसारपक्षीय भानजा 'रोहगुप्त' उनका शिष्य था। एकदा वह दूसरे गाँव से आचार्य को वन्दना करने आया हुआ था।

उन्हीं दिनों वहाँ एक परिव्राजक था जिसका नाम था 'पोटशाल'। वह अपने पेट पर लोहे की पट्टी बाँधकर हाथ में जम्बू वृक्ष की टहनी लिये घूमा करता था। पट्टी बाँधने और शाखा हाथ में लिये रहने का कारण बताते हुए वह कहा करता—'ज्ञान के भार से मेरा पेट न फट जाए, इसलिए मैं अपने पेट को लोहे की पट्टियों से बाँधे रहता हूँ तथा इस समूचे जम्बूद्वीप में मेरा प्रतिवाद करने वाला कोई नहीं है, अतः जम्बूद्वीप की शाखा को हाथ में लिये घूमता हूँ।' वह सभी धार्मिकों को शास्त्रार्थ के लिए चुनौती देता रहता। इस गाँव में भी चुनौती का पटह फेरा। 'रोहगुप्त' ने उसकी चुनौती स्वीकार कर ली। आचार्य को सारी बात कही। आचार्य ने कहा—'वत्स ! तूने अच्छा काम नहीं किया।'

फिर भी रोहगुप्त राजसभा में शास्त्रार्थ के लिए गया। परिव्राजक ने पक्ष स्थापित करते हुए कहा—राशि दो हैं—जीव राशि और अजीव राशि। अब यदि उसकी बात को हाँ कहते तो इसका तात्पर्य होता उसके पक्ष को स्वीकार कर लिया और पक्ष को स्वीकार का अर्थ था—पराजय। अतः बोले—नहीं, राशि तीन्न हैं—जीव राशि, अजीव राशि और नोजीव राशि। तीनों राशियों की स्थापना करते हुए रोहगुप्त ने कहा—'नारक, तिर्यंच, मनुष्य आदि जीव हैं,

घट-पट आदि अजीव हैं और छछूंदर की कटी हुई पूंछ नोजीव है। इस प्रकार अनेक युक्तियों द्वारा रोहगुप्त ने परिव्राजक को निरुत्तर कर दिया। राजा ने परिव्राजक को पराजित घोषित कर दिया।

विजयी बने रोहगुप्त ने सारी बात आचार्य से कही। आचार्य ने कहा—'तूने असत्य प्ररूपणा की है। अपनी भूल स्वीकार कर।' किन्तु वह अपने हठ पर अड़ा रहा। आचार्य ने उसे समझाने कुत्रिकापण में गये। वहाँ तो संसार की सभी वस्तुएं मिल सकती हैं। जाकर तीन राशियों की तीन चीजें मांगीं। दुकानदार ने कहा—'नोजीव नाम का कोई भी पदार्थ संसार में नहीं है, तब मेरे यहाँ कैसे मिलेगा?' फिर भी रोहगुप्त अपने हठ पर अड़ा रहा। तब आचार्य ने उसे संघ से अलग कर दिया।

गोष्ठामाहिल

'दसपुर' नगर में राज-सम्मानित ब्राह्मण-पुत्र 'आर्यरक्षित' रहता था। जब वह अपने पिता से सारा ज्ञान पढ़ चुका, तब पाटलिपुत्र जाकर अनेक वेद-वेदान्तों का ज्ञान प्राप्त करके घर लौटा। माँ ने कहा—'बेटा ! सही ज्ञान प्राप्त करना हो तो आचार्य तोसलीपुत्र के पास जाकर सीखो।' उसने वहाँ संयम लेकर आचार्य के पास दृष्टिवाद का अध्ययन प्रारम्भ किया और तदनन्तर आर्य वज्र से नौ पूर्वों का अध्ययन सम्पन्न कर दसवें पूर्व के चौबीस यविक ग्रहण किए।

आर्यरक्षित आचार्य बने। आचार्य आर्यरक्षित के तीन प्रमुख शिष्य थे—दुर्बलिका पुष्यमित्र, फगुरक्षित और गोष्ठामाहिल। आर्यरक्षित ने अपने अन्तिम समय में दुर्बलिका पुष्यमित्र को गण का भार सौंपा।

एक बार आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र अर्थ की वाचना कर रहे थे। उनके बाद 'विंध्य' उस वाचना का अनुभाषण कर रहा था। गोष्ठामाहिल सुन रहा था। उस समय आठवें कर्मप्रवाद के अन्तर्गत कर्म का विवेचन चल रहा था। वहाँ जीव के साथ कर्मों का बन्ध किस प्रकार होता है इसका समाधान देते हुए उन्होंने तीन प्रकार बताए—

स्पृष्ट—कुछ कर्म जीव प्रदेशों के साथ स्पर्श मात्र करते हैं और कालान्तर में स्थिति का परिपाक होने पर उनसे अलग हो जाते हैं। जैसे—सूखी दीवार पर फेंकी गई रेत। वह भीत का स्पर्श मात्र करके गिर जाती है।

स्पृष्टबद्ध—जैसे गीली भीत पर फेंकी गई रेत कुछ चिपक जाती है, कुछ

नीचे गिर जाती है वैसे ही कुछ कर्म जीव-प्रदेशों का स्पर्श करके बद्ध होते हैं और वे भी कालान्तर में विलग हो जाते हैं।

स्पृष्टबद्ध निकाचित—कुछ कर्म जीव-प्रदेशों के साथ गाढ़ रूप में बन्ध प्राप्त करते हैं और वे भी कालान्तर में विलग हो जाते हैं।

यह सारा प्रतिपादन सुनकर गोष्ठामाहिल का मन विचिकित्सा से भर गया। वह बोला—'कर्म को जीव के साथ बद्ध मानने से मोक्ष का अभाव हो जाएगा। कोई भी प्राणी मोक्ष नहीं जा सकेगा। अतः सही सिद्धान्त यही है कि कर्म जीव के साथ स्पृष्ट होते हैं, बद्ध नहीं। क्योंकि कालान्तर में वे विलग हो जाते हैं और जो विलग होता है, वह एकात्मकता से बद्ध नहीं हो सकता।

उसने अपनी शंका 'विंध्य' के सामने रखी। विंध्य ने कहा—आचार्य ने इसका अर्थ यही बताया है।

गोष्ठामाहिल की विचिकित्सा की चिकित्सा नहीं हुई। वह फिर भी मौन रहा। एक बार नौवें पूर्व की वाचना में साधुओं के प्रत्याख्यान के प्रसंग में आया—यथाशक्ति और यथाकाल प्रत्याख्यान करना चाहिए। गोष्ठामाहिल ने सोचा—'अपरिमाण प्रत्याख्यान ही अच्छा है। परिमाण प्रत्याख्यान में वांछा का दोष उत्पन्न होता है। जैसे एक व्यक्ति परिमाण प्रत्याख्यान के अनुसार पौषधी उपवास करता है, किन्तु पौषधी उपवास का कालमान पूरा होते ही उसके खाने-पीने की आशा तीव्र हो जाती है। अतः परिमाण प्रत्याख्यान सदोष है। गोष्ठामाहिल ने अपने विचार पहले विंध्य के सामने रखे और फिर आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के सामने रखे। आचार्य ने उसे समझाते हुए कहा—अपरिमाण का अर्थ क्या है? यावत् शक्ति या भविष्य काल। यदि यावत् शक्ति का अर्थ स्वीकार करते हो तो हमारा ही मंतव्य स्वीकार हुआ। यदि भविष्यत् काल का अर्थ स्वीकार करते हो तो व्यक्ति यहाँ से मरकर देवरूप में उत्पन्न होता है। वहाँ सभी व्रतों के भंग का प्रसंग आएगा। अतः अपरिमाण प्रत्याख्यान का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

गोष्ठामाहिल को यह बात नहीं जंची। वह अपने हठ पर अड़ा रहा। बहुत-बहुत समझाया, किन्तु नहीं समझा। अन्य स्थविरों से भी गोष्ठामाहिल ने पूछा। उन सबने भी आचार्य की बात का समर्थन किया, परन्तु फिर भी वह नहीं माना। तब संघ ने एकत्रित होकर देवता के लिए कायोत्सर्ग किया। देवता ने उपस्थित होकर पूछा—क्या आदेश है?

संघ ने कहा—तीर्थंकर के पास जाओ और पूछो कि जो गोष्ठामाहिल कह रहा है वह सत्य है या दुर्बलिका पुष्यमित्र आदि संघ का कहना सत्य है?

देवता ने कहा—मुझ पर अनुग्रह करें। मेरे गमन में कोई प्रतिघात न हो, इसलिए आप कायोत्सर्ग करें।

सारा संघ कायोत्सर्ग में बैठ गया। देवता ने तीर्थंकर से पूछा और आकर बताया—संघ जो कह रहा है वह सत्य है, गोष्ठामाहिल का कथन असत्य है। सारा संघ पुलकित हुआ। गोष्ठामाहिल बोला—इस बेचारे में ऐसी कौन-सी शक्ति है जो वह तीर्थंकर से जाकर पूछे?

सभी ने उसे बहुत समझाया, पर वह नहीं समझा। अन्त में आचार्य ने कहा—'तुम अपने सिद्धान्त पर पुनर्विचार करो, अन्यथा संघ में नहीं रह सकोगे।' गोष्ठामाहिल का आग्रह पूर्ववत् रहा। तब संघ ने उसे बहिष्कृत कर दिया। इन सात निन्हवों में जमाली, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल—ये तीन तो अन्त तक अलग ही रहे और अन्य चार संघ में मिल गए।

—ठाणांग वृत्ति ७

१६८. सालिहीपिता

'सालिहीपिता' सावत्थी नगरी में रहने वाला एक ऋद्धि सम्पन्न गाथापति था। इसकी पत्नी का नाम था 'फाल्गुनी'। 'सालिहीपिता' चार गोकुल तथा बारह कोटि स्वर्णमुद्राओं का मालिक था। भगवान् महावीर से इसने श्रावक धर्म स्वीकार किया। दोनों अपना जीवन सानन्द बिता रहे थे। सालिहीपिता की प्रेरणा से उसकी धर्मपत्नी ने भी श्राविका व्रत स्वीकार किये। ऐसा करते-करते चौदह वर्ष का समय व्यतीत हो गया।

एकदा सालिहीपिता के मन में विचार आया—'मैं इस प्रकार घर का भार कब तक ढोता रहूंगा? बैल की तरह पच-पचकर मरने के लिए मनुष्य-जीवन थोड़े ही मिला है?' चिन्तन ने बल पकड़ा। अपने घरेलू कार्य-भार से मुक्त होकर पौषधशाला में जाकर धर्मध्यान में समय लगाने लगा। सारा गृह-भार ज्येष्ठ पुत्र को संभला दिया। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का सकुशल वहन किया। श्रमणभूत जीवनयापन करने लगा। तपःचर्या के द्वारा शरीर कृश हो गया। तब उसने अनशन स्वीकार किया। एक मास के अनशन से समाधिपूर्वक

मरण प्राप्त करके प्रथम स्वर्ग में गया। वहाँ से महाविदेह में उत्पन्न होकर निर्वाण प्राप्त करेगा।

—उपासकदशा १०

१६६. साहसगति

'वैताढ्य' पर्व के 'ज्योतिपुर' नगर का स्वामी 'ज्वलनशिख' था। उसकी महारानी 'श्रीमती' से एक पुत्री का जन्म हुआ। उसका नाम 'तारा' रखा गया। 'तारा' वास्तव में ही अनेकानेक लोगों के नयनों की तारा (कीकी) थी। 'तारा' के विवाह की तैयारी होने लगी। महाराज 'चक्रांक' का पुत्र 'साहसगति' भी तारा का अभिलाषी था। पर विद्याधर 'ज्वलनशिख' ने यह कहकर उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि वह अल्पायु वाला है। तारा का विवाह 'किष्किन्धा' के स्वामी सुग्रीव से कर दिया गया। 'साहसगति' तिलमिला उठा। तारा को पाने के हथकंडे रचने लगा। 'हिमवन्त' पर्वत पर जाकर उसने रूप-परावर्तिनी-विद्या की साधना प्रारम्भ की।

दृढ़ संकल्प और तन्मयता से विद्या सिद्ध करके सीधा 'किष्किन्धा' पहुँचा। उस समय किष्किन्धा-नरेश महाराज सुग्रीव क्रीड़ा करने वन में गये थे। वह सुग्रीव का रूप बनाकर महल में प्रविष्ट हो गया। जब असली 'सुग्रीव' आये तब द्वारपालों द्वारा वहीं रोक दिये गये। दो सुग्रीव की चर्चा सब जगह फैल गई। ज्येष्ठ बन्धु 'बालि' के पुत्र तथा 'सुग्रीव' के उत्तराधिकारी 'चन्द्ररश्मि' को जब इस घटना का पता लगा तब उसके आदेश से उस नकली सुग्रीव को भी महल से बाहर लाया गया, परन्तु पहचान कोई नहीं सका कि कौन असली है तथा कौन नकली? सच-झूठ को परखने के लिए अनेक प्रयत्न किये गये। यहाँ तक कि चौदह-अक्षौहिणी सेना को भी आधी-आधी करके युद्ध करने के लिए कहा गया। उन दोनों को भी परस्पर युद्ध करने के लिए कहा गया। वैसा किया भी गया, परन्तु परिणाम कुछ भी न निकला। कोई भी उस छली की चाल नहीं समझ सका।

उन दिनों राम-लक्ष्मण वनवास में महाराज 'वीर विराध' के यहाँ 'पाताल लंका' में अवस्थित थे। 'सुग्रीव' ने दूत भेजकर उनको वहाँ आने के लिए कहलाया। 'वीर विराध' के कहने से अन्त में स्वयं वहाँ गया तथा संकट मिटाने की प्रार्थना की। 'सुग्रीव' की विरह-व्यथा सुनकर स्वयं 'राम' को भी 'सीता'

का वियोग याद हो आया। सुग्रीव 'सीता' की खबर लगाने के लिए वचनबद्ध हुआ। राम-लक्ष्मण को साथ लेकर 'किष्किन्धा' आने के लिए इस शर्त पर तैयार हुए कि जो सच्चा होगा, उसका पक्ष वह लेंगे।

राम किष्किन्धा आये। छली 'सुग्रीव' निश्चिन्त था। सोच रहा था— होना-जाना क्या है? मेरी विद्या सिद्ध की हुई है।

राम ने दोनों को सामने खड़ा किया। कुछ प्रारम्भिक प्रयोग के बाद राम ने अपना 'वज्रावर्त' धनुष उठाया और धनुष्टंकार की। उसकी भयंकर टंकार से ही 'साहसगति' की विद्या भाग गई। साहसगति अपने मूल रूप में आ गया। साहसगति को जब सामने खड़ा देखा, तब सभी को आश्चर्य हुआ।

राम के द्वारा यों दंभ का दमन हुआ। सत्य सबके सामने निखर आया।

राम ने उसी धनुष से एक बाण छोड़कर 'साहसगति' को जमीन का पूत बना दिया।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ७

२००. सीता

सती सीता 'विदेह' देश के महाराज 'जनक' की पुत्री थी। 'सीता' की माता का नाम 'पृथ्वी' तथा भाई का नाम 'भामंडल' था।

युवावस्था में सीता के स्वयंवर मंडप की रचना की गई। उसमें दशरथनंदन 'श्रीराम' ने धनुष चढ़ाया। सीता ने वरमाला राम के गले में पहना दी। 'सीता' और 'राम' की युगल जोड़ी को सभी ने सराहा।

अपने पिता महाराज दशरथ के वचन निर्वाह-हेतु जब राम वनवास जाने लगे तब 'सीता' भी साथ गई। वनवास के अनगिनत और अकल्पित कष्टों को उस कोमल काया से सहन करके सीता ने संसार को यह दिखा दिया कि 'जहाँ पति, वहाँ सती'।

सूर्पणखा के बहकाने से दण्डकारण्य अटवी में लंका का स्वामी राजा 'रावण' आया। सीता का हरण करके अपने यहाँ ले गया। राक्षसराज के चंगुल में फंसकर भी सीता अपने सतीत्व पर दृढ़ रही। समय-असमय 'रावण' की ओर से मिलने वाले सभी तरह के लुभावने प्रलोभनों को ठुकराती रही।

'रत्नजटी' विद्याधर के द्वारा पता पाकर 'राम-लक्ष्मण' ने 'सुग्रीव', 'हनुमान', 'नल', 'नील' आदि अनेक राजाओं को साथ लेकर 'लंका' पर

चढ़ाई की। भीषण संग्राम हुआ। अन्त में 'रावण' को मारकर और सीता को लेकर राम-लक्ष्मण विजयी बनकर आये। लक्ष्मण-राम के वासुदेव-बलदेव के पद का अभिषेक अयोध्या में किया गया। सीता सानन्द रहने लगी।

राम की अन्य रानियों ने षड्यन्त्र रचा, जिससे नगर में सीता के सतीत्व को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। 'रावण' के यहाँ इतने लम्बे समय तक 'सीता' का रहना प्रश्नचिन्ह बन गया। वातावरण को यहाँ तक दूषित कर दिया गया कि श्री राघव ने सीता को सेनापति द्वारा वन में छुड़वा दिया। कलंकिता तथा असहाय बनी सीता को 'पुंडरीकिणी' नगरी का महाराज 'वज्रजंघ' धैर्य बंधाकर अपने यहाँ ले गया। वहाँ वह सानन्द रहने लगी। सीता ने वहाँ दो पुत्रों को जन्म दिया, जिनका नाम लव-कुश रखा गया। बड़े होने पर बात का भेद पाकर लव-कुश दोनों भाई 'अयोध्या' पर चढ़ आये। सेनापति इनके सामने टिक नहीं सका। 'राम-लक्ष्मण' के शस्त्रों ने भी इन पर वार करने से उत्तर दे दिया। तब 'राम' को लगने लगा—अब राज्य तो जाएगा ही, पराजय का अपयश भी झेलना पड़ेगा। यों चिन्तित होते राम-लक्ष्मण को नारद ऋषि ने समझाया और सम्पूर्ण भेद बताया कि ये दोनों सीताजी के पुत्र हैं। तब युद्धस्थल प्रेमस्थल में बदल गया। पिता-पुत्र परस्पर मिले।

सीता का कलंक मिटाने के लिए अग्निस्नान की व्यवस्था की गई। हजारों दर्शकों के सामने अग्निकुंड में सीता 'परमेष्ठी' महामंत्र का जाप करती हुई कूद पड़ी। अग्नि सहसा जल में परिवर्तित हो गई। अग्निकुंड सरोवर बन गया। उस पर जल एक सिंहासन बना। उस पर बैठी सीता सत्यशील की साक्षात् मूर्ति-सी खिल रही थी। चारों ओर बस एक ही आवाज थी—'जय हो सीता माता की।'

इस प्रकार महासती 'सीता' का सतीत्व सबके सामने निखर उठा। राम ने महलों में चलने के लिए बहुत आग्रह किया। पर 'सीता' ने श्री 'राम' की अनुमति प्राप्त करके संयम स्वीकार कर लिया।

संयम को पालकर बारहवें स्वर्ग में इन्द्र के रूप में अवतरित हुई तथा 'सीतेन्द्र' कहलाई। आगे जाकर रावण जब तीर्थंकर होगा, उस समय सीता का जीव उसका गणधर होकर निर्वाण प्राप्त करेगा।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ७

२०१. सुकोशल मुनि

'अयोध्या' नगरी के महाराज 'कीर्तिधर' की महारानी का नाम 'सहदेवी' था। 'सहदेवी' ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम 'सुकोशल' रखा गया। 'सुकोशल' जब बालक ही था, तभी 'कीर्तिधर' उसको अपना राज्य सौंपकर स्वयं संयमी बन गया। 'सुकोशल' अयोध्या का कुशल शासक बना। उधर 'कीर्तिधर' मुनि मास-मास का तप करते हुए एक बार आहार लेने 'अयोध्या' में आये। नगर में भिक्षा के लिए उन्हें घूमते देखकर राजमहल में बैठी राजमाता को क्रोध आ गया। सोचा—ऐसा न हो कि इनके संपर्क से मेरा पुत्र सुकोशल भी मुनि बन जाए। यदि पुत्र भी पिता की भांति साधु बन गया तो मैं पीछे अकेली क्या करूंगी? इससे अच्छा तो यही होगा कि मुनि को नगर से बाहर निकलवा दूं। न सुकोशल को इनकी संगति मिलेगी और न प्रव्रजित होगा।

यह सोचकर रानी सहदेवी ने कोतवाल को आदेश दिया कि उस साधु को जल्दी से जल्दी नगर से बाहर निकाल दो। जब महारानी ने ही अपने सांसारिक नाते के पति का यह सत्कार किया तो राजसेवकों के तो मुनिवर लगते ही क्या थे ! बलपूर्वक मुनि को नगर से बाहर ले गये। धायमाता को जब यह सारा भेद पता लगा, तब उसने रोते-चीखते सारी बात महाराज सुकोशल से कही। महाराज 'सुकोशल' धायमाता की बात सुनकर अवाक् रह गया। उन्हें बहुत दु:ख हुआ। नगर के बाहर आकर मुनि को छुड़वाया। पिता के प्रति किये गये माता के व्यवहार से 'सुकोशल' का मन खिन्न हो उठा और तुरन्त उसी क्षण संयम ले लिया। 'सहदेवी' विलाप करती हुई आर्तध्यान में मरकर एक वन में सिंहनी बनी।

एक बार कीर्तिधर और 'सुकोशल' मुनि ने पर्वत की गुफा में चातुर्मास किया। कार्तिकी पूनम के दिन चातुर्मासिक तप का पारणा करने नगर की ओर बढ़ रहे थे। इतने में भूख से बेहाल हुई वह सिंहनी मुनि-युगल पर झपट पड़ी। 'सुकोशल' मुनि को देखकर उसका पूर्व वैर जागा। मारणान्तिक उपसर्ग आया हुआ देखकर 'सुकोशल' मुनि ध्यान में लीन होने लगे, तब कीर्तिधर मुनि ने चाहा—'वह पीछे आ जाएं और इस उपसर्ग के सामने वे खुद डटें।' पर 'सुकोशल' मुनि यों कहकर वहीं डटे रहे—'मैं क्षत्रियवंशी हूं, मोर्चे पर डटना

ही सीखा है, हटना नहीं।' भावना बल से मुनि ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। सिंहनी ने मुनि के शरीर को बुरी तरह से नोच डाला। मांस और रक्त निर्घृण बनकर खाने लगी।

अपने प्राण-प्यारे पुत्र के रक्त को पीते-पीते सिंहनी को जातिस्मरणज्ञान हो गया। पूर्वभव देखा तो अपने-आपको धिक्कारने लगी—'छिः-छिः ! जिस पुत्र के मोहवश मैं मरी थी, उसी पुत्र को यों निर्ममता से मैंने मारा। धिक्कार है मुझे। यों भावविह्वल हो उठी। पश्चात्ताप करते हुए उसने वहीं आमरण अनशन किया। भावों की विशुद्धि करके तथा शान्त भाव से अपने शरीर को छोड़कर आठवें स्वर्ग में गई। इस प्रकार मनुष्य-जीवन भले ही बिगाड़ा, परन्तु पशु-जीवन को सुधार लिया।

'कीर्तिधर' मुनि ने यह सब कुछ देखा और समता से सहा। अपने आत्मभाव से विचलित नहीं हुए। अन्त में उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त करके निर्वाण प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाकपुरुष चरित्र, पर्व ७

२०२. सुदर्शन सेठ

'अंगदेश' के प्रमुख नगर 'चम्पा' का स्वामी महाराज 'दधिवाहन' था। उसकी महारानी का नाम 'अभया' था। उसी नगरी में एक सुन्दर रूप-सम्पदावाला सेठ था जो कि 'सुदर्शन' के नाम से प्रसिद्ध था। 'सुदर्शन' का सुगठित और सुडौल शरीर, चेहरे की अनूठी आभा सबको प्रिय तथा मोहक लगती। उसके घर में अपार धन था, फिर भी वह अपनी सम्पत्ति सत्यवादिता, धर्मप्रियता, शीलवत्ता और गुणवत्ता को गिनता था। अन्यान्य गुणों के साथ-साथ सुदर्शन के शील की महिमा प्रमुख रूप से चारों ओर फैली हुई थी। महाराज ने भी उसे सुयोग्य 'नगरसेठ' का पद दे रखा था।

सेठ सुदर्शन का एक मित्र था—'कपिल पुरोहित'। उसकी पत्नी का नाम 'कपिला' था। कपिला ने एक दिन सुदर्शन को देख लिया। उसके रूप-सौन्दर्य पर वह अपना भान ही भूल बैठी और उससे सहवास करने की इच्छा करने लगी। मौका देखकर उसने अपनी दासी को उसे घर ले आने के लिए कहा। सेठ भ्रमवश दासी की बात को पूरी नहीं समझा और उसके साथ घर आ गया।

कपिला ने शानदार स्वागत करके अपनी मनोभावना स्पष्ट रूप से सेठ के सामने रख दी। कपिला की बात सुनकर सेठ अवाक् रह गया। भौंचक्का-सा

बना सोचने लगा—'ऐसी विचित्र परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए?' इतने में उसे एक युक्ति सूझ गयी।

सहसा उदास बनकर और विनम्र होकर बोला—'पुरोहितनीजी ! मेरे धन्य भाग्य हैं कि आपने मुझे याद किया और यह अलभ्य अवसर मुझे दिया। पर करूं क्या? मजबूर हूं। अपनी कमजोरी आपके सामने रखते हुए शर्म आती है।' लज्जा से मुंह नीचे करता हुआ बोला—'मैं तो नपुंसक हूं, पुरुषत्वहीन हूं। मेरे से आपकी इच्छा पूरी नहीं हो सकेगी। इसलिए मुझे माफ करें।' 'कपिला' ने सेठ की बात को सच समझा। गुस्से में आकर उसे वापस लौटा दिया। सेठ ने सोचा—चलो, बला टली।

कुछ दिनों बाद नगर में कौमुदी महोत्सव था। उस दिन नगर के सभी लोग अपने-अपने परिवार सहित नगर के बाहर आमोद-प्रमोद मनाने जा रहे थे। सेठ सुदर्शन भी अपने चारों पुत्रों और पत्नी 'मनोरमा' के साथ जा रहा था। पुरोहितानी कपिला और महारानी अभया ने कामदेव के समान उन पुत्रों को देखकर दासी से पूछा—'ये पुत्र किसके हैं?'

दासी ने बताया कि ये सेठ 'सुदर्शन' के पुत्र हैं। सुदर्शन का नाम सुनते ही कपिला का क्रोध भभक उठा। मेरे से धोखा करके चला गया। मुझसे कहा था कि मैं नपुंसक हू फिर ये पुत्र फिर कैसे हुए? जल्दी से जल्दी सेठ को झूठ बोलने का फल दिलवाना है। कपिला ने महारानी अभया को सारी आपबीती सुनाकर उसे विचलित करने को उकसाया।

रानी ने अपनी 'पंडिता' नामक दासी को सेठ को महलों में लाने के लिए कहा। पंडिता पहरेदारों पर विश्वास जमाने के लिए सेठ जैसी एक मिट्टी की मूर्ति कपड़े से ढककर महलों में लाने लगी। पहरेदारों ने जब टोका तो उसने झल्लाते हुए उसको वहीं पटक दिया। गिरते ही वह टूट गई। पहरेदार रानी जी के भय से कांपने लगे। पंडिता से सिर्फ इस एक बार के लिए अपने बचाव की प्रार्थना की। यों पंडिता ने सब पहरेदारों पर रौब गांठकर अपना मार्ग निष्कंटक कर लिया।

जब किसी को रोकने का खतरा नहीं रहा, तब एक दिन पौषध में बैठे 'सुदर्शन' सेठ को सिर पर उठा लायी। रानी ने भोग-प्रार्थना की। किंतु सेठ ध्यान में बैठ गया। 'अभया' कुपित हो उठी। 'त्रिया-चरित्र बिखेरकर राजा को बुलाया और स्वयं बिसूर-बिसूरकर रोने लगी।

राजा ने आश्वासन देकर कारण जानना चाहा, तब वह बोली—'आपने जिस दुष्ट को नगरसेठ बना रखा है, वह धूर्त मौका देखकर मेरे महलों में चला आया और मेरे साथ बलात्कार करने का प्रयास करने लगा। मैंने उसे फटकारा और आपसे शिकायत करके दण्ड दिलवाने की धमकी दी, तब वह धूर्त शिरोमणि अपना पल्ला छुड़ाकर भागने लगा। मैंने पकड़ा तब ढोंगी इस प्रकार बैठ गया। हाय-हाय ! मेरा जीवन भी कोई जीवन है, जो यों पर-पुरुष आकर मेरे शरीर को छूकर भ्रष्ट कर जाते हैं। अब तो मुझे अपने प्राणों का परित्याग करना पड़ेगा। इसके सिवा मेरे लिए कौन-सा रास्ता शेष है? परन्तु प्राणनाथ ! आपके शासन में कितना अंधेर है ! जब राजमहल में भी सतियों का सतीत्व सुरक्षित नहीं रह सकता, तब दूसरी बेचारी स्त्रियों की तो बात ही क्या? उनके रक्षक तो भगवान् ही हैं।'

रानी की बातों से राजा को भी बहुत क्रोध चढ़ा। तत्क्षण सेठ को पकड़वाकर रानी के सामने ही कटु शब्दों में फटकारकर जल्लाद को आदेश दिया—'इस दुष्ट को शूली पर चढ़ा दो।'

नगरसेठ सुदर्शन को शूली का आदेश सुनकर नगर में हाहाकार मच गया। सेठ के पारिवारिक जन भी विलाप करने लगे। फिर भी सेठ समता में लीन था। किसी भी प्रकार का मन में भय नहीं था। धर्मध्यान में लीन बने सेठ को हजारों दर्शकों के सामने शूली पर चढ़ा दिया गया। सेठ 'परमेष्ठी मन्त्र' के ध्यान में लीन था। सत्य और शील के प्रभाव से सहसा शूली की जगह पर सिंहासन बन गया। सेठ सिंहासन पर प्रसन्न मुद्रा में बैठा सबको दिखाई देने लगा।

शूली को सिंहासन के रूप में परिवर्तित सुनकर राजा दिग्मूढ़ बन गया। भयाकुल बना तत्क्षण वहाँ पहुँचा। सेठ को प्रणाम किया। अपने कृत अपराध की माफी चाही। सारी बात सच-सच कहने के लिए सेठ से कहा। सेठ ने 'अभया' के लिए अभयदान का वचन लेकर सारी बात सही-सही राजा को बताई। 'अपना पाप प्रकट होते ही अभया भयभीत हो गई। दण्ड के भय से वह स्वयं ही महलों से नीचे कूद पड़ी और गिरकर मर गई और मरकर व्यन्तरी हुई। पंडिता दासी वहाँ से भागकर पाटलिपुत्र नगर में देवदत्ता वेश्या के यहाँ रहने लगी।

सेठ का सुयश चारों ओर फैला। कुछ समय पश्चात् सेठ सुदर्शन मुनि

सुदर्शन बन गये। विहार करते-करते पाटलिपुत्र नगर में पहुँचे। वहाँ उस पंडिता ने पूर्व की घटना को याद करके शत्रुता मानते हुए मुनि को घोर उपसर्ग दिये। उधर उस व्यन्तरी ने भी मुनि को कष्ट दिये। परन्तु सुदर्शन मुनि ने सभी कष्टों को समता से सहते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष में विराजमान हुए।

—आवश्यक कथा

२०३. सुधर्मा स्वामी (गणधर)

'सुधर्मा' स्वामी 'भगवान् महावीर' के पाँचवें गणधर थे। इनका जन्म 'कोल्लाक' सन्निवेश में 'वेश्यायन' गोत्र में हुआ था। इनके पिता का नाम 'धनमित्र' और माता का नाम 'भद्दिला' था। इनका जन्म उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में हुआ था। ये प्रतिभासम्पन्न, व्युत्पन्नमति तथा अनेक शास्त्रों में पारंगत और अनेक विद्याओं के अधिकारी विद्वान थे। फिर भी मन में सन्देह था—'प्राणी जैसा इस भव में होता है, वैसा ही परभव में होता है या उसका स्वरूप भिन्न होता है?' इनका यह संशय भगवान् महावीर ने मिटाया। संशय मिटने के बाद इन्होंने अपनी इक्यावन वर्ष की आयु में भगवान् महावीर के पास संयम लिया। बयालीस वर्ष छद्मस्थ रहे। तीस वर्ष तक भगवान् महावीर की सेवा में रहे और भगवान् के निर्वाण के बाद बारह वर्ष तक उनके पटधर के रूप में छद्मस्थ रहे या यों कहा जा सकता है कि गौतम स्वामी की सेवा में रहे। बानबे वर्ष की आयु में सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान हुआ। आठ वर्ष केवली पद पर रहकर एक सौ वर्ष की आयु में वैभारगिरि पर एक मास का अनशन करके निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् महावीर के निर्वाण से बीस वर्ष बाद ये मुक्त हुए।

वैसे भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों में गौतम और सुधर्मा के अतिरिक्त शेष सभी गणधरों ने भगवान् की विद्यमानता में ही निर्वाण प्राप्त कर लिया। गौतम स्वामी को भगवान् महावीर की निर्वाण-रात्रि में केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी थी, अतः भगवान् की पट्ट परम्परा सुधर्मा स्वामी को प्राप्त हुई। संघ परम्परा सुधर्मा गच्छ कहलाई। जैसे गौतम स्वामी ने प्रभु से अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिए अनेक प्रश्न करके भगवान् का ज्ञान सुरक्षित रखा, वैसे ही सुधर्मा स्वामी से जम्बूस्वामी ने प्रश्न पूछकर ज्ञान-परम्परा को अविच्छिन्न रखा।

इस प्रकार जितना भी ज्ञान आज अंग शास्त्रों में मिलता है, वह सब सुधर्मा स्वामी प्रणीत है। अतः सुधर्मा स्वामी का हम पर बहुत उपकार है।

—आवश्यक चूर्णि

२०४. सुपार्श्वनाथ भगवान्

सारिणी

जन्मस्थान	वाराणसी	दीक्षातिथि	जेठ सुदी १३
पिता	प्रतिष्ठ	केवलज्ञान	फाल्गुन बदी ६
माता	पृथ्वी	चारित्र पर्याय	२० पूर्वांग कम
जन्मतिथि	जेठ सुदी १२		१ लाख पूर्व
कुमार अवस्था	५ लाख पूर्व	निर्वाण	फाल्गुन बदी ७
राज्यकाल	१४ लाख पूर्व	कुल आयु	२० लाख पूर्व
	२० पूर्वांग	चिह्न	स्वस्तिक

'सुपार्श्वनाथ' 'वाराणसी' नगरी के महाराज 'प्रतिष्ठ' की महारानी 'पृथ्वी' के पुत्र थे। छठे ग्रैवेयक से च्यवन करके यहाँ ज्येष्ठ सुदी १२ को प्रभु का जन्म हुआ। इन्द्रों द्वारा जन्मोत्सव के उपरान्त पिता ने जन्मोत्सव करके पुत्र का नाम 'सुपार्श्वनाथ' रखा।

युवावस्था में अनेक राजकन्याओं के साथ कुमार का पाणिग्रहण हुआ। कुछ समय राज्यासन पर रहे। वर्षीदान देकर एक हजार राजाओं के साथ ज्येष्ठ सुदी १३ के दिन प्रभु ने संयम स्वीकार किया। नौ महीने छद्मस्थ रहकर प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया। प्रभु के ९५ गणधर थे। सबसे बड़े गणधर का नाम था 'विदर्भ'। अन्त में सम्मेदशिखर पर्वत पर एक मास के अनशनपूर्वक ५०० मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया। उस दिन फाल्गुन बदी ७ थी।

ये इस चौबीसी के सातवें तीर्थंकर हैं।

धर्म-परिवार

गणधर	९५	वादलब्धिधारी	८४००
केवली साधु	११,०००	वैक्रियलब्धिधारी	१५,३००
केवली साध्वी	२२,०००	साधु	३,००,०००

मन:पर्यवज्ञानी	६१५०	साध्वी	४,३०,०००
अवधिज्ञानी	६०००	श्रावक	२,५७,०००
पूर्वधर	२०३०	श्राविका	४,६३,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ४

२०५. सुबाहुकुमार

भगवान् 'महावीर' अपने धर्म-परिवार सहित एक बार 'हस्तिशीर्ष' नगर में पधारे। वहाँ का युवराज 'सुबाहु' कुमार प्रभु के दर्शनार्थ आया। 'सुबाहु' कुमार के पिता महाराज 'अदीनशत्रु' तथा माता 'धारिणी' भी साथ थी। सब प्रभु का उपदेश सुन रहे थे।

भगवान् के पास बैठे हुए 'इन्द्रभूति' ने सविनय प्रभु से पूछा—'प्रभुवर ! यह 'सुबाहु' कुमार हम जैसे निस्पृह सन्तों को भी मोहक, प्रिय तथा सुहावना लगता है। ऐसे इसने पूर्वजन्म में कौन से सत्कर्म किये थे?'

प्रभु ने कहा—'गौतम' ! सुबाहु कुमार यहाँ जो पुष्पचूला आदि पाँच सौ रानियों के साथ सुखोपभोग कर रहा है, तुम्हें जो यों प्रिय लग रहा है, उसका कारण मात्र एक ही है—उसने पूर्वजन्म में पात्रदान बहुत ही चढ़ते हुए भावों से दिया था। इसका पूर्वभव सुनो—

'हस्तिनापुर' में सुबाहु कुमार का जीव 'सुमुख' गाथापति था। 'सुमुख' गाथापति के घर पर एक बार 'धर्मघोष' स्थविर के शिष्य 'सुदत्त मुनि' भिक्षा के लिए पहुँचे। 'सुमुख' ने अपने घर में मुनि को देखकर बहुत प्रसन्नता अनुभव की। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। अपने भाग्य की सराहना करते हुए मुनिवर का साध्वोचित सत्कार किया। विपुल रूप में चारों ही प्रकार का आहार मुनिराज को दिया। पात्रदान के सुयोग से 'सुमुख' के घर में साढ़े बारह कोटि सोनैयों की वर्षा हुई। पाँच दिव्य प्रकट हुए। पात्रदान की महिमा चारों ओर फैली। 'सुमुख' को दान का अप्रतिम लाभ यह मिला कि उसने संसार को परिमित कर लिया। वहाँ से काल करके यह 'सुबाहु कुमार' हुआ है।

इन्द्रभूति आदि सारी परिषद् ने 'सुबाहु कुमार' का पूर्वभव सुना। पूर्वभव की कथा से 'सुबाहु कुमार' को भी विरक्ति जागी। सारा परिवार, विपुल वैभव, अतुल ऐश्वर्य—सब कुछ ठुकराकर प्रभु से संयम स्वीकार किया। उत्कट संयम

और तप की आराधना करके वह प्रथम स्वर्ग में गया। वहाँ से देव और मनुष्य के कुछ भव करके 'महाविदेह' में उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

—सुखविपाक सूत्र, १

२०६. सुभद्रा

'वसन्तपुर' नगर के महाराज 'जितशत्रु' के मन्त्री का नाम 'जिनदास' था। 'जिनदास' की पत्नी का नाम था 'तत्त्वमालिनी'। 'जिनदास' पक्का जिन-दास था तो 'तत्त्वमालिनी' सही अर्थ में तत्त्व-मालिनी ही थी। उनके एक पुत्री हुई जिसका नाम 'सुभद्रा' रखा गया। 'सुभद्रा' में बचपन से ही अच्छे धार्मिक संस्कार विकसित हुए। उसका व्यवहार जहाँ मधुर और जीवन सीधा-सादा था, वहाँ आचार और विचार में भी पूर्ण पापभीरुता झलका करती थी।

युवती होने पर 'सुभद्रा' के लिए योग्य वर की खोज होने लगी। अन्यान्य योग्यताओं के साथ पति का जैनधर्मी होना अत्यावश्यक था। विधर्मी को अपनी पुत्री देने के लिए 'जिनदास' किसी भी मूल्य पर तैयार नहीं था। उसकी मान्यता थी कि उस सोने की चमक-दमक में क्या धरा है, जिससे कान टूटता हो।

'चम्पानगर' में रहने वाले 'बुद्धदास' नाम के एक व्यक्ति ने 'सुभद्रा' के रूप की महिमा सुनी तो उसे पाने के लिए ललचा उठा। उसने इस बारे में छानबीन की कि श्रेष्ठी जिनदास अपनी पुत्री के लिए कैसा वर चाहते है तो उसे मालूम हुआ कि वर का जिनधर्मानुयायी होना अत्यावश्यक है। अतः सुभद्रा को पाने के लिए बुद्धदास कपटी श्रावक बन गया। 'जिनदास' ने बहुत ही पैनी दृष्टि से छानबीन की, परन्तु 'बुद्धदास' का नकलीपन नहीं समझ सका। उसे सच्चा जैनधर्मावलम्बी और धर्मनिष्ठ समझकर उसके साथ 'सुभद्रा' का विवाह कर दिया।

ससुराल आते ही पति बुद्धदास तथा सास और ननद का व्यवहार देखकर 'सुभद्रा' समझ गई कि मेरे साथ धोखा हो गया। पर अब क्या हो सकता था? पति-पत्नी के मध्य भेद की दीवार विधर्मिता के कारण सुहागरात की मिलन-बेला में ही खिंच गई। उनके बीच भेद की खाईं हो गयी। वह खाईं सास और ननद के व्यवहार से और भी चौड़ी होती गयी। सास और ननद मन ही मन कुढ़ने लगीं। 'सुभद्रा' को कैसे नीचा दिखाया जाये, यही षड्यन्त्र रचा जाने

लगा। सास-बहू, ननद-भाभी के सम्बन्ध वैसे कितने मधुर होते हैं, यह भी एक प्रश्नचिह्न ही रहता है। वह धार्मिक भिन्नता के कारण यहाँ उत्तरोत्तर कटु से कटुतर होता गया। सुभद्रा अपने आपको संवारती हुई अपनी साधना करती रहती और वे दोनों इसके छलछिद्र तकती रहतीं।

एक दिन 'सुभद्रा' के यहाँ भिक्षा लेने के लिए एक मुनि आए। सती ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार-पानी दिया। जब ऊपर की ओर देखा तो लगा मुनि की आँख में एक तृण पड़ा है। आँख पूरी खुल भी नहीं रही थी। पानी बह रहा था। जिनकल्पी मुनि किसी भी स्थिति में अपने शरीर की सार-सम्भाल नहीं करते। अत: वह आँख में पड़ा तृण निकालें भी कैसे? 'सुभद्रा' को मुनिदेव का कष्ट देखते ही करुणा आ गयी। तत्क्षण ही उसने अपनी जीभ से मुनि की आँख में पड़ा हुआ तृण निकाल दिया। संयोगवश, ऐसा करने से 'सुभद्रा' के ललाट पर लगी हुई बिन्दी मुनि के भाल पर लग गई।

'सुभद्रा' की ननद से यह सब देख लिया। फिर क्या था? सुभद्रा को बदनाम करने का उसे पूरा मसाला मिल गया। भाभी को बुरा-भला कहा। इतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं हुई। इस बात को उसने सारे नगर में फैला दिया कि 'सुभद्रा' ने आज मुनि से ऐसे अकृत्य किया। इसका प्रमाण है कि मुनि के ललाट पर लगी हुई सुभद्रा के ललाट वाली बिन्दी।

यह कलंक अकेली सुभद्रा पर ही नहीं, वरन् जैनधर्म और जिनकल्पी महामुनि पर भी था। धर्म पर कलंक लगने से 'सुभद्रा' को असह्य दु:ख होना ही था, परन्तु उसकी सुनने वाला कौन था? कुछ क्षण वह अवश्य चिन्तित रही, आंसू भी बहाये। पर अन्त में उसने अपने आंसूओं को पोंछकर आत्मबल जगाया। यह संकल्प करके ध्यान में बैठ गई कि जब तक मेरा कलंक नहीं उतरेगा, तब तक मैं अन्न जल-ग्रहण नहीं करूंगी। दु:शीला बनकर जीना भी क्या जीना है।

'सुभद्रा' के तीन दिन निकल गये। चौथे दिन सब लोग सोकर उठे तो देखा कि नगर के चारों दरवाजे बन्द थे। द्वार-रक्षकों ने खोलने के बहुत प्रयत्न किये परन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। द्वार नहीं खुले। राजा को समाचार मिला। राजा ने मदोन्मत्त हाथियों के द्वारा द्वार तुड़वाने का आदेश भी दे दिया। परन्तु वे सारे के सारे प्रयत्न बेकार गये। हुआ कुछ भी नहीं। मदोन्मत्त हाथी भी द्वार न तोड़ सके। आवागमन बन्द होने से सारे लोग शोकाकुल हो उठे।

राजा सहित सभी नगरवासियों की स्थिति बन्दी जैसी हो गई। वे अपने नगर में ही बन्दी हो गये। नगर से बाहर नहीं निकल सकते थे। सब प्रयत्न विफल देखकर लोग सोचने लगे—लगता है अब सबको अन्दर ही दम छुटकर मरना पड़ेगा।

उसी समय आकाशवाणी हुई—कोई सती कच्चे धागे से चलनी बाँधकर यदि कुएं से पानी निकाले और उस जल से दरवाजे पर छींटें लगाये तो द्वारा खुल सकते हैं।

राजा ने सारे नगर में घोषणा करवा दी कि कोई भी सती आगे आकर नागरिकों का यह संकट मिटाये। जो महासती यह कार्य करके दिखायेगी, राजा उसे राजकीय सम्मान देगा।

जिसने भी यह घोषणा सुनी वही अपने आपको सती प्रमाणित करने को ललचा उठी। पूर्व दिशा के द्वार के समीपवर्ती कुएं पर स्त्रियों का जमघट लग गया। कुएं में छलनियों का ढेर लगा गया पर कुएं से जल निकालने में सफल कोई नहीं हो सकी।

जब चारों ओर निराशा छा गई तब सुभद्रा ने सास से अनुमति मांगी। सास को क्रुद्ध होना ही था। जो कुछ कहा उसे सती ने आशीर्वाद ही माना। कुएं के पास आकर छलनी को कच्चे धागे से बांधकर कुएं से जल निकालकर सबको चकित कर दिया। चारों ओर विस्मय, कौतूहल और हर्ष छा गया। सबके देखते-ही-देखते तीन दरवाजों को पानी के छींटे मारकर खोल दिया। चौथा द्वार यह कहकर छोड़ दिया—कोई पीहर ससुराल गई हुई सती हो तथा वह आकर खोलना चाहे तो खोल देगी, उसकी भी परीक्षा हो जायेगी।

द्वार खुलते ही नागरिकों में अपूर्व उल्लास छा गया। सबने सती का बहुत-बहुत आभार माना। सती का असली रूप पहचाना। राजा ने भी बहुत सम्मान देकर अपने कर्त्तव्य का पालन किया।

इस घटना का जब 'बुद्धदास', उसके माता-पिता तथा बहन को पता चला तो उन्हें बहुत दु:ख हुआ। मन-ही-मन बहुत लज्जित हुए तथा सोचा कि अब हम लोगों को मुंह कैसे दिखायेंगे? जिसको हमने तीन दिन पहले यों कलंकित किया था, उसका सतीत्व सबके सामने इस प्रकार निखर आया। अब अपने अपराध की माफी मांगने के सिवा और रास्ता ही क्या था? हाँ, इतना अवश्य

हुआ कि 'सुभद्रा' के जीवन-व्यवहार से पारिवारिक जनों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। वे सब भी जैनधर्मावलम्बी बन गये।

'सुभद्रा' विरक्त होकर साध्वी बनी। सकल कर्म क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया।

—दशवैकालिकनिर्युक्ति, अ. १, गाथा ७३

२०७. सुभूम चक्रवर्ती

'हस्तिनापुर' के महाराज का नाम था 'अनन्तवीर्य'। नेमिककोष्टक नगर के महाराज 'जितशत्रु' की पुत्री 'रेणुका' की बड़ी बहन उनकी धर्मपत्नी थी।

एक बार वसन्तपुर नगर का निवासी 'अग्निक' नाम का बालक घूमता हुआ किसी तापस के आश्रम में पहुँचा। वहाँ के कुलपति 'जम' ने उसे अपने पुत्र रूप में स्वीकार करके अपने पास रख लिया। उसका नाम रखा 'जमदग्नि'। 'जमदग्नि' वहाँ तपस्या में लग गया।

उस समय स्वर्ग में 'वैश्वानर' और 'धन्वन्तरि' नाम के दो देव थे। पहला सम्यक्दृष्टि था, दूसरा मिथ्यादृष्टि। दोनों ने एकदा अपने-अपने धर्म और विचारों की पुष्टि की। बात ने विवाद का रूप ले लिया। 'वैश्वानर' ने यहाँ तक कह दिया—एक शैव चाहे कितनी ही लम्बी साधना कर ले, परन्तु वह एक साधना स्वीकृत करने को उद्यत जैन की तुलना नहीं कर सकता।

दोनों परीक्षा करने के लिए तैयार हो गये। दोनों ही मध्यलोक में आये। एक जैन साधक के पास गये, जिसका नाम था 'पद्मरथ'। वह 'मिथिला' का शास्ता था। विरक्त होकर 'वासुपूज्य' मुनि के पास दीक्षित होने जा रहा था। दोनों ने ही उसे लक्ष्य से विचलित करने के लिए अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल प्रयत्न किये, परन्तु उसे विचलित नहीं कर सके। दोनों ही देव अपनी हार मानकर वहाँ से आगे चल दिये। 'वैश्वानर' ने धन्वन्तरि से कहा—"मेरा साधक तो परीक्षा में पूर्णतः सफल हो गया। अब तुम अपना साधक प्रस्तुत करो।"

धन्वन्तरि 'वैश्वानर' को लेकर घोर तपश्चरण करने वाले 'जमदग्नि' ऋषि के पास आया। 'धन्वन्तरि' को विश्वास था—'जिसके चेहरे पर साधना का तेज टपक रहा है, वह निश्चित ही पहुँचा हुआ साधक है। मेरी बात अक्षरशः प्रमाणित होगी।' ऐसा सोचकर दोनों देव चकवा-चकवी बनकर 'जमदग्नि'

ऋषि की लम्बी दाढ़ी पर बैठ गये। 'जमदग्नि' शान्त भाव से लेटे रहे। बात का प्रारम्भ करते हुए चकवे ने चकी से कहा—'प्रिये ! मैं हिमालय की सैर करने जाता हूं। तू इस महान् तपस्वी के आश्रम में रहना। मैं जल्दी ही लौट आऊँगा।'

चकवी बोली—तुम रूपलोलुप और रसलोलुप हो। जल्दी लौट आने का कहते तो हो, परन्तु तुम्हारा क्या विश्वास ! वहीं कहीं रम गए और मेरे पास नहीं आये तो?

चकवा—सुभगे ! घबरा मत ! मैं अपने वचन का पालन करूंगा। यदि जल्दी लौटकर नहीं आऊँ तो गो-हत्या तथा विश्वासघात जितना पाप मुझे लगे, यह मैं शपथपर्वूक कहता हूं।

चकवी—ऐसी शपथों में क्या धरा है? ऐसी शपथें खाने वाले कई मिलते हैं। मैं नहीं मानती। मैं तो तब मानूं जब तुम शपथपूर्वक यह कहो कि यदि मैं समय पर नहीं आऊँ तो मुझे इस तापस जितना पाप लगे।

चकवी की बात सुनकर जमदग्नि आगबबूला हो गये। दोनों पक्षियों को हाथ में पकड़कर पूछा—मैं बहुत लम्बे समय से दुष्कर तप कर रहा हूं। फिर ऐसा मैंने कौन-सा पाप किया है जो तुम उसे गोहत्या और विश्वासघात से भी अधिक बतलाते हो?

दोनों ही पक्षियों ने कहा—पापमूर्ति मुनिवर ! इससे अधिक क्या पाप होगा? आप बिना सन्तान पैदा किये ही तपस्वी बन गये। आप भूल बैठे उस श्रुतिवाक्य को, जिसमें कहा गया है—

'**अपुत्रस्य गतिर्नास्ति**—पुत्रहीन व्यक्ति की गति नहीं होती।'

जमदग्नि को बात जंच गई। मन विचलित हो उठा। शादी करने के लिए उतावले हो गये। मुनि की मनोभावना देखकर धन्वन्तरि देव बहुत लज्जित हुआ। उसने जैन मुनि की दृढ़ता देखकर साथी देव से क्षमायाचना की और जैन धर्म एवं जैन साधुओं के प्रति श्रद्धा प्रकट की।

'जमदग्नि' आश्रम से निकलकर 'जितशत्रु' के पास गये। शादी के लिये एक कन्या की भिक्षा मांगी। राजा को यह मांग कुछ अटपटी-सी तो अवश्य लगी, पर मुनि कहीं शाप न दे दें इसलिए कहा—'जो कन्या आपको चाहेगी, उसी कन्या को मैं आपको दे दूंगा।'

ऋषि के इस दुबले-पतले, मटमैले शरीर को देखकर किस राजकन्या को

तैयार होना था? सभी ने उसके साथ विवाह करने से इन्कार कर दिया और उसकी विवाहेच्छा के लिए उसे धिक्कारा। जमदग्नि राजकन्याओं के इस व्यवहार से और भी कुपित हो उठा। क्रुद्ध होकर ६६ कन्याओं को अपने तपोबल से कुब्जा बना दिया।

कुछ कन्याएं इधर-उधर खेल रही थीं। उन सब में एक छोटी कन्या थी, जिसका नाम था 'रेणुका'। ऋषि ने उसे केलों का प्रलोभन देकर फुसला लिया। अपने साथ चलने के लिए हाँ भरवा ली। जितशत्रु वचनबद्ध था। उसने 'रेणुका' मुनि को भेंट कर दी। राजा की प्रार्थना से ऋषि ने कन्याओं का कुबड़ापन ठीक कर दिया और रेणुका को लेकर अपने आश्रम को चला गया।

'रेणुका' धीरे-धीरे युवा हुई और तापस वृद्ध हो गया। फिर भी दोनों का दाम्पत्य सम्बन्ध था।

एक बार ऋषि ने 'रेणुका' से कहा—'मैं एक 'चरु' की साधना करना चाहता हूं, जिससे तेरे एक ब्राह्मणोत्तम पुत्र हो जाएगा।'

रेणुका ने कहा—'आप दो चरुओं की साधना करें। ब्राह्म-चरु मेरे लिए तथा एक क्षात्र-चरु महाराज 'अनन्तवीर्य' की पत्नी, मेरी बहन के लिए।'

'रेणुका' के कहने पर ऋषि ने वैसी ही साधना करके दो चरुओं की साधना की।

'रेणुका' ने जब अपने भविष्य के बारे में सोचा तब मन में आया—ऋषि की तपस्या से मेरे पुत्र तो तेजस्वी होगा, परन्तु होगा तो ब्राह्मणधर्मा ही। व्यर्थ ही जंगल की खाक छानता हुआ भटकता फिरेगा। ऐसे पुत्र से क्या लाभ? इसलिए अच्छा हो कि मेरे क्षात्रधर्मा पुत्र हो। मैं राजमाता बन जाऊँगी। यही सोचकर उसने उन चरुओं को बदल दिया। क्षात्रधर्मा चरु अपने पास रख लिया और ब्राह्मणधर्मा चरु बहन के पास भेज दिया।

रेणुका के पुत्र हुआ जिसका नाम 'राम' रखा गया किन्तु यह परशुराम के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बहन के पुत्र हुआ, उसका नाम 'कृतवीर्य' रखा गया। 'राम' आश्रम में और 'कृतवीर्य' राजमहल में बड़ा होने लगा।

एक बार एक विद्याधर भ्रष्ट होकर वन में गिर पड़ा। 'राम' ने उसकी परिचर्या की। उसने संतुष्ट होकर उसे पारशवी (परशु सम्बन्धी) विद्या दी। इससे राम 'परशुराम' के नाम से विख्यात हुआ।

एक बार 'रेणुका' बहन से मिलने 'हस्तिनापुर' गई। वहाँ उसका उसके

बहनोई 'अनन्तवीर्य' से अनुचित सम्बन्ध हो गया। वहाँ उसके पुत्र भी हुआ। उसे 'जमदग्नि' अपने आश्रम में ले आये, परन्तु परशुराम से वह सहन नहीं हो सका। उसने क्रुद्ध होकर पुत्र सहित मां का वध कर दिया।

'अनन्तवीर्य' को यह घटना सुनकर बहुत क्रोध आया। उसने सारा आश्रम ही तुड़वा डाला। परशुराम कब चुप रहने वाला था ! उसने अनन्तवीर्य को ही मार डाला।

अब 'कृतवीर्य' राजा हुआ। उसने 'जमदग्नि' को मार डाला। इस घटना से 'परशुराम' समूची क्षत्रिय जाति पर ही कुपित हो उठा। उसने जितने भी क्षत्रिय मिले, सबको मौत के घाट उतार दिया। 'कृतवीर्य' को भी मारकर हस्तिनापुर के सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया।

'कृतवीर्य' की पत्नी 'तारा' उस समय गर्भवती थी। पति की मृत्यु का संवाद सुनकर वह वन में चली गई। एक दयालु तापस ने आश्रम में उसे छिपा दिया। वह भूमिघर में रहने लगी। 'तारा' के पुत्र हुआ। भूमि पर हुआ, भूमिघर में हुआ, मिट्टी अधिक खाता था इसलिए उसका नाम 'सुभूम' पड़ गया। 'सुभूम' होनहार और बलशाली लगता था।

'हस्तिनापुर' पर 'परशुराम' का अधिकार था। वह क्षत्रिय को फूटी आँखों भी नहीं देखना चाहता था। सात बार सारी पृथ्वी को उसने निःक्षत्रिय बना दिया। क्षत्रियों को खोजता हुआ एक बार 'परशुराम' उस आश्रम में भी पहुंचा, जहाँ 'सुभूम' छिपा हुआ पल रहा था। उसके 'परशु' की यह विशेषता थी कि क्षत्रिय का आभास होते ही 'परशु' चमकने लग जाता था। परशुराम को यहाँ कुछ सन्देह हुआ। कुलपति से पूछा भी, परन्तु कुलपति ने बात को टालते हुए कहा—"तापस क्षत्रिय ही तो होते हैं, अन्यथा तुम्हारे में वह क्षत्रियोचित तेज कहाँ से आता?" 'परशुराम' इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर चला गया।

क्षत्रियों के जितने भी प्रमुख राजाओं को 'परशुराम' ने मारा, उन सबकी दाढ़ाएं उसने एक थाल में सजा रखी थीं। प्रसंगवश उसने जब अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में एक नैमित्तिक से पूछा तब उसने बताया—जिसके देखते ही यह दाढ़ाओं वाला थाल खीर से भर जायेगा, जो उसे खायेगा, उसी के हाथों से तुम्हारी मृत्यु होगी। 'परशुराम' ने पता लगवाने के लिए दानशाला खुलवा दी। उसके द्वार पर वह थाल रखवा दिया। पास में एक सिंहासन भी रखवा दिया।

'सुभूम' बड़ा हुआ। निमित्त-विशेषज्ञों से चक्रवर्ती होने का संवाद सुनकर

विद्याधर 'मेघनाद' ने अपनी पुत्री 'पद्मश्री' का विवाह 'सुभूम' के साथ कर दिया। मां के मुँह से पिता की मृत्यु का संकेत पाकर 'सुभूम' क्रुद्ध हुआ। 'परशुराम' से बदला लेना चाहा और उसी दानशाला में पहुंचा। उसके देखते ही वह थाल खीर से भर गया। उसने वह सारी खीर वहीं पड़े सिंहासन पर बैठकर खा ली। रक्षकगण बड़बड़ाने लगे, तब 'मेघनाद' जो साथ ही था, गुस्से में आ गया। उसने ब्राह्मणों का सफाया करना शुरू कर दिया। पता लगते ही 'परशुराम' क्रोध में तमतमाता हुआ आया। उसने अपना 'परशु' 'सुभूम' पर फेंका, परन्तु हुआ कुछ भी नहीं। 'परशुराम' के जीवन का यह पहला प्रसंग था, जब उसके द्वारा किया गया वार ऐसे खाली चला गया। 'सुभूम' के पास और तो कुछ था नहीं। उसने उसी थाल को 'परशुराम' पर फेंका। थाल ने चक्र का काम किया। 'परशुराम' धराशायी हो गया। अपने ही थाल से इस प्रकार 'परशुराम' का अन्त हो गया।

केवल 'परशुराम' को मारकर ही 'सुभूम' सन्तुष्ट नहीं हुआ। 'परशुराम' ने पृथ्वी को सात बार क्षत्रियविहीन बनाया था। 'सुभूम' ने वही प्रतिशोध करने के लिए इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मणविहीन किया। फिर भी किसी जाति का सर्वथा विलोप कब संभव हो सकता है? परन्तु अहं की अकड़न व्यक्ति से विफल चेष्टा तो करवा ही लेती है।

इसके बाद राज्यविस्तार की लालसा जगी। छह खण्डों पर आधिपत्य स्थापित किया। पूर्ण चक्रवर्ती हो जाने पर 'सुभूम' की लालसा और भी अधिक भभकी। धातकीखण्ड के छह खण्डों पर विजय पाने निकला। मंत्रियों ने बहुत समझाया पर वह मानने वाला कहाँ था ! चर्मरत्न पर बैठकर लवण समुद्र को पार कर रहा था। चर्मरत्न के हजार अधिष्ठायक देव उसके अधीन थे। ज्यों ही लवण समुद्र के मध्य में पहुंचे, एक देव के मन में विश्राम करने की आयी। सोचा, मैं एक विश्राम कर लेता हूं, शेष ६६६ तो है हीं। संयोग की बात, सभी की भावना एक साथ ही बदल गई। सेना सहित 'सुभूम' लवण समुद्र में डूबने लगा, परन्तु फिर भी चर्मरत्न का वह यान कुछ-कुछ तैर रहा था। अहं की अकड़ में चक्रवर्ती ने देवों से कहा—तुम सबने छोड़ दिया, फिर भी क्या हुआ? मेरे भाग्य से यह तो तैर रहा है।

देवों ने यह उस रत्न पर लिखे हुए नवकार मंत्र का प्रभाव बताया।

सुभूम ने कहा—इसमें क्या धरा है? तलवार से मंत्र को मिटा दिया। फिर

तो डूबना था ही। मरकर सातवीं नरक में गया। अहं की अकड़ और लालसा की पकड़ व्यक्ति को कहाँ से कहाँ पहुँचा देती है।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अ. १८

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष, ६/४

२०९. सुमतिनाथ भगवान्

सारिणी

जन्मस्थान	अयोध्या	दीक्षा तिथि	वैशाख शुक्ला ६
पिता	मेघ	चारित्र पर्याय	१२ पूर्वांग कम
माता	मंगला		१ लाख पूर्व
जन्मतिथि	वैशाख शुक्ला ८	केवलज्ञान तिथि	चैत्र शुक्ला ११
कुमार अवस्था	१० लाख पूव	निर्वाण तिथि	चैत्र शुक्ला ६
राज्यकाल	२६ लाख पूर्व	कुल आयु	४० लाख पूर्व
	१२ पूर्वांग	चिह्न	क्रौंच

'अयोध्या' नगरी के महाराज 'मेघ' की महारानी का नाम 'मंगला' था। 'मंगला' के उदर में जयंत नामक तीसरे अनुत्तर विमान से च्यवन करके एक पुण्यात्मा आयी, जो चौदह स्वप्न से संसूचित होने के कारण तीर्थंकर होंगे, ऐसा स्वप्न-पाठकों ने निर्णय दिया। वैशाख सुदी अष्टमी को प्रभु का जन्म हुआ।

प्रभु जब गर्भ में थे, तब महारानी ने एक बहुत पेचीदा गुत्थी सुलझाई थी। बात यों बनी थी कि नगर में किसी धनाढ्य सेठ के दो पत्नियां थीं। छोटी पत्नी के एक पुत्र था। बड़ी का भी उस पर पूरा प्यार था। सेठ दिवंगत हो गया। बाद में दोनों में पुत्र को लेकर झगड़ा हो गया। दोनों ही उसे अपना-अपना बताने लगीं। परिवार के मुखियों द्वारा; पंचों द्वारा, यहाँ तक कि उस पुत्र के द्वारा भी यह पता नहीं लगाया जा सका कि इसकी असली माता कौन-सी है? महाराज 'मेघ' के पास यह मामला पहुँचा, तब महारानी ने अपनी सूझ-बूझ से यह निर्णय दिया था कि इस बालक के दो टुकड़े करके दोनों को आधा-आधा हिस्सा दे दो। यह निर्णय सुनकर असली मां को बहुत दुःख हुआ। उसने गिड़गिड़ाते हुए रानी से कहा—'मैं झुठी हूँ। इसकी असली माँ तो वही है।

उसे ही यह बालक दे दिया जाये।' बात साफ करते हुए रानी ने कहा—'इसकी असली माँ यही है। इसी के दर्द हुआ है। दूसरी ने तो यह मानकर खुशी मनाई, कि चलो, मेरे पास तो वैसे भी नहीं रहेगा। वह तो ऐसे ही मारा जायेगा तथा इस दुनिया से ही जायेगा।' बड़ी को कुछ ताड़ना दी गई। उसने सारी बात सच-सच कह दी। सच्चाई सबके सामने आ गई।

सुनने वालों ने महारानी की इस सुमति की सराहना की। महाराज ने सारा गर्भ का प्रभाव माना। इसलिए पुत्र का नाम 'सुमतिनाथ' रखा।

युवावस्था में अनेक राजकन्याओं के साथ उसका विवाह किया गया। महाराज 'मेघ' अपना राज्य उन्हें सौंपकर स्वयं संयमी बने। बहुत लम्बे समय तक उन्होंने राज्य भोगकर वर्षीदान दिया। एक हजार राजाओं के साथ प्रभु ने वैशाख सुदी ६ को दीक्षा ली। बीस वर्ष छद्मस्थ रहे। बाद में केवलज्ञान प्राप्त किया और तीर्थ की स्थापना की। प्रभु के 'चमर' आदि एक सौ गणधर थे।

अन्त में एक हजार साधुओं के साथ भगवान ने एक मास का अनशन सम्मेदशिखर पर्वत पर किया। चैत्र सुदी ६ को आपका निर्वाण हुआ। ये वर्तमान चौबीसी के पाँचवें तीर्थंकर हैं।

धर्म-परिवार

गणधर	१००	अवधिज्ञानी	११,०००
केवली साधु	१३,०००	पूर्वधर	२४००
केवल साध्वी	२६,०००	वादलब्धिधारी	१०,६५०
मन:पर्यवज्ञानी	१०,४५०	वैक्रियलब्धिधारी	१८,४००
साधु	३,२०,०००	श्रावक	२,८१,०००
साध्वी	५,३०,०००	श्राविका	५,१६,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, ३/३

२०६. सुरादेव

'वाराणसी' नगरी में रहने वाला गाथापति 'सुरादेव' अच्छी प्रतिष्ठा वाला, बुद्धिमान और सुखी जीवन जीने वाला था। वह अठारह कोटि धन का मालिक था। दस-दस हजार गायों के छः गोकुलों का स्वामी था। उसकी धर्मपत्नी का नाम था 'धन्या'। वैसे थी भी वह धन्या। सेठ के तीन पुत्र थे।

एक बार भगवान् 'महावीर' वाराणसी नगरी में पधारे। 'सुरादेव' दर्शनार्थ गया। उपदेश सुनकर पुलकित हो उठा। श्रावकधर्म स्वीकार किया।

श्रावकधर्म पालन करते रहने पर एक दिन उसके मन में विचार आया—घर का सारा कार्यभार बड़े पुत्र को सौंपकर मुझे अपना शेष जीवन धर्माराधना में बिताना चाहिए। सुनने वालों ने भी उसके निर्णय का स्वागत किया।

'सुरादेव' अपना चिन्तन साकार करने के लिए घरेलू झंझटों से बिल्कुल ही मुक्त हो गया। पौषधशाला में ही अपना अधिक समय लगाने लगा।

एक दिन वह पौषधशाला में ध्यान में लीन था। सभी ओर घुप अंधेरा छाया हुआ था। इतने में हाथ में तलवार लिये हुए भयंकर रूप बनाकर एक देव वहाँ आया। विकट अट्टहास करता हुआ तथा अपंने रौद्र रूप से 'सुरादेव' को भयभीत करता हुआ बोला—'ओ पुण्यहीन ! ध्यान को भंग कर उठ, अन्यथा तेरे तीनों पुत्रों को तेरे सामने मारकर, उनके शरीर के मांस के शूले पकाकर तेरे शरीर पर मलूंगा। तेरी सारी चमड़ी जल जायेगी। तुझे तड़प-तड़पकर मरना पड़ेगा।'

'सुरादेव' देव की चुनौती को सुनकर भी अविचल रहा। देव ने एक-एक करके तीनों पुत्रों को उसके सामने लाकर मार दिया परन्तु श्रावक सुरादेव का धैर्य नहीं टूटा।

देव ने चौथी बार चुनौती देते हुए कहा—अरे ओ अनिष्टकामी ! अब भी तू अड़ा हुआ है अपने हठ पर। ले, अब तुझे भयंकर रोगों की भट्टी में डालता हूं। तू उसमें पड़ा-पड़ा भयंकर वेदना भोगता हुआ हाय-हाय करता मरेगा।

इस बार सुरादेव के रोंगटे खड़े हो गए। धैर्य डोल उठा। सोचा—कहीं ऐसा अनर्थ न कर दे। यही सोचकर चिल्लाता हुआ उसे पकड़ने उठा। आंख खोलकर देखा तो कहाँ रौद्र रूप? वहाँ तो कुछ भी नहीं था।

उसकी चिल्लाहट सुनकर अन्दर से उसकी धर्मपत्नी आयी, और शोर करने का कारण पूछा। उसने सारी बात बताई। तब 'धन्या' ने कहा—नाथ ! हो न हो कोई देव आपको छलने आया था। यह सब उसी का प्रपंच था। आपके तीनों पुत्र सकुशल अन्दर सोये हुए हैं। आप चिन्ता न करें। परन्तु आपके पौषध में यह अतिचार लगा। इसका प्रायश्चित करके शुद्धि करें।

'सुरादेव' को बहुत अनुताप हुआ। सोचा—इतनी साधना करने पर भी मेरे मन में शरीर के प्रति अब भी गहरी आसक्ति है, ममत्व है। तभी तो मैं विचलित हो उठा। ऐसा विचार कर जीवन की अन्तिम घड़ियों में पूर्णत: विदेहभाव की साधना करने लगा। श्रावक प्रतिमाओं की आराधना की। समाधिपूर्वक एक मास का अनशन करके सौधर्म स्वर्ग में गया। वहाँ से महाविदेह में होकर निर्वाण को प्राप्त करेगा।

—उपासकदश, ४

२१०. सुलस

'राजगृह' निवासी 'सुलस' कालसौकरिक कसाई का पुत्र था। कालसौकरिक कसाई अपने ढंग का एक अनूठा कसाई था। वह प्रतिदिन पाँच सौ भैंसों का बध किया करता। इस महावध को वह किसी भी मूल्य पर छोड़ने को तैयार नहीं था। स्थिति यहाँ तक आ गई कि एक बार महाराज 'श्रेणिक' ने उसे एक दिन वध न करने के लिए कहा। बात स्पष्ट करते हुए महाराज ने यहाँ तक भी कह दिया कि यदि तू एक दिन भी भैंसों को नहीं मारेगा तो मैं नरक की यातना से बच जाऊँगा। फिर भी वह टस से मस नहीं हुआ। श्रेणिक ने अपना शासकीय रूप दिखाते हुए ऐसा न करने के लिए कहा। केवल कहा ही नहीं अपितु उसे कुएं में उतरवा दिया। 'श्रेणिक' मन-ही-मन पुलकित हो रहा था कि मैंने उसका भैंसे मारना बन्द करवा दिया है।

भगवान् महावीर ने बात का भेद खोलते हुए कहा—'वह तो वहाँ बैठा हुआ भी कर्दम और अपने मैल के भैंसे बना-बनाकर उन्हें मारकर भाव-हिंसा कर रहा है। श्रेणिक ने निराश होकर जब उसे बाहर निकाला और उससे ऐसा करने का कारण पूछा तब उसने साफ-साफ कहा—प्राण रहते मैं अपने कुल का धंधा कैसे छोड़ सकता हूं?'

संयोग की बात, ऐसे क्रूरकर्मी पिता के पुत्र पैदा हुआ 'सुलस' जैसा मृदु स्वभाव का। 'अभय' के सम्पर्क में आकर तो 'सुलस' और भी अधिक पापभीरु बन गया।

कालसौकरिक ने अपने अन्त समय में सुलस से अपने कुल-क्रम का सांगोपांग निर्वाह करने को कहा। स्वयं मरते समय विलाप करता हुआ मरा—

मुझे तो बहुत रौद्र रूप दीख रहे हैं, दारुण चीत्कारें सुनाई दे रही हैं, मानो नारकीय जीवन की लेश्या पहले ही आ गई हो।

पिता की मृत्यु के उपरान्त पारिवारिक जनों ने 'सुलस' से प्रमुख पद संभालने के लिए कहा। 'सुलस' तैयार हो गया। तब पारिवारिक जनों ने तलवार देकर भैंसे पर चलाने को कहा, क्योंकि भैंसे को मारकर प्रमुख पद पाने की परम्परा उसके परिवार में थी। तब सुलस ने साफ कहा—'मैं भैंसे पर तलवार नहीं चला सकता। यदि चलाना आवश्यक ही हो तो मैं अपने पैर पर चला सकता हूँ। ऐसा कहकर अपने पैर पर तलवार चलाने को हाथ उठाया। पारिवारिक जनों ने लपककर उसका हाथ पकड़ लिया।

'सुलस' ने अपना मन्तव्य सफ करते हुए कहा—जैसा मुझे दुःख होता है वैसा ही दुःख भैंसे को भी होता है। मनुष्य अपनी सुख-दुःख की अनुभूति बोलकर व्यक्त कर सकता हूँ, पर यह मूक प्राणी नहीं कर सकता। परन्तु जीने-मरने की आशा और भय सभी जीवों को समान होता है। पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए मैं तैयार हूँ, परन्तु मूक पशु पर तलवार का प्रहार करके नहीं। यह अनर्थ तो मेरे से सम्भव नहीं है।

सारे पारिवारिक जनों पर 'सुलस' की बात का प्रभाव पड़ा। उन्होंने भी बिना किसी हिंसा और हिचकिचाहट के 'सुलस' को गृहपति पद पर नियुक्त कर दिया।

—आवश्यक कथा

२११. सुलसा

'राजगृह नगर' के महाराज 'श्रेणिक' के एक प्रतिपात्र रथिक का नाम 'नाग' था और नाग की पत्नी का नाम 'सुलसा' था। 'सुलसा' पतिपरायणा और दृढ़धर्मिणी नारी थी। भगवान् महावीर की परम श्राविकाओं में उसका प्रमुख स्थान था। इतना सब कुछ होते हुए भी उसके कोई सन्तान नहीं थी। सन्तान की चिन्ता 'नाग' के मन में भी थी तथा 'सुलसा' के मन में भी। फिर भी अपने कृतकर्मों का परिपाक मानकर सुलसा धर्मध्यान में समय बिताती थी। 'नाग' को दूसरा विवाह करने का नियम था। 'सुलसा' सन्तान-प्राप्ति के लिए कोई भी धर्मविमुख उपक्रम या अनुष्ठान करने को तैयार नहीं थी। वह पूर्ण समताशील होकर जीवन बिता रही थी।

एक बार देवेन्द्र ने देवसभा में 'सुलसा' की समता की सराहना करते हुए कहा—'सुलसा' इतनी समता वाली है, चाहे उसकी कोई कितनी भी हानि कर दे, परन्तु उसे क्रोध नहीं आता।

उसकी परीक्षा लेने एक देव साधु का रूप बनाकर 'सुलसा' के घर आया। 'सुलसा' ने वन्दना कर। आहार-पानी लेने की प्रार्थना की। साधु ने कहा—'भोजन देने वाले तो और भी नगर में बहुत मिल जायेंगे। मुझे तो तेरे यहाँ से लक्षपाक तेल लेना है।' परम प्रसन्न बनी 'सुलसा' लक्षपाक तेल का घट उठाकर लायी। घड़ा ज्यों ही उठाया, देव ने अपनी माया से गिराकर फोड़ दिया। इसी प्रकार दूसरा-तीसरा घड़ा भी फोड़ दिया। फिर भी सुलसा न कुपित हुई और न ही कीमती वस्तु के विनष्ट होने पर व्यथित ही।

अफसोस व्यक्त करते हुए मुनि बोले—'मेरे योग से तेरा इतना नुकसान हुआ।'

'सुलसा' ने अपनी सहजता से कहा—'मुनिवर ! इसकी मुझे चिंता नहीं है। परन्तु आपको आवश्यकता की औषधि दे नहीं सकी, इसका खेद अवश्य है।'

देव ने उसकी तितिक्षा देखकर अपने असली रूप में प्रकट होकर सारी बात कही—'तू इन्द्र द्वारा प्रशंसित है। मैं परखने आया था, और तू मेरी परख में खरी सिद्ध हुई। मैं प्रसन्न हूँ, इच्छित वर माँग।'

'सुलसा' ने कहा—'सही धर्म मुझे मिला हुआ है और मुझे किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है।' फिर भी देव का देने का अत्याग्रह देखकर 'सुलसा' ने कहा—'आप यदि देना ही चाहते हैं तो एक पुत्र हो ऐसा उपाय बताईये।'

देव ने प्रसन्न होकर बत्तीस गोलियाँ दीं। एक-एक गोली से एक-एक पुत्र हो जाएगा, ऐसा कहा। देव उसकी प्रशंसा करता हुआ अन्तर्ध्यान हो गया।

'सुलसा' ने सोचा—मुझे बत्तीस पुत्रों की क्या आवश्यकता है? अच्छा होगा, बत्तीस गोलियाँ एक साथ ही खा लूँ, जिससे बत्तीस लक्षणों वाला एक ही पुत्र हो जाएगा। ऐसा विचारकर बत्तीस गोलियाँ एक साथ ही खा लीं।

संयोगवश बत्तीस जीव गर्भ में आये। जब गर्भ बढ़ने लगा तो 'सुलसा' के असह्य दर्द होना ही था। आखिर था तो पेट ही, गोदाम तो था नहीं। सुलसा ने देव को याद किया। देव ने सान्त्वना दी। ऐसा करने के लिए टोका भी। खैर,

यथासमय सभी पुत्रों का सकुशल प्रसव देव ने करा दिया। यह अवश्य कहा—'ये सभी पुत्र एक साथ ही मृत्यु को प्राप्त होंगे।'

बड़े होने पर इन सब का विवाह कर दिया। चेलना के हरण के समय सुरंग में इन सभी पुत्रों का एक साथ ही अवसान हो गया। पुत्रों की मृत्यु से सुलसा को शोक तो हुआ, पर वह समताशील थी। उसने पुत्रों की मृत्यु को भाग्य की लीला माना तथा उनकी मृत्यु के बाद अपनी धर्मश्रद्धा में और अधिक दृढ़ हो गयी।

एकदा 'चम्पानगरी' में भगवान् महावीर का उपदेश सुनने 'अबंड' संन्यासी गया। उपदेश सुनकर जाने लगा तब बोला—'मैं 'राजगृह' जा रहा हूँ। कभी मौका हो तो आप भी राजगृह पधारने की कृपा करना।'

भगवान् ने प्रसंगवश कहा—'वहाँ 'सुलसा' श्राविका है, वह श्रद्धा में बहुत दृढ़ है।'

'अबंड' वैक्रियलब्धिसम्पन्न संन्यासी था। मन में आया, भगवान् ने जिसकी सराहना की है, उसकी परीक्षा तो कर ही लेनी चाहिए। 'राजगृह' आकर अपने लब्धि के योग से लोगों को प्रभावित करने के लिए पूर्व दिशा के द्वार पर ब्रह्मा का रूप बनाकर उपस्थित हो गया। हजारों-हजारों व्यक्ति गये परन्तु 'सुलसा' को क्या जाना था? यों क्रमशः दक्षिण, पश्चिम, उत्तर के दरवाजे पर भी 'विष्णु', 'शंकर' तथा अन्तिम दिन भगवान् महावीर का रूप बनाकर भी समवसरण की रचना की। 'सुलसा' तो फिर भी नहीं गई। जब महावीर बने 'अंबड' ने स्वयं 'सुलसा' के घर जाकर पूछा—'सुलसा ! तू मेरे दर्शनार्थ क्यों नहीं आयी? क्या मैं 'महावीर' नहीं हूँ?'

सुलसा ने कहा—'हाँ ! आप भगवान् महावीर नहीं हैं। इसलिए मैं नहीं आयी और न ही आऊँगी।'

'अबंड'—'क्यों, मैं भगवान् महावीर क्यों नहीं हूँ?'

'सुलसा'—'भगवान् महावीर की आँखें क्रोध से कभी लाल नहीं होती हैं। आपकी आँखें लाल हो रही हैं।'

'अबंड' मन-ही-मन झेंपा। अपना मूल रूप प्रकट कर उसने भगवान् की कही हुई सारी बात कही तथा कहा—'तू कसौटी पर खरी उतरी। इसकी मुझे परम प्रसन्नता है।' 'सुलसा' ने भी साधर्मिक भाई को अपने घर आये देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। भगवान् का सुख-संवाद पूछा।

दृढ़धर्मिणी सुलसा ने अन्त में सभी पापों की आलोचना करके समाधिमरण प्राप्त किया और स्वर्ग में गयी। वहाँ से च्यवन करके आने वाली चौबीसी में निर्मम नाम का पन्द्रहवां तीर्थंकर होगी।

—आवश्यकचूर्णि, पत्र सं. १६४

२१२. सुविधिनाथ भगवान्

सारिणी

जन्म स्थान	काकन्दी	दीक्षा तिथि	मार्गशीर्ष शुक्ला ६
पिता	सुग्रीव	केवलज्ञान तिथि	कार्तिक शुक्ला ३
माता	रामा	निर्वाण तिथि	भादवा सुदी ६
जन्म तिथि	मार्गशीर्ष कृष्णा ५	चारित्र पर्याय	२८ पूर्वांग कम
कुमार अवस्था	५० हजार पूर्व		१ लाख
राज्यकाल	५० हजार पूर्व	कुल आयु	२ लाख पूर्व
	२८ पूर्वांग	चिह्न	मकर

काकन्दी नगर के स्वामी 'सुग्रीव' की पटरानी का नाम था 'रामा'। महारानी 'रामा' के उदर में नौवें आनत देवलोक से च्यवन करके प्रभु आये। मार्गशीर्ष बदी ५ को प्रभु का जन्म हुआ। गर्भ में आते ही महारानी 'रामा' ने सभी विधियों में विशेष कुशलता प्राप्त की। इसलिए प्रभु का नाम 'सुविधिनाथ' दिया तथा पुष्प के दोहद से प्रभु के दाँत आये। इसलिए इनका दूसरा नाम 'पुष्पदंत' भी रखा गया। युवावस्था में अनेक राजकन्याओं के साथ इनका विवाह हुआ। राजगद्दी पर आरूढ़ हुए। वर्षीदान देकर एक हजार राजाओं के साथ मार्गशीर्ष बदी ६ को संयम स्वीकार किया। चार मास छद्मस्थ रहे। फिर केवलज्ञान प्राप्त किया, तीर्थ की स्थापना की। आपके संघ में 'वराह' आदि ८८ गणधर थे।

अन्त में एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर अनशन किया। एक महीने का अनशन आया। भादवा सुदी ६ के दिन प्रभु का निर्वाण हुआ। ये वर्तमान चौबीसी के नौवें तीर्थंकर हैं।

प्रभु के निर्वाण के बाद कुछ काल तक तो धर्मशासन चलता रहा, किन्तु बाद में काल-दोष के कारण श्रमणों का अभाव हो गया। लोग श्रावकों से ही

धर्म का स्वरूप जानने लगे और उनकी पूजा करने लगे। इस प्रकार असंयती पूजा शुरू हुई। इसी काल में भूमिदान, लोहदान, तिलदान, स्वर्णदान, गोदान, कन्यादान आदि अनेक प्रकार के दानों का प्रचलन हुआ।

धर्म-परिवार

गणधर	८८	वादलब्धिधारी	६०००
केवली साधु	७५००	वैक्रियलब्धिधारी	१३,०००
केवली साध्वी	१५,०००	साधु	२,००,०००
मन:पर्यवज्ञानी	७५००	साध्वी	३,००,०००
अवधिज्ञानी	८४००	श्रावक	२,२६,०००
पूर्वधर	१५००	श्राविका	४,७१,०००

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

२१३. संगमदेव

श्रमण भगवान् महावीर तब छद्मस्थ अवस्था में थे। वे 'पेढाल' ग्राम के 'पोलास' नामक देवालय में ध्यानस्थ थे। एक रात्रि प्रतिज्ञा ग्रहण करके कायोत्सर्ग कर रहे थे। उसी समय सौधर्मेन्द्र ने अपनी देवसभा में प्रभु की कष्ट-सहिष्णुता की प्रशंसा करते हुए यहाँ तक कह दिया—'आज संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो उन्हें कायोत्सर्ग से विचलित कर दे।'

सभी पार्षद देवों को यह सुनकर हर्ष हुआ। पर सभी समानधर्मी नहीं होते। वहीं बैठा 'संगम' नाम का देव जो इन्द्र का सामानिक देव था, उसको इन्द्र का यह कथन अच्छा नहीं लगा। वह अपनी असहमति मन में समेटे नहीं रख सका और बोला—'ऐसा कोई भी देहधारी नहीं हो सकता जो देव-शक्ति के सामने नतमस्तक न हो जाए।' इतना ही नहीं, उसने इन्द्र की बात को चुनौती देते हुए कहा—'मैं अभी उन्हें विचलित कर सकता हूँ। मेरी शक्ति के सामने वे किसी भी दशा में नहीं टिक सकते।'

इन्द्र ने कहा—'ऐसा हो ही नहीं सकता कि वे किसी भी ताड़ना या तर्जना से विचलित हो जायें।'

संगम—'यदि मेरे पर किसी भी प्रकार की प्रतिकारात्मक कार्यवाही न करें तो मैं अभी उनकी परीक्षा लेकर बता दूँ।'

इन्द्र महाराज असमंज में पड़ गये। यदि स्वीकृति देते हैं तो प्रभु को पीड़ित होना पड़ता है, अस्वीकार करते हैं तो अपनी कही हुई बात असत्य सिद्ध होती है तथा प्रभु की कष्ट-सहिष्णुता के प्रति भी सभी को सन्देह होता है, अतः इन्द्र को स्वीकृति देनी ही पड़ी।

संगम ने स्वर्ग से चलकर 'पेढाल' ग्राम में भगवान् महावीर के पास आकर उनको अनुकूल तथा प्रतिकूल उपसर्ग देने प्रारम्भ किये। वह अपने आपको भगवान् का शिष्य बताता और ग्रामवासियों को कहता—'मेरे गुरु चोर हैं, चोरी करने रात को आयेंगे, अतः मैं सेंध का मौका देख रहा हूँ।' लोग क्रोधित हो भगवान् को पीटने वहाँ आते। कभी वह गाँव से कोई वस्तु चुराकर भगवान् के पास रख देता तथा ग्रामवासियों को कहता—'मैंने भगवान् महावीर के कहने पर वस्तु चुरायी है।' अनजान ग्रामीण भगवान् महावीर पर बरस पड़ते।

भगवान् अपने पूर्वकर्मों का उदय सोचकर समभाव रखते और मार से विचलित न होते। एक रात में तो 'संगम' ने नृशंसता की पराकाष्ठा ही कर दी और बीस मरणान्तक कष्ट दिये उसने—

१. धूल की वर्षा की।

२. वज्रमुखी चीटियाँ बनकर प्रभु के शरीर को काटा।

३. वज्रमुखी डांस बनकर काटा।

४. घीमेल (दीमक) बनकर काटा।

५. बिच्छू बनकर डंक मारे।

६. सर्प बनकर अनेक बार डसा।

७. नेवला बनकर नाखूनें और मुंह से उनके शरीर को विदीर्ण किया।

८. चूहा बनकर काटा।

९. हाथी और हथिनी बनकर भगवान् को सूंड से पकड़कर आकाश में उछाला।

१०. नीचे गिरने पर पैरों और दांतों से रौंदा।

११. पिशाच का रूप बनाकर डराया।

१२. व्याघ्र बनकर छलांग भरते हुए डराया।

१३. माता बनकर कहा—पुत्र! तू किसलिए दुःखी हो रहा है। चल, मैं तुझे सुखी करूंगी।

१४. कानों में तीक्ष्ण मुख वाले पक्षियों के पिंजड़े बांधे, जिससे उन पक्षियों ने भगवान् को घायल कर दिया।

१५. चाण्डाल का रूप धारण कर दुर्वचनों से तर्जना की।

१६. दोनों पैरों के बीच में आग जला दी।

१७. आंधी चलाकर दुर्दान्त कष्ट दिया।

१८. गोल वायु चलाकर उनका शरीर चक्रवत् घुमाया।

१६. लोहे का गोला भगवान् के मस्तक पर गिराया।

२०. रात्रि रहते दिन बना दिया। लोग आकर कहने लगे—'अब क्यों बैठे हो, चलो यहाँ से। देखो, कितना सूरज चढ़ आया है?' परन्तु भगवान् ने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि अभी रात्रि है और ध्यानस्थ रहे।

इस घटना से इन्द्र रुष्ट हुआ। उसने संगम पर वज्र प्रहार किया। संगम छह महीने तक चिल्लाता रहा। स्वर्ग से निकाल देने पर, मेरु पर्वत की चूला पर रहने लगा।

—आवश्यकचूर्णि

२१४. संभवनाथ भगवान्

सारिणी

जन्मस्थान	श्रावस्ती	दीक्षातिथि	मार्गशीर्ष सुदी १५
माता	सेना	केवलज्ञान	कार्तिक बदी ५
पिता	जितारि	चारित्र पर्याय	४ पूर्वांग कम
जन्मतिथि	मार्गशीर्ष सुदी १४		१ लाख पूर्व
कुमार अवस्था	१५ लाख पूर्व	निर्वाण	चैत्र सुदी ५
राज्यकाल	४४ लाख पूर्व	कुल आयु	६० लाख पूर्व
	४ पूर्वांग	चिह्न	अश्व

भगवान् 'संभवनाथ' वर्तमान चौबीसी के तीसरे तीर्थंकर हैं। ये 'सावत्थी' नगरी के महाराज 'जितारि' की महारानी 'सोनादेवी' के उदर में सप्तम ग्रैवयक से च्यवन करके आये। भगवान् का जन्म मार्गशीर्ष सुदी चौदस को हुआ। माता-पिता ने पुत्र का नाम दिया 'संभवनाथ'।

युवावस्था में अनेक राजकन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। पिताश्री की दीक्षा के बाद राज्यपद पर आये। वर्षीदान देकर प्रभु ने मार्गशीर्ष सुदी १५

पिता	सिद्धार्थ राजा	निर्वाण तिथि	४२ वर्ष
जन्म-तिथि	चैत्र शुक्ला १३	कुल आयु	७२ वर्ष
कुमार अवस्था	३० वर्ष	चिह्न	सिंह
दीक्षा तिथि	मार्गशीर्ष कृष्णा १०		

मगध देश के 'क्षत्रियकुंड' नगर के महाराज 'सिद्धार्थ' के यहाँ 'त्रिशला' के उदर से भगवान् महावीर का जन्म हुआ। उस दिन चैत सुदी तेरस थी। भगवान् 'महावीर' जब माता के गर्भ में आये तब से ही राज्य में धन.धान्य, मान.सम्मान सभी तरह से बढ़ता ही गया। इसलिए महाराज ने अपने पुत्र का नाम 'वर्धमान' रखा। चौदह स्वप्नों से सूचित पुत्र का जन्म हुआ। स्वप्न.पाठकों ने पहले ही यह संकेत दे दिया था कि बालक वंशभास्कर, कुलदीपक, चक्रवर्ती या धर्मचक्रवर्ती होगा।

'वर्धमान' जब गर्भ में थे तब एक बार उनके मन में विचार आया कि मेरे हिलने-डुलने से माता को कष्ट होता होगा, यह सोचकर उन्होंने हिलना-डुलना बन्द कर दिया। गर्भ के न हिलने से माता यह सोचकर शोकाकुल हो उठी कि हो न हो मेरा गर्भ नष्ट हो गया है। यों विचारकर विलाप करने लगी। गीत-गान बन्द हो गए। क्रन्दन का कारण जानकर प्रभु हिलने लगे। सारा परिवार पुनः पुलकित हो उठा।

प्रभु ने गर्भ में ही सोचा—जब मेरे न हिलने मात्र से माता यों व्यथित हो उठी, तब मैं साधु बनूंगा तब तो माता को अत्यधिक व्यथा होगी। यों सोचकर संकल्प कर लिया कि 'माता-पिता के जीवित रहते मैं साधु नहीं बनूंगा।'

आमलकी क्रीड़ा में परास्त होकर देव ने इनका नाम वीर दिया। वैसे ही मनुष्य, तिर्यंच और देवों द्वारा किये गये अनेक उपसर्ग सहन करने में वे सक्षम होंगे, इसलिए 'महावीर' कहलाये। युवावस्था में 'यशोमती' नाम की राजकुमारी से विवाह हुआ। एक पुत्री भी हुई जिसका नाम था 'प्रियदर्शना'। माता-पिता के दिवंगत होने के बाद तीस वर्ष की अवस्था में मगसिर बदी दसमी के दिन दो दिन के व्रत में प्रभु ने दीक्षा स्वीकार की। उसी दिन प्रभु को मनःपर्यवज्ञान की प्राप्ति हुई।

अब प्रभु का छद्मस्थ विहार होने लगा। छद्मस्थ विहार कहो या उपसर्गों का संचार कहो, स्थिति वैसी ही बनी। प्रभु के अनुकूल-प्रतिकूल अनेक प्रकार के उपसर्ग आये। कहा यहाँ तक गया है कि तेईस तीर्थंकरों के कर्मों का भार

एक बार चार्तुमास करने के लिए इन्होंने गुरुदेव संभूतिविजय से आज्ञा मांगते हुए अपनी इच्छा प्रकट की—गुरुदेव ! मैं कोषा वेश्या की चित्रशाला में चार्तुमास करके अपनी दृढ़ता की परीक्षा करना चाहता हूँ।

विशिष्ट ज्ञानी आचार्य संभूतिविजय ने क्षण-भर के लिए उपयोग लगाया और उस कठोर साधना में उत्तीर्ण होने योग्य समझकर इन्हें अनुमति प्रदान कर दी।

कोशा में चित्रशाला में रहकर भी ये अडिग रहे। वहाँ के षट्रस व्यंजन और कामोद्दीपक वातावरण में भी इन्होंने सफल साधना की। कोशा ने भी इनसे प्रभावित होकर श्रावकधर्म स्वीकार कर लिया। वह श्राविका बन गई।

जब चार्तुमास व्यतीत करके ये गुरुदेव के पास आये तो उन्होंने इनका स्वागत किया और इनकी साधना को 'अति दुष्कर' बताकर इनकी प्रशंसा की।

द्वादशवर्षीय अकाल में जब अनेक श्रुतधर काल-कवलित हो गये तब अकेले भद्रबाहु ही श्रुतकेवली रह गये थे। वे नेपाल में महाप्राणध्यान साधना कर रहे थे। एकादश अंगों का तो यथातथ्यरूपेण संकलन हो गया; लेकिन बारहवें अंग दृष्टिवाद का संकलन न हो सका। तब संघ ने पाँच सौ साधुओं के साथ इन्हें नेपाल श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के पास भेजा। वहाँ ये उनसे दृष्टिवाद की वाचना लने लगे।

अभी ये बारहवें अंग के १४ पूर्वों में से १० पूर्वों की ही याचना ले पाये थे कि इनकी संसारपक्षीय यक्षा आदि बहनें, जो साध्वी बन चुकी थी, इनके दर्शनों के लिए आयीं। विद्या के चमत्कार-प्रदर्शन के लिए इन्होंने सिंह का रूप बना लिया। जैसे ही भद्रबाहु स्वामी को यह बात ज्ञान हुई, उन्होंने आगे वाचना देना बन्द कर दिया। काफी अनुनय-विनय के बाद उन्होंने शेष ४ पूर्वों की शाब्दिक वाचना दी।

इस प्रकार आचार्य स्थूलभद्र ग्यारह अंग और १० पूर्वों के पाठी हुए। शेष चार पूर्वों का इन्हें शाब्दिक ज्ञान था।

इनका जन्म वीर नि. सं. ११६ में हुआ। ३० वर्ष तक इन्होंने गृहस्थ-जीवन व्यतीत करके वि. नि. सं. १४६ में दीक्षा ली। २४ वर्ष तक साधु पर्याय में रहकर वि. नि. सं. १७० में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। ४५ वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित करके त्रि. नि. सं. २१५ में स्वर्गस्थ हुए।

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८-६

२१६. स्वयंभू वासुदेव

दर्शनीय नगर 'द्वारिका' में महाराज 'रुद्र' का शासन था। उनके 'सुप्रभा' और 'पृथिवी' नाम की दो रानियाँ थीं। महारानी 'सुप्रभा' के चार स्वप्नों से सूचित एक पुत्र हुआ जिसका नाम 'भद्र' रखा गया। यह तीसरा बलभद्र कहलाया। दूसरी महारानी 'पृथिवी' के भी सात स्वप्नों से सूचित एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'स्वयंभू' रखा गया। यह तीसरा वासुदेव था।

'स्वयंभू' का जीव बारहवें स्वर्ग से च्यवन करके आया था। यह देव अपने पूर्वभव में धनमित्र के नाम से 'श्रावस्ती' नगरी का स्वामी था। महाराज 'धनमित्र' की अपने 'समानधर्मा' महाराज 'बलि' के साथ घनिष्ठ मित्रता थी। महाराज 'बलि' अपने प्रिय मित्र 'धनमित्र' के यहाँ आया हुआ था। बात ही बात में दोनों जुए के खेल में लग गये। प्रत्येक बुराई का प्रारंभ लघु रूप में ही हुआ करता है और बाद में वह सुरसा जैसा विराट् रूप बना लिया करती है। 'धनमित्र' के साथ भी यही हुआ। सचिवों, महारानियों के बहुत समझाने पर भी वह अपनी आदत से बाज नहीं आया। फलतः बलि का 'श्रावस्ती' पर अधिकार हो गया। राजा 'धनमित्र' युधिष्ठिर की भाँति भिखारी बनकर वन में चला गया। शुभ संयोग से वहाँ 'धनमित्र' को 'सुदर्शन' मुनि के दर्शन हो गये। वह साधु बनकर साधना में लग गया।

व्यक्ति सब कुछ भूल सकता है, पर अपना पराभव भूलना उसके वश की बात नहीं हुआ करती। पराभव का ज्वालामुखी 'धनमित्र' के मन में भी सुलगता रहा। कषाय के तीव्र आवेग में आकर 'बलि' से बदला लेने का संकल्प कर ही लिया। निदान का प्रायश्चित किये बिना ही मृत्यु को प्राप्त होकर बारहवें स्वर्ग में गया। वहाँ से च्यवकर 'स्वयंभू' वासुदेव के रूप में पैदा हुआ।

उधर राजा बलि भी श्रमणधर्म स्वीकार कर देव बना। वहाँ वह नंदनपुर नगर के महाराज समरकेशरी की पटरानी सुन्दरी का पुत्र हुआ। वह प्रतिवासुदेव 'मेरक' कहलाया।

'मेरक' के अधीन ही 'स्वयंभू' के पिता रुद्र थे। यथासमय 'मेरक' और 'स्वयंभू' में युद्ध छिड़ा। जर (धन), जोरू (स्त्री) और जमीन ही प्रमुख रूप से युद्ध के निमित्त बना करते हैं, पर उपादान कारण तो प्रमुख रूप से अपने पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का संचित वैर-विरोध ही होता है। प्रतिवासुदेव 'मेरक' को मारकर 'स्वयंभू' तीसरा वासुदेव बना। वह तीन खण्ड का

एकमात्र अधिशास्ता बना। समय-समय पर भगवान् 'विमलनाथ' का धर्मोपदेश सुनता रहता। अन्त में अपने साठ लाख वर्ष की आयु का उपभोग कर महारंभी और महापरिग्रही बनकर दिवंगत हुआ।

वासुदेव का वियोग 'बलभद्र' के लिए असह्य होता ही है। कुछ समय शोकग्रस्त रहकर अन्त में बलभद्र 'भद्र' प्रबुद्ध हुए। श्रमण 'मुनिचन्द्र' के पास श्रामणी दीक्षा स्वीकार कर सफल कर्मों की जंजीर को तोड़कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व ४/३

२१७. हरिकेशी मुनि

'गंगा नदी के तट पर एक गांव था। उस गांव में चाण्डालों की एक बस्ती थी। वहाँ एक 'बल' नाम का चाण्डाल रहता था। उसके दो पत्नियाँ थीं— 'गोरी' और 'गांधारी'। गांधारी के एक पुत्र पैदा हुआ। उसका नाम 'हरिकेशी' रखा गया।

'हरिकेशी' रंग-रूप में बहुत ही बदसूरत था। वह रंग में जहाँ कुरूप था वहीं मुंह का भी कटुभाषी था। कुरूपता और कटुभाषिता इन दो दुर्गुणों से वह सभी जगह अपमानित होता था।

एक बार सभी चाण्डालों ने एक जाति-भोज किया। उसमें सभी मिल-जुलकर आमोद-प्रमोद करने लगे, पर तिरस्कृत-बहिष्कृत-सा 'हरिकेशी' एक तरफ बैठा था। संयोग की बात, उस समय वहाँ एक भयंकर सर्प निकला। लोग उसके पीछे दौड़े और उसे मार दिया जो कि सविष था। इतने में ही एक निर्विष 'दुमुंह' सर्प निकला। उस पर किसी ने प्रहार नहीं किया। वह अपने रास्ते सकुशल चला गया।

'हरिकेशी' ने यह सब कुछ देखा। चिन्तन करते हुए इस निष्कर्ष पर *पहुँचा कि जो मुंह से जहर उगलता था, वह मारा गया। इसके विपरीत जो* शान्त व निर्विष था, उसे कोई भी कष्ट नहीं दिया गया, वह सकुशल रहा। मुझे भी कष्ट मेरी कटु प्रकृति के कारण हुआ है।

इस प्रकार चिन्तन करके प्रशान्त जीवन जीने के लिए मुनि बनने के लिए तैयार हो गया। संयमी बनकर तप:साधना करने लगा। विहार करते-करते हरिकेशी मुनि 'वाराणसी नगरी' के 'तिन्दुक' वन में एक यक्ष के मन्दिर में

कायोत्सर्ग में स्थित हो गये। 'हरिकेशी' मुनि की तपस्या और चारित्र की उत्कृष्टता से प्रभावित होकर वह यक्ष मुनि का भक्त बन गया और मुनि की सेवा में रहने लगा।

एकदा मुनि उपवन में ध्यानस्थ थे। उस समय राजपुत्री 'भद्रा' वहाँ आयी। मैले-कुचैले कपड़ों में मुनि को देखकर नाक-भौं सिकोड़कर निन्दा करने लगी। मुनि तो समता में लीन थे, लेकिन यक्ष मुनि की निन्दा न सह सका। उसने कुपित होकर कन्या को निन्दा का फल चखाने के लिए अचेत करके गिरा दिया। उसके मुंह से खून बहने लगा। सखियों से संवाद सुनकर राजा वहाँ आया और मुनि से क्षमायाचना की। राजकन्या के शरीर में प्रविष्ट होकर यक्ष ने कहा—'मैं इसे तभी छोड़ सकता हूँ, जब तुम इसका विवाह मेरे साथ करो।' मरता क्या न करता। राजा ने स्वीकार किया। पुरोहित को बुलाकर राजा ने कन्या मुनि को अर्पण कर दी।

यक्ष 'तिन्दुक' वन में चला गया। कन्या मुनि के पास रह गई। मुनि ने कहा—'मैं तो ब्रह्मचारी हूँ। मेरे पत्नी का क्या काम?' राजा चक्कर में पड़ गया। अब क्या करे? चाण्डाल-पत्नी का राजा करे भी क्या? राज-पुरोहितों, पंडितों से पूछकर राजा इस निर्णय पर आया कि मुनि की परित्यक्ता पत्नी पुरोहितों को दी जा सकती है। राजा ने अपनी उस पुत्री का 'रुद्रदत्त' नाम के पुरोहित से विवाह कर दिया। राजकन्या को पाकर पुरोहित को तो प्रसन्न होना ही था।

'रुद्रदत्त' पुरोहित ने उस कन्या को शुद्ध करने के लिए एक विशाल यज्ञ किया। मंडप में वेद-मन्त्रों का उच्चारण हो रहा था। चारों ओर भोजन सामग्री भरी रखी थी। इतने में 'हरिकेशी' मुनि वहाँ भिक्षार्थ आ गए।

भद्दी शक्ल वाले मुनि को यज्ञ-मण्डप में आये देखकर ब्राह्मण लोग कुपित हो उठे। जल्दी से जल्दी मुनि को वहाँ से चले जाने के लिए कहा। शान्त भाव से मुनि ने कहा—'मैं भिक्षा लेने आया हूँ।'

ब्राह्मण—'तुम्हें यहाँ भिक्षा नहीं मिलेगी। भोजन अधिक होगा तो कूरड़ी पर फेंक देंगे, पर तुझे नहीं देंगे। चल हट यहाँ से, अन्यथा मार-पीटकर भगाना पड़ेगा।'

कुपित होकर ब्राह्मण लोग मुनि को मारने लगे। तब वह यक्ष आया। उसने मुनि के शरीर में प्रविष्ट होकर ब्राह्मणों को बेहोश करके जमीन पर पटक दिया। उन ब्राह्मणों के मुंह से खून बहने लगा। जब पता लगा तब 'रुद्रदत्त'

और 'भद्रा' वहाँ आये। 'हरिकेशी' को देखकर वे वन्दन करने लगे। 'भद्रा' ने सबको समझाया—'तुम लोग ऐसे मुनि की निन्दा क्यों करते हो? मुनि तो बहुत प्रतापी साधक तथा समताशील हैं।' तब ये सब शान्त हुए। अपने किये पर अनुताप करने लगे, तब यक्ष चला गया।

मुनि ने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—'यक्ष ने यह सारा किया है। मेरा हाथ इसमें बिल्कुल नहीं है।'

तब तक सब की आँख खुल चुकी थीं। अत्याग्रह कर मुनि को आहार दिया। मुनि ने अपने एक मास के तप का पारणा किया। सुपात्रदान की महिमा से चारों ओर 'अहोदानं' की ध्वनि आने लगी। 'हरिकेशी' मुनि ने उनको भी उपदेश दिया।

चाण्डाल-कुल में उत्पन्न 'हरिकेशी' मुनि ने अपनी साधना के बल पर केवलज्ञान प्राप्त किया और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

—उत्तराध्ययन १२

२१८. हरिराजा

'कौशाम्बी' नगरी में 'सुमुख' नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन वह क्रीड़ा करने गया। उस समय 'वीरक' माली की पत्नी 'वनमाला' को राजा ने देखा। देखते ही राजा उसे पाने के लिए ललचा उठा। कामान्ध बने राजा ने 'वनमाला' का अपहरण करवा लिया और 'वीरक' को धक्का देकर निकाल दिया।

'वीरक' को यह सारा दृश्य देखकर बहुत दुःख हुआ। अपनी पत्नी के वियोग में पागल बना वह नगर में घूमने लगा। 'हा वनमाला ! हा वनमाला! करता है, परन्तु उसका दुःख मिटाने वाला कौन?

एक दिन की बात, 'वीरक' विलाप करता हुआ महलों के नीचे से गुजरा। ऊपर महलों में 'वनमाला' को लिये महाराज 'सुमुख' बैठा था। ज्योंही उसके कान में 'वनमाला' का नाम पड़ा, 'वीरक' को देखा, सहसा उसकी भावना बदली। सोचा—मैंने उसकी पत्नी का हरण करके किया तो सचमुच अन्याय ही। इतने में अकस्मात् बिजली गिरी। वे दोनों मरकर 'हरिवर्ष क्षेत्र' में युगल रूप में पैदा हुए।

उधर वीरक मरकर सौधर्म देवलोक में 'किल्विषिक' देव हुआ। अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव को देखा तो 'सुमुख' और 'वनमाला' को युगल रूप में पाया। 'वीरक' ने सोचा—इनसे बदला तो अवश्य लेना है। यदि ये यहाँ मरेंगे तो देवरूप मे पैदा होंगे। अत: प्रतिशोध लेने के लिए उस युगल को भरतक्षेत्र के 'चम्पापुर' में ला बैठाया और 'चम्पापुर' का राजा-रानी बना दिया। आकाशवाणी से कहा—'इस युगल को मैं 'हरिवर्ष क्षेत्र' से लाया हूँ। ये सर्वथा राजा बनने योग्य हैं। इन्हें पशु-पक्षियों का मांस खूब खिलाना।'

देव ने अपनी शक्ति से उस युगल के शरीर का प्रमाण भी कम कर दिया। उसका नाम यहाँ 'हरिराजा' रखा। यहाँ से मरकर नरक में गया। इसी 'हरिराजा' के नाम पर 'हरिवंश' चला।

—स्थानांगवृत्ति १०

२१९. हरिसेन चक्रवर्ती

'कंपिलपुर नगर' के स्वामी 'महाहरि' की पटरानी का नाम था 'महिषी'। उसने चौदह स्वप्नों से सूचित एक महासौभाग्यशाली पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम 'हरिसेन' रखा गया।

युवावस्था में 'हरिसेन' राज्य-पद पर अवस्थित हुआ। चक्ररत्न उत्पन्न होने के बाद दिग्विजय की और चक्रवर्ती सम्राट् बना। अन्त में सभी ऋद्धि संपत्ति को ठुकराकर संयम लिया। केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त किया।

ये दसवें चक्रवर्ती थे।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

२२०. हस्तिपाल राजा

पूर्व भारतीय अंचल में अवस्थित 'पावापुरी' नगरी का स्वामी था 'हस्तिपाल'। राजा 'हस्तिपाल' भगवान् महावीर का अनन्य भक्त था। भगवान् महावीर ने 'हस्तिपाल' की विशेष प्रार्थना पर उसकी रथशाला में अपना चार्तुमास किया। यह प्रभु का अन्तिम चातुर्मास सिद्ध हुआ। इसी रथशाला में भगवान् महावीर ने अनशन किया। सोलह प्रकार के अनशन से कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में उसी रथशाला में निर्वाण प्राप्त किया।

—समबायांग ५५

परिशिष्ट

१. बीस विहरमान तीर्थंकर
२. तीर्थंकर तथा अन्य चरित्रों से सम्बन्धित प्रमुख बातें

परिशिष्ट : १

बीस विहरमान तीर्थंकर

(जैन सूत्रों के अनुसार मध्यलोक काफी बड़ा है। इसमें असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं, जो एक-दूसरे को चूड़ी के समान घेरे हुए हैं। इसके केन्द्र में जम्बूद्वीप है और सबसे अन्तिम समुद्र स्वयंभूरमण है। इनमें जम्बूद्वीप थाली के आकार का है और शेष सभी द्वीप-समुद्र चूड़ी के आकार के हैं। द्वीप-समुद्र सब एक-दूसरे से दुगुने आकार वाले हैं और सबके केन्द्र में स्थित जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तार वाला है।

वर्तमान जाना हुआ सम्पूर्ण विश्व तो जम्बूद्वीप के एक भाग भरतक्षेत्र का भी एक भाग मात्र है, जिसे जैनशास्त्रों में आर्यखण्ड कहा गया है।

इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों में से मनुष्यों का निवास केवल ढाई द्वीपों में ही है। ये ढाई द्वीप हैं—जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और अर्द्धपुष्करद्वीप। इन्हीं ढाई द्वीपों में तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं और विचरण करते हैं।

जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र के मध्य भाग में मेरु पर्वत है। पर्वत के पूर्व में सीता और पश्चिम में सीतोदा महानदी है। दोनों नदियों के उत्तर और दक्षिण में आठ-आठ विजय हैं। इस प्रकार जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में आठ-आठ की पंक्ति में बत्तीस विजय हैं। इन दोनों विजयों में जघन्य (कम-से-कम) ४ तीर्थंकर सदा रहते हैं अर्थात् प्रत्येक आठ विजयों की पंक्ति में कम-से-कम एक तीर्थंकर सदा रहते हैं। प्रत्येक विजय में एक तीर्थंकर के हिसाब से उत्कृष्ट (अधिक-से-अधिक) बत्तीस तीर्थंकर रहते हैं।

धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप के चारों विदेहक्षेत्रों में भी ऊपर लिखे अनुसार ही बत्तीस-बत्तीस विजय हैं। प्रत्येक विदेहक्षेत्र में ऊपर लिखे अनुसार जघन्य चार और उत्कृष्ट बत्तीस सदा रहते हैं। कुल विदेहक्षेत्र पाँच हैं और उनमें १६० विजय हैं। इस प्रकार सभी विजयों में जघन्य २० और उत्कृष्ट १६० तीर्थंकर रहते हैं।

इन विदेहक्षेत्रों के अतिरिकत ढाई द्वीपों में पाँच भरतक्षेत्र और पाँच ऐरावतक्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप कालचक्र है। प्रत्येक उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में छह-छह आरे (काले विभाग) होते हैं। जब इन क्षेत्रों में अवसर्पिणी काल का चौथा आरा और उत्सर्पिणी काल का तीसरा आरा होता

है, तब यहाँ भी प्रत्येक भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में एक-एक तीर्थंकर होते हैं। इन दोनों क्षेत्रों में १० तीर्थंकर होते हैं। अतः पाँचों विदेहक्षेत्र के १६० और पाँच-पाँच भरत-ऐरावत क्षेत्रों के १० कुल उत्कृष्ट १७० तीर्थंकर होते हैं। लेकिन काल-परिणमन चक्र के कारण ऐसा नियम नहीं कि इन भरत और ऐरावत क्षेत्रों में तीर्थंकर सदा रहें ही। इसलिए जब तीर्थंकरों की जघन्य संख्या होती हैं तो भरत और ऐरावत क्षेत्रों में कोई तीर्थंकर नहीं रहते। सिर्फ विदेहक्षेत्रों में ही तीर्थंकर रहते हैं, अतः उनकी संख्या बीस ही रह जाती है।

वर्तमान काल में पाँचों विदेहक्षेत्र में बीस तीर्थंकर विद्यमान हैं। उन्हें विहरमान कहते हैं। उन सबकी आयु चौरासी लाख पूर्व की होती है। उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

१. श्री सीमन्धर स्वामी

'सीमन्धर' प्रभु पहले विहरमान तीर्थंकर हैं। इनका जन्म 'जम्बूद्वीप' के पूर्व महाविदेहक्षेत्र में पुष्पकलावती विजय की पुण्डरीकिणी नगरी में हुआ। इनके पिता का नाम महाराज 'श्रेयांस' और माता का नाम 'सत्यकी' है। चौदह स्वप्नों से सूचित उस पुत्ररत्न के ऋषभ का लांछन देखकर सबने उन्हें महापुरुष माना और उनका नाम दिया 'सीमन्धर' अर्थात् संयम की सीमा को धरने वाले।

युवावस्था में आपका देहमान पाँच सौ धनुष हो गया। रुक्मिणी नाम की एक सुन्दर राजकन्या से आपका विवाह हुआ।

तिरासी लाख पूर्व तक संसार में रहकर दीक्षित बने, केवलज्ञान प्राप्त किया।

आपकी सर्वायु चौरासी लाख पूर्व की है। जब भरतक्षेत्र में उत्सर्पिणी काल के तीसरे आरे में पन्द्रहवें तीर्थंकर विचर रहे होंगे, उस समय आपका निर्वाण होगा।

२. श्री युगमन्धर स्वामी

ये दूसरे विहरमान तीर्थंकर हैं। इनका जन्म जम्बूद्वीप की पश्चिम महाविदेह की 'वपु विजय' में 'विजया' नाम की नगरी में हुआ। इनके पिता का नाम सुदृढ़ तथा माता का नाम सुतारा है। गज लांछन वाले युगमन्धर प्रभु का प्रियंगला नाम की राजकन्या से विवाह हुआ।

तिरासी लाख पूर्व की आयु में आपने दीक्षा ली। केवलज्ञान प्राप्त करके जनकल्याण कर रहे हैं। आप इस समय वपु विजय में विराजमान हैं।

३. श्री बाहुस्वामी

ये तीसरे विहरमान तीर्थंकर हैं। इनका जन्म जम्बूद्वीप की पूर्व महाविदेह में वच्छ नाम की विजय में सुसीमापुरी में हुआ। आपके पिता का नाम महाराज सुग्रीव और माता का नाम विजयारानी है। मृग लांछन युक्त इस राजकुमार का नाम बाहु कुमार रखा गया। युवावस्था में मोहना देवी के साथ में विवाह हुआ।

तिरासी लाख पूर्व की आयु में आपने दीक्षा ली। केवलज्ञान प्राप्त किया और वच्छ विजय में विचरकर जन-जन का कल्याण कर रहे हैं।

४. श्री सुबाहु स्वामी

ये चौथे विहरमान तीर्थंकर हैं। जम्बूद्वीप की पश्चिम महाविदेह में वपु नाम की विजय की वीतशोका नाम की नगरी में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम निषढ़ तथा माता का नाम सुनन्दा है। आपके वानर का लांछन था। आपकी पत्नी का नाम 'किंपुरषा' है।

तिरासी लाख पूर्व की आयु में आप भोगों से उपरत होकर संयमी बने। केवलज्ञान प्राप्त किया। वर्तमान में आप वपु विजय में धर्म-प्रचार करते हुए विराजमान हैं।

५. श्री सुजात स्वामी

आप पाँचवें विहरमान तीर्थंकर हैं। धातकीखण्डद्वीप के पूर्व महाविदेह में एक विजय है जिसका नाम है 'पुष्कलावती'। उस 'पुष्कलावती' विजय की पुण्डरीकिणी नगरी में इन पाँचवें विरहमान तीर्थंकर का जन्म हुआ। आपके पिता का नाम देवसेन और माता का नाम देवसेना है। सुजातकुमार का जयसेना नाम की राजकन्या से विवाह हुआ। इनके सूर्य का चिह्न है। स्वर्ण के समान तन की कान्ति है।

तिरासी लाख पूर्व तक घर में रहकर संयमी बने। केवलज्ञान प्राप्त किया। वर्तमान में पुष्कलावती विजय में विचर रहे हैं।

६. श्री स्वयंप्रभ स्वामी

आप छठे विहरमान तीर्थंकर हैं। धातकीखण्ड द्वीप के वपु नामक विजय की विजया नगरी में मित्रसेन राजा के यहाँ स्वयंप्रभ स्वामी का जन्म हुआ। इनकी माता का नाम सुमंगला है। आपके चन्द्र का चिह्न है। पाँच सौ धनुष की ऊँचाई है। वीरसेना नाम की रूपवती कन्या के साथ युवावस्था में आपका विवाह हुआ।

वार्षिक दान देकर आपने तिरासी लाख पूर्व की आयु में संयम स्वीकार किया। केवलज्ञान प्राप्त करके अपनी दिव्य वाणी के द्वारा जन-जन का कल्याण करते हुए आप विचर रहे हैं।

७. ऋषभानन स्वामी

आप सातवें विहरमान तीर्थंकर हैं। धातकीखण्डद्वीप की पूर्व महाविदेह में वपु नामक विजय में सुसीमा नगरी में आपका जन्म हुआ। पिता का नाम कीर्तिराय और माता का नाम वीरेसना है। कंचन वर्णी काया और सिंह का चिह्न देखकर माता-पिता ने पुत्र का नाम रखा ऋषभानन। युवावस्था में जयादेवी के साथ आपका विवाह हुआ।

तिरासी लाख पूर्व की आयु में आप दीक्षित हुए। केवलज्ञान प्राप्त किया और तीर्थंकर बने। वर्तमान में आप वपु विजय में विचरण कर रहे हैं।

८. अनन्तवीर्य स्वामी

आप आठवें विहरमान तीर्थंकर हैं। धातकीखण्ड के पश्चिम महाविदेह में एक नगरी है वीतशोका, जो कि नलिनावती विजय में है। उस नगरी में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम मेघराज और माता का नाम मंगलावती है। गजचिह्नयुक्त पुत्र का नाम अनन्तवीर्य रखा गया। इनकी पत्नी का नाम विजयादेवी है। दीक्षित होकर तथा केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थंकर बने और वर्तमान में नलिनावती विजय में विराजमान हैं।

९. सूरप्रभ स्वामी

धातकीखण्डद्वीप के पर्वूमहाविदेह में पुष्कलावती विजय है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में नौवें विहरमान तीर्थंकर सूरप्रभ स्वामी का जन्म हुआ। आपके पिता

का नाम महाराज विजय तथा माता का नाम महारानी विजया है। आप चन्द्र लांछन युक्त हैं। आपकी पत्नी का नाम 'नन्दसेना' है।

तिरासी लाख पूर्व की आयु में आप संयमी बने। केवलज्ञान उपार्जन करके तीर्थंकर पद प्राप्त किया। वर्तमान में आप पुष्कलावती विजय में विचर रहे हैं।

१०. विशालधर स्वामी

आप दसवें विहरमान तीर्थंकर हैं। धातकीखण्ड में पश्चिम महाविदेह में स्थित वपु विजय की विजयापुरी में आपका जन्म हुआ। आपके पिता नभराय तथा अत्यन्त रूपवती भद्रा महारानी आपकी माता हैं। आपके सूर्य का लांछन है। आपकी पत्नी का नाम विमलादेवी है।

तिरासी लाख पूर्व की आयु में संयम लेकर केवलज्ञान प्राप्त किया और तीर्थंकर पद प्राप्त किया। वर्तमान में आप वयु विजय में विचरण कर रहे हैं।

११. वज्रधर स्वामी

इन ग्यारहवें विहरमान तीर्थंकर का जन्म धातकीखण्डद्वीप की पूर्व महाविदेह में हुआ। इनका परिचय इस प्रकार है—

विजय	वच्छ	पत्नी	विजया
नगरी	सुसीमापुरी	लांछन	शंख
पिता	पद्मरथ	गृहस्थवास	तिरासी लाख पूर्व
माता	सरस्वती		

वर्तमान में आप वच्छ विजय में विचर रहे हैं।

१२. चन्द्रानन स्वामी

विहरमान	बारहवें	माता	पद्मावती
द्वीप	धातकीखण्डद्वीप	लांछन	वृषभ
विजय	नलिनावती	पत्नी	लीलावती
नगरी	वीतशोका	गृहस्थावास	तिरासी लाख पूर्व
पिता	वल्मीक	सर्वायु	चौरासी लाख पूर्व

ये चन्द्रानन प्रभु नलिनावती विजय में विचर रहे हैं।

१३. चन्द्रबाहु स्वामी

चन्द्रबाहु स्वामी तेरहवें विहरमान तीर्थंकर हैं। पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व महाविदेह में पुष्कलावती विजय की पुण्डरीकिणी नगरी में आपने जन्म लिया। पिता का नाम देवानन्द तथा माता का नाम रेणुका है। आपकी चंदनवर्णी काया पर पद्म कमल का चिह्न है। आपकी पत्नी का नाम सुगंधा है।

तिरासी लाख पूर्व की आयु में आपने दीक्षा ली। केवलज्ञान प्राप्त किया और तीर्थ स्थापन किया। वर्तमान में आप पुष्करार्द्ध द्वीप की पुष्कलावती विजय में विचरण कर रहे हैं।

१४. भुजंग स्वामी

विहरमान	चौदहवें	पिता	महाबल
द्वीप	पुष्करार्द्ध द्वीप	माता	सुसीमा
क्षेत्र	पश्चिम महाविदेह	चिह्न	पद्म
विजय	वपु	पत्नी	गन्धसेना
नगरी	विजयापुरी	गृहस्थवास	तिरासी लाख पूर्व

तिरासी लाख पूर्व की आयु तक गृहस्थवास के उपरान्त संयम लेकर आपने केवलज्ञान प्राप्त किया। वर्तमान में पुष्करार्द्ध द्वीप की वपु विजय में विचर रहे हैं।

१५. ईश्वर स्वामी

विहरमान	पन्द्रहवें	माता	यशोज्ज्वला
द्वीप	अर्धपुष्कद्वीप	चिह्न	चन्द्र
क्षेत्र	पूर्वमहाविदेह	पत्नी	चन्द्रावती
विजय	वत्स	गृहस्थवास	तिरासी लाख पूर्व
नगरी	सुसीमापुरी	सर्वायु	चौरासी लाख पूर्व
पिता	राजसेन		

गृहस्थवास के उपरान्त दीक्षा लेकर आपने केवलज्ञान का उपार्जन किया और तीर्थंकर बने। वर्तमान में अर्धपुष्करद्वीप की वत्स विजय में चर रहे हैं।

१६. नेमिप्रभ स्वामी

विहरमान	सोलहवें	पिता	महाराजा वीर
द्वीप	अर्धपुष्करवरद्वीप	माता	महारानी सेनादेवी
क्षेत्र	पश्चिम महाविदेह	चिह्न	सूर्य
विजय	नलिनावती	पत्नी	मोहिनी
नगरी	वीतशोका	गृहस्थवास	तिरासी लाख पूर्व
सर्वायु	चौरासी लाख पूर्व		

वर्तमान में तीर्थंकर पर्याय में आप नलिनावती विजय में विचर रहे हैं।

१७. वीरसेन स्वामी

विहरमान	सत्रहवें	माता	भानुमती
द्वीप	अर्धपुष्करवरद्वीप	चिह्न	वृषभ
क्षेत्र	पूर्व महाविदेह	पत्नी	राजसेना
विजय	पुष्कलावती	गृहस्थवास	तिरासी लाख पूर्व
नगरी	पुण्डकरीकिणी	सर्वायु	चौरासी लाख पूर्व
पिता	भूमिपाल		

१८. महाभद्र स्वामी

विहरमान	अठारहवें	माता	उभया
द्वीप	पुष्करार्द्धद्वीप	चिह्न	हाथी
क्षेत्र	पश्चिम महाविदेह	पत्नी	सूर्यकान्ता
विजय	वपु	गृहस्थवास	तिरासी लाख पूर्व
नगरील	विजया	सर्वायु	चौरासी लाख पूर्व
पिता	देवराय		

वर्तमान में तीर्थंकर पर्याय में आप वपु विजय में विचर रहे हैं।

१६. देवयज्ञ स्वामी

विहरमान	उन्नीसवें	माता	गंगादेवी
द्वीप	पुष्करार्द्धद्वीप	चिह्न	चन्द्र

क्षेत्र	पूर्वमहाविदेह	पत्नी	पद्मावती
विजय	वच्छ	गृहस्थवास	तिरासी लाख पूर्व
नगरी	सुसीमा	सर्वायु	चौरासी लाख पूर्व
पिता	सर्वभूति		

वर्तमान में तीर्थंकर पर्याय में आप वच्छ विजय में विचरण कर रहे हैं।

२०. अजितवीर्य स्वामी

विहरमान	बीसवें	चिह्न	रत्नमाला
द्वीप	अर्धपुष्करद्वीप	पत्नी	स्वस्तिका
क्षेत्र	पश्चिम महाविदेह	वर्ण	कंचन वर्ण
विजय	नलिनावती	काया	पाँच सौ धनुष
नगरी	वीतशोका	गृहस्थवास	तिरासी लाख पूर्व
पिता	राज्यपाल	सर्वायु	चौरासी लाख पूर्व
माता	कर्णिका		

वर्तमान में तीर्थंकर रूप में आप वपु विजय में विचर रहे हैं।

—श्री विहरमान एकविंशति स्थानक (त्रिलोकसार)

परिशिष्ट: २

तीर्थंकरों तथा अन्य चरित्रों से सम्बन्धित प्रमुख बातें

(यहाँ तीर्थंकरों के व अन्य कथाओं में आयी हुई कुछ बातों को विस्तार के साथ दिया जा रहा है, जो चरित्रों में सिर्फ संकेत मात्र थीं।

चौंतीस अतिशय

प्रत्येक तीर्थंकर इन चौंतीस अतिशयों से युक्त होते हैं—

१. केश-रोम श्मश्रु नहीं बढ़ते।

२. शरीर रोग-रहित रहता है।

३. रक्त और मांस दूध के समान श्वेत होते हैं।

४. श्वासोच्छ्वास में कमल जैसी मधुर सुगंध होती है।

५. आहार-नीहार विधि नेत्रों से अगोचर होती हैं।

६. सिर के ऊपर आकाश में तीन छत्र होते हैं।

७. उनके आगे-आगे आकाश में धर्मचक्र चलता है।

८. उनके दोनों ओर आकाश में श्वेत चामर होते हैं।

६. स्फटिक सिंहासन।

१०. इन्द्रध्वज आगे-आगे चलता है।

११. जहाँ-जहाँ तीर्थंकर भगवान् ठहरते हैं, वहाँ-वहाँ अशोक-वृक्ष होता है।

१२. प्रभा-मण्डल।

१३. तीर्थंकरों के आस-पास का भूमि-भाग रम्य होता है।

१४. कांटे औंधे मुंह हो जाते हैं।

१५. ऋतुएं अनुकूल रहती हैं।

१६. सुखकारी पवन चलती है।

१७. भूमि की धूल जल-बिन्दुओं से शान्त रहती है।

१८. पाँच प्रकार के अचित्त फूलों का ढेर लगा रहता है।

१६-२०. अशुभ शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श का अभाव हो जाता है और शुभ शब्द आदि प्रकट होते हैं।

२१. भगवान् की वाणी एक योजन तक समान रूप से सुनाई देती है।

२२. भगवान् का प्रवचन अर्धमागधी भाषा में होता है।

२३. किन्तु समस्त श्रोता अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं।

२४. भगवान् के सान्निध्य में जन्मजात वैरी अपना वैर भूल जाते हैं।

२५. विरोधी भी नम्र हो जाते हैं।

२६. प्रतिवादी निरुत्तर हो जाते हैं।

२७-२८. भगवान् के आस-पास पच्चीस योजन के परिमण्डल में ईति तथा मारी आदि नहीं होती।

२६-३३. जहाँ-जहाँ भगवान् विहार करते हैं वहाँ-वहाँ स्वचक्र, परचक्र, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, रोग आदि के उपद्रव नहीं होते।

३४. भगवान् के चरण-स्पर्श से उस क्षेत्र के पूर्वोत्पन्न सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं।

—समवायांग सूत्र, ३४

आठ कर्म

१. ज्ञानावरण, २. दर्शनावरण, ३. मोहनीय, ४. अन्तराय.

(ये चार घाति कर्म हैं।)

५. वेदनीय, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. आयुष्य।

बारह गुण

केवलज्ञान प्राप्त होने पर अरिहंतों में ये बारह गुण प्रकट होते हैं—

1. अनन्तज्ञान
2. अनन्तदर्शन
3. अनन्तचारित्र (सुख)
4. अनन्तबल
5. अशोक वृक्ष
6. देवकृत पुष्पवृष्टि
7. दिव्यध्वनि
8. चामर
9. स्फटिक सिंहासन
10. तीन छत्र
11. आकाश में देव दुन्दुभि
12. भामण्डल

इनमें प्रथम चार आत्मशक्ति के रूप में प्रकट होते हैं और पाँच से बारह तक भक्तिवश देवताओं द्वारा किये जाते हैं। प्रथम चार को 'अनन्त चतुष्टय' तथा शेष आठ को 'अष्ट महाप्रतिहार्य' भी कहते हैं।

पैंतीस वचनातिशय

तीर्थंकरों की वाणी मेघ के समान गम्भीर होती है और वह कभी निष्फल नहीं जाती। उनकी वाणी इन पैंतीस अतिशयों से सम्पन्न होती है—

१. लक्षण युक्त।
२. उच्च स्वभाव युक्त।
३. ग्राम्य शब्दों से रहित।
४. मेघ जैसी गम्भीर।
५. प्रतिध्वनि युक्त।
६. सरल।
७. राग (स्वर) युक्त।
८. अर्थ की गम्भीरता युक्त।
६. पूर्वापरविरोध-रहित।
१०. शिष्टतासूचक।
११. संदेहरहित।
१२. पर-दोषों को प्रकट नहीं करने वाली।
१३. श्रोताओं के हृदय को आनन्दित करने वाली।
१४. देशकाल के अनुरूप।
१५. विवेच्य विषय का अनुसरण करने वाली।
१६. परस्पर सम्बद्ध और अतिविस्तार से रहित।
१७. पद व वाक्यानुसारिणी।
१८. प्रतिपाद्य विषय के बाहर न जाने वाली।
१६. अमृत-सी मधुर।
२०. मर्मघात से रहित।
२१. धर्म-मोक्षरूप पुरुषार्थ की पुष्टि करने वाली।
२२. अभिधेय अर्थ की गम्भीरता से युक्त।
२३. आत्म-प्रशंसा व पर-निन्दा से मुक्त।
२४. सर्वत्र श्लाघनीय।
२५. कारक, लिंग आदि व्याकरणसम्मत।
२६. श्रोताओं के मन में जिज्ञासा जागृत करने वाली।

२७. अद्भुत अर्थ-रचना में सक्षम।

२८. विलम्ब दोष रहित।

२६. विभ्रम दोष रहित।

३०. विचित्र अर्थ वाली।

३१. सामान्य वचन से कुछ विशेषता वाली।

३२. वस्तु-स्वरूप का साकार वर्णन प्रस्तुत करने में समर्थ।

३३. सत्त्व व ओजयुक्त।

३४. स्व-पर को खिन्न नहीं करने वाली।

३५. विवक्षित अर्थ को सम्यक् व पूर्णरूप से सिद्ध करने वाली।

—समवायांग सूत्र, ३५

चौदह शुभ स्वप्न

तीर्थंकर का जीव जब माता के गर्भ में आता है तो माता चौदह शुभ स्वप्न देखती है—

1. गज
2. वृषभ
3. सिंह
4. लक्ष्मी
5. पुष्पमाला
6. चन्द्र
7. सूर्य
8. ध्वजा
9. कुम्भ कलश
10. पद्म सरोवर
11. क्षीर समुद्र
12. देव विमान
13. रत्न राशि
14. निर्धूम अग्निशिखा।

—कल्पसूत्र, सूत्र ३३

बीस स्थान

तीर्थंकर रूप में जन्म लेने से पहले तीर्थंकरों की आत्मा पूर्वजन्मों में अनेक प्रकार के तप आदि का अनुष्ठान कर तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करता है। वह बीस स्थानों में किसी भी स्थान की उत्कृष्ट आराधना कर तीर्थंकर नाम-कर्म बांधती है। वे बीस स्थान इस प्रकार हैं—

१. अरिहंत की भक्ति।

२. सिद्ध की भक्ति।

३. प्रवचन की भक्ति।
४. गुरु की भक्ति।
५. स्थविर की भक्ति।
६. बहुश्रुत (ज्ञानी) की भक्ति।
७. तपस्वी की भक्ति।
८. ज्ञान में निरंतर उपयोग रखना।
६. सम्यक्त्य की निर्दोष आराधना करना।
१०. उत्कट संयम भावना।
११. गुणवानों का विनय करना।
१२. विधिपूर्वक षडावश्यक करना।
१३. शील एवं व्रतों का निर्दोष पालन।
१४. उत्कट वैराग्य भावना।
१५. तप व त्याग की उत्कृष्टता।
१६. चतुर्विध संघ को समाधि उत्पन्न करना।
१७. अपूर्व ज्ञान का आभास।
१८. वीतराग-वचनों पर दृढ़ श्रद्धा।
१६. सुपात्र-दान।
२०. जिन प्रवचन की प्रभावना।

—ज्ञातासूत्र ८

तीर्थंकरों का काल और बारह चक्रवर्ती

1. भरत चक्रवर्ती	प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय में।
2. सगर चक्रवर्ती	द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के समय में
3. मघवा	पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ और सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के अन्तरकाल में
4. सनत्कुमार	पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ और सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के अन्तराल काल में
5. शान्तिनाथ	स्वयं सोलहवें तीर्थंकर
6. कुंथुनाथ	स्वयं सत्रहवें तीर्थंकर
7. अरनाथ	स्वयं अठारहवें तीर्थंकर

8. सुभूम	अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ व उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ के अन्तराल में
9. पद्म	बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय में
10. हरिषेण	इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के समय में
11. जयसेन	नमिनाथ व अरिष्टनेमि के अन्तराल में
12. ब्रह्मदत्त	अरिष्टनेमि व पार्श्वनाथ के अन्तराल में।

तीर्थंकरों का काल और बलदेव, वासुदेव आदि

बलदेव	*वासुदेव*	*प्रतिवासुदेव*	*समय*
१. अचल	त्रिपृष्ठ	अश्वग्रीव	श्रेयांसनाथ के काल में
२. विजय	द्विपृष्ठ	तारक	वासुपूज्य के काल में
३. सुधर्म	स्वयंभू	मेरक	विमलनाथ के काल में
४. सुप्रभ	पुरुषोत्तम	मधुकैटभ	अनन्तनाथ के काल में
५. सुदर्शन	पुरुषसिंह	निशुम्भ	धर्मनाथ के काल में
६. नन्दी	पुरुषपुण्डीक	बलि	अरनाथ व मल्लिनाथ के अन्तराल में
७. नंदिमित्र	दत्त	प्रहलाद	अरनाथ व मल्लिनाथ के अन्तराल में
८. राम	लक्ष्मण	रावण	मुनिसुव्रत व नमिनाथ के अन्तराल में
६. पद्म बलभद्र	कृष्ण	जरासन्ध	नेमिनाथ के तीर्थकाल में।

सन्दर्भ—ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ	कर्ता	समय
१. अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
२. अन्कृद्दशा सूत्र (आगम)	गधधर सुधर्मा	
३. अभयकुमार चरित	चन्द्रतिलक उपाध्याय	वि.१३वीं सदी
४. आख्यानकमणि कोष	आचार्य देवेन्द्रगणि	वि. १२वीं सदी
५. आचारांग चूर्णि	जिनदास गणि महत्तर	छठी सदी
६. आचारांग सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
७. आवश्यक चूर्णि	जिनदास गणि महत्तर	छठी सदी
८. आवश्यक निर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु	छठी सदी
६. आवश्यक मलयगिरिवृत्ति	आचार्य मलयगिरि	१२वीं सदी
१०. आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति	आचार्य हरिभद्र	छठी सदी
११. उत्तराध्ययन कमलसंयमीया वृत्ति	आचार्य कमलसंयम	
१२. उत्तराध्ययन भावविजया वृत्ति	श्री भावविजयगणि	
१३. उत्तराध्ययन सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
१४. उपदेश प्रासाद	श्री विजयलक्ष्मी सूरि	वि. १८वीं सदी
१५. उपदेशमाला	धर्मदास गणि	
१६. उपासकदशा सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
१७. ऋषिमण्डल प्रकरणवृत्ति (वृत्तिपद्मनंदि गणि)	धर्मघोष सूरि १६वीं सदी	
१८. औपपातिक सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
१६. कल्पसूत्र सुबोधिका	विनयविजय उपाध्याय	१७वीं सदी
२०. ज्ञाता सूत्र वृत्ति	अभयदेव सूरि	१२वीं सदी
२१. ज्ञाता सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
२२. चन्दन मलयगिरिरास	भाणविजय	१८१२
२३. जम्बूद्वीप पन्नत्तीसूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
२४. ठाणांग वृत्ति	अभयदेव सूरि	१२वीं सदी
२५. ठाणं शलाकापुरुष चरित्र	आचार्य हेमचन्द्र	१२वीं सदी

२७. दशवैकालिक निर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु	छठी सदी
२८. धन्नाशालिभद्र चरित्र	भद्रगुप्त	१४वीं सदी
२६. धर्मरत्नप्रकरण (वृत्ति)	आचार्य शान्ति सूरि	
३०. धर्मोपदेशमाला	जयसिंह सूरि	वि. सं. ६१५
३१. नंदी वृत्ति	मलयागिरि	१२वीं सदी
३२. निरयावलिया सूत्र (आगम)	गणधर सुधायी	
३३. निशीथ चूर्णि	जिनभद्र गणि महत्तर	छठी सदी
३४. परिशिष्ट पर्व	आचार्य हेमचन्द्र	१२वीं सदी
३५. पाण्डव पुराण	भट्टारक शुभचन्द्र	१३वीं सदी
३६. पार्श्वनाथ चरित्र	उदयवीर गणि	१६वीं सदी
३७. पुहवीचन्द्र चरित्र (पृथ्वीचंद्र चरित)	सत्याचार्य	वि. १६वीं सदी
३८. भगवती सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
३६. भगवती सूत्र वृत्ति	अभयदेव सूरि	१२वीं सदी
४०. भत्तपइन्ना प्रकीर्णक	प्रकीर्णक आगम	
४१. भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति	शुभशील गणि	
४२. रायप्रसेणी सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
४३. वर्धमान देशना	शुभवर्धन गणि	
४४. वसुदेव हिंडी	संघदास	५वीं सदी
४५. विपाक सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
४६. विविध तीर्थ कल्प	जिनप्रभु सूरि	१३वीं सदी
४७. विशेषावश्यक भाष्य,	जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण	छठी सदी
४८. व्यवहार सूत्र वृत्ति	मलयगिरि	१२वीं सदी
४६. समत्त सत्तति	आचार्य हरिभद्र सूरि	छठी सदी
५०. समवायांग सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
५१. विरिसिरवाल कहा	रत्नशेखर सूरि	१३वीं सदी
५२. सूत्रकृतांग सूत्र (आगम)	गणधर सुधर्मा	
५३. हरिवंश पुराण	जिनसेनाचार्य	८वीं सदी

जैन
कथा-कोष
मुनि छत्रमल्ल